प्रबन्ध-प्रभाकर

उच्चकोटि के साहित्यिक निबन्ध

लेखक
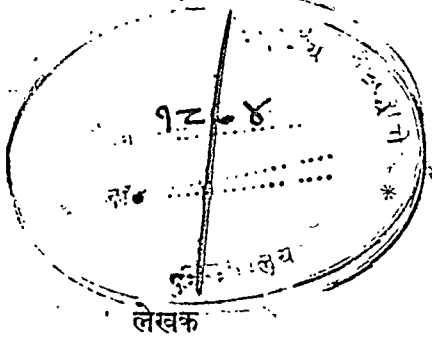
ी गुलाबराय एम. ए., एल-एल. बी.

प्रकाशक

हिन्दी भवन

अनारकली, लाहौर

मूल्य १।।।)

प्रकाशक
श्री धर्मचन्द्र विशारद
हिन्दी भवन
लाहौर

पहला संस्करण १९३४
दूसरा संस्करण १९३६
तीसरा संस्करण १९४१

मुद्रक
श्री देवचन्द्र विश
ऐच. बी. प्रेस
लाहौर

प्रबन्ध प्रभाकर

लेखन-कला के सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य बातें

आवश्यकता और महत्त्व

साधारण बोलचाल की भाषा में शिक्षित मनुष्य को पढ़ा-लिखा कहते हैं। हम लोग प्रायः शिक्षित तो सभी हैं किन्तु इसमें कुछ संदेह है कि हम अपने शिक्षा-काल में पढ़ने के साथ कुछ लिखना भी सीखते हैं या नहीं। हम में से बहुत थोड़े ऐसे हैं जो वास्तव 'पढ़े-लिखे' कहे जा सकते हैं।

हमारा अधिकांश पढ़ना हमको लिखना नहीं सिखाता। इसका कारण यह है कि हम प्रायः परीक्षा पास करने के लिए पढ़ते हैं, योग्यता प्राप्त करने के लिए नहीं। कई कारणों से हमारा शिक्षा का ध्येय कुछ गिर-सा गया है, नहीं तो परीक्षा पास करना और योग्यता प्राप्त करना दो प्रतिकूल बातें नहीं हैं। दोनों एक साथ संभव हैं, केवल अध्ययन की प्रणाली में कुछ परिवर्तन की आवश्यकता है। यदि अध्ययन रुचि के साथ किया जाय, उसमें पूर्वापर सम्बन्ध स्थापित किया जाय और उसे मनन का विषय बनाया जाय तो वह अवश्य उत्पादक बन सकता है। उचित प्रकार के अध्ययन से अधीत विषय अध्ययनकर्ता के मस्तिष्क में न रह कर बाहर आने को उत्सुक रहेगा। वह ज्ञान अपनी अभिव्यक्ति चाहेगा।

हमारे वे सभी विचार और भाव, जो कुछ शक्ति रखते हैं प्रकाश में आना चाहते हैं। उनका प्रकाशन यद्यपि अधिकतर स्वाभाविक होता है तथापि उसमें शिक्षा और कला की थोड़ी आवश्यकता है। विचारों का सरल और सुन्दर भाषा में प्रकाशन ही उनको स्पष्टता देता है। बिना लिखे हुए विचार नीहार की भाँति अस्पष्ट और धूमिल रहते हैं। लेखन-कला में दीक्षा प्राप्त कर मनुष्य व्यवहार-कुशल बन जाता है और वह आनन्दमय जीवन व्यतीत कर सकता है।

अध्ययन

लिखने की शक्ति प्राप्त करने से पूर्व अध्ययन, अनुभव और अभ्यास की आवश्यकता है। अध्ययन को सफल बनाने के लिए उसमें थोड़ी सावधानी अपेक्षित है। हमारा अध्ययन हमारे मानसिक संस्थान का अंग तभी बन सकता है जब कि अधीत विषय का अपने पूर्वार्जित ज्ञान से सम्बन्ध स्थापित कर लिया जाय। इसके लिए मनन आवश्यक है। हमको भेद और समानताएँ दोनों ही को ध्यान में रखना वाञ्छनीय है। विचार और भाषा दोनों की ही नवीनताओं और विशेषताओं को नोट कर उन्हें अपने मानस-पटल पर अंकित करना श्रेयस्कर होगा, नये प्रयोगों को ध्यान में रखकर उनका अभ्यास करने के लिए अवसर निकाल कर उन्हें व्यवहार में लाना होगा, शब्दों पर अधिकार प्राप्त करने के अर्थ उनकी व्युत्पत्ति और कोश का अर्थ जानना लाभदायक है। हम को अपना अध्ययन इस लक्ष्य से करना चाहिए कि हम उसको किस प्रकार उपयोगी बना सकते हैं। जिस लेख को हम पढ़ें उसको केवल मनोविनोद के

लिए नहीं वरन् उससे कुछ लाभ उठाने के लिए पढ़ें। हम किसी लेख से तभी लाभ उठा सकते हैं जब कि हम उसे अपने मनन का विषय बना लें। हम को यह देखना आवश्यक है कि अमुक कथा, लेख, उपन्यास वा कविता किस उद्देश्य से लिखी गई है ? और जिस उद्देश्य से वह लिखी गई है उसको पूरा करती है या नहीं ? यदि नहीं तो उसमें क्या कमी है और हम उस कमी को पूरा कर सकते हैं अथवा नहीं ? हमको केवल इतने से ही सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए वरन् उसी उद्देश्य को लेकर एक नवीन कृति रचकर तैयार करनी चाहिए। ऐसा करने से हमारा अध्ययन हमारी स्फूर्ति और प्रतिभा को बढ़ाने में सहायक होगा।

निरीक्षण

अध्ययन के साथ-साथ निरीक्षण भी आवश्यक है। अध्ययन दूसरों की आँखों से देखना है और निरीक्षण स्वयं अपनी आँखों से। अपनी आँखों-देखी बात सुनी हुई बात से अधिक महत्त्व रखती है। संसार में हम को आँख खोल कर चलना चाहिए। अपने ज्ञान की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि जो कोई घटना हम देखें उसका अपने पुस्तक-स्थ ज्ञान से मिलान करें और विचार और विवेचना के पश्चात् यदि आवश्यक समझें तो अपने ज्ञान में संशोधन कर लें। लेखक को अपनी कल्पना से पूरा-पूरा काम लेना चाहिए। निरीक्षित वस्तु को कल्पना में उलट-फेर कर इस दृष्टि से देखना चाहिए कि उसके साहित्यिक वर्णन में कितनी काट-छाँट वा निमक-मिर्च की आवश्यकता होगी। हम जिसके संपर्क में आयें उसकी विशेषताएँ, उसका उठना-बैठना, उसका रहन-सहन उसकी प्रसन्नता और

नाराज़ी की बातों को नोट करना अपना कर्तव्य समझें। ऐसा करना हमें व्यवहारकुशल बना देगा। हमें सांसारिक ज्ञान से अनभिज्ञ न रहना चाहिए। पूर्णतया शिक्षित होने के लिए दूसरे देशों के रीति-रिवाज़ जानना भी स्पृहणीय है। साथ ही यह भी जानना आवश्यक है कि कौन चीज़ कहाँ और किस समय उत्पन्न होती है। ऐसा न करने से हमारी रचनाओं में देश और काल-सम्बन्धी विरोध के दूषण रह जाना संभव है। जानवरों की विशेषताएँ जानना भी एक उपादेय गुण है। जिन पौधों और जिन वृक्षों का साहित्य में वर्णन आता है, यदि उनका निजी परिचय प्राप्त कर लिया जाय तो बहुत अच्छा है।

अभ्यास

तीसरी बात जो लेखक बनने के लिए आवश्यक है वह अभ्यास है। बिना पानी में पैर दिये तैरना नहीं आता। लेख ठीक कराने का चाहे अवसर मिले या न मिले लेख लिखना उपयोगी है। यदि स्वयं अपने विचार न हों तो किसी दूसरे के विचारों को अपनी भाषा में लिखने का अभ्यास डाला जाय। विद्यार्थीगण इस पुस्तक से तभी लाभ उठा सकेंगे जब कि इसके लेखों को स्वयं अपनी भाषा में लिखें। इस लेखमाला में कुछ लेख ऐसे भी हैं जिनके वर्ण्य विषयों के भिन्न-भिन्न अंगों पर स्वतन्त्र लेख लिखे जा सकते हैं। विद्यार्थियों को चाहिए कि लेख लिख कर उन्हें स्वयं दो तीन वार पढ़ें, उनमें स्वयं ही आवश्यक परिवर्त्तन और संशोधन करें और स्वयं ही उनकी शुद्ध लिपि तैयार करें। यदि किसी को दिखाकर सम्मति प्राप्त करने या संशोधन कराने का अवसर मिले तो बहुत ही अच्छा है और

यदि नहीं तो भी अभ्यास के लिए लिखना अवश्य चाहिए, ऐसा न हो कि निबन्ध-लेखन का पहला अभ्यास परीक्षा-भवन में ही किया जाय। जो संशोधन किया जाय उसको याद रखना उचित है, एक-एक प्रकार के कई लेख लिखे जाना चाहिए। पहले छोटे लेख लिखे जायँ फिर क्रमशः बड़े लिखे जायँ। जो कुछ लिखा जाय उसमें पूर्ण सावधानी रखनी चाहिए, असावधानी से लेखन-शैली बिगड़ जाती है।

प्रबन्धों के प्रकार

यद्यपि विषयों की अनन्तता के कारण प्रबन्धों के कई प्रकार हैं तथापि उनमें तीन भेद मुख्य हैं। (१) विवरणात्मक (Narrative), (२) वर्णनात्मक (Descriptive), (३) विवेचनात्मक (Reflective)।

विवरणात्मक

विवरणात्मक लेखों में किसी काल में बीती हुई बात का विवरण रहता है। कथाओं का कहना, घटनाओं, लड़ाइयों, यात्राओं, सम्मेलनों, राजाओं के शासन-काल आदि का विवरण देना ऐसे लेखों का मुख्य विषय रहता है।

वर्णनात्मक

वर्णनात्मक लेखों में नगरों, ग्रामों, नदियों, पर्वतों, प्राकृतिक दृश्यों, कारखानों, योजनाओं, वस्तुओं की निर्माण-विधि आदि का स्पष्ट और ब्यौरेवार वर्णन रहता है। विवरणात्मक लेखों में कालक्रम की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। वर्णनात्मक में वस्तु को बीती हुई न बताकर वरन् सामने होती हुई सी वर्णन की जाती है।

विवेचनात्मक लेखों में विवादास्पद विषयों का पक्ष-प्रतिपक्ष-

विवेचनात्मक प्रतिपादन, किसी वस्तु वा प्रथा के गुण-दोष-विवेचन, किसी पुस्तक वा कवि की समालोचनाएँ, तथा सिद्धान्तों का प्रतिपादन आदि रहता है। इसमें बुद्धि की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। वर्णनात्मक और विवरणात्मक लेखों में कल्पना के सामने चित्र उपस्थित किया जाता है। कुछ लेख भावात्मक भी होते हैं; उनमें बुद्धि की अपेक्षा हृदय से अधिक काम लिया जाता है। इस प्रकार के लेख प्रायः गद्य-काव्य के अन्तर्गत रक्खे जाते हैं।

विचार-संग्रह और क्रम बद्ध करना लेख लिखने से पूर्व हमको अपने विषय के सम्बन्ध में पूरा विचार कर लेना चाहिए। जो विचार आवें उनको लिखकर उनमें क्रम स्थापित कर लेना आवश्यक है। जो विचार एक साथ रक्खे जा सकते हैं उनको एक संदर्भ वा परिच्छेद (Paragraph) के लिए रख लेना वांछनीय है। उन संदर्भों में एक स्वाभाविक आनुपूर्वी स्थापित कर लेना चाहिए। लेख की थोड़ी सी भूमिका देकर उसके पक्ष वा विपक्ष में जो कुछ विचारणीय बातें हों वे अलग अलग आनी चाहिएँ। तदनन्तर उसके व्यावहारिक पहलू पर (यदि उसका व्यावहारिक पहलू हो तो) विचार कर लेना चाहिए। अन्त में उसके फल-स्वरूप दो चार सुन्दर वाक्य लिखना चाहिए।

लेख का आरंभ आकर्षक रूप से करना चाहिए, जिससे पाठक की उत्सुकता बढ़ जाय। कहीं पर एक साधारण सिद्धान्त बतला-कर लेख आरंभ किया जाता है, कहीं पर समस्या उपस्थित कर

दी जाती है और कहीं पर परिभाषा से शुरू कर देते हैं। इसका कोई नियम नहीं स्थापित किया जा सकता। विषय और अवसर के अनुकूल अपनी स्फूर्ति से काम लेना चहिए। वर्णानात्मक वा विवरणात्मक लेखों में स्वाभाविक क्रम रखना चाहिए। यात्रा में घर से चलने से पूर्व यथेष्ठ स्थान पर पहुँचने का वर्णन देना असंगत होगा। कहानी को भी क्रम से ही कहना पड़ता है। उसमें काल का क्रम रहता है। इमारत आदि के वर्णन में देश का क्रम रहता है। पहले अड़ोस-पड़ोस की स्थिति का, फिर दरवाजे का, उसके पीछे भीतर की कारीगरी इत्यादि का वर्णन होना चाहिए।

संगति और निर्वाह

विचारों में संगति रखना परम आवश्यक है। यह संगति तब ही आ सकती है जब कि विचार स्पष्ट हों। यदि विचार स्पष्ट नहीं हैं तो उतने ही विचार रक्खे जावें जितने कि स्पष्ट हों। विचारों की अस्पष्टता भाषा में भी अस्पष्टता उत्पन्न कर देती है। जो कुछ लिखा जाय उसका पूरा निर्वाह किया जावे। विषय के प्रतिपादन में किसी प्रकार की असावधानी न की जावे। एक अधिकरण में एक विचार से सम्बन्ध रखने वाले विचार रक्खे जावें। एक अधिकरण में एक ही विचार प्रधान हो। जहाँ तक हो विचार इधर उधर न घूमें। ऐसा न हो कि कभी एक विचार आ जावे और कभी दूसरा। एक पूरा न होने पाये और दूसरा विचार बीच में स्थान पा जाय। विचारों के सम्बन्ध में जहाँ तक हो संगति रखनी चाहिए। जिस दृष्टिकोण से हम वस्तु को देखें उसी दृष्टिकोण की बातें लिखें। यदि दृष्टिकोण दूसरा बनावें तो उसे स्पष्टतया बतला देवें। अपने

विषय का प्रतिपादन करते हुए जोश में न आना चाहिए। बहुत भावोत्तेजक शब्द लिखना शिक्षा की कमी का द्योतक होता है। 'हा! अहो', आदि शब्दों का प्रयोग करना उचित नहीं है। बिना भावोत्तेजक शब्दों के व्यवहार किये ही भाषा ज़ोरदार बनाई जा सकती है। गांभीर्य रखते हुए कहीं-कहीं हास्य की मात्रा आ जाना सोने में सुगन्ध का काम करता है। उससे पढ़ने वाले पर अच्छा प्रभाव पड़ता है और वह ऊबने नहीं पाता।

भाषा और शैली

भाषा और शैली की उत्तमता उतनी ही आवश्यक है जितनी कि विचार की। उत्तम भाषा और शैली से लेखक के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है और पाठकों के हृदय की ग्राहकता बढ़ जाती है। अशुद्ध और अस्पष्ट भाषा सुन्दर से सुन्दर विचारों की आकर्षकता को नष्ट कर देती है और वे विचार मरुभूमि में पड़े हुए बीजों की भाँति अनुत्पादक रह जाते हैं। भाषा में सबसे पहले इस बात की ज़रूरत है कि वह सर्व-साधारण के समझने के योग्य हो। यद्यपि क्लिष्ट विषय के लिए क्लिष्ट और पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है तथापि साधारण विचार को अलंकारों के आवरण में छिपा देना उचित नहीं। विदेशी भाषाओं के शब्दों के प्रयोग के सम्बन्ध में कुछ लोगों का तो यह कथन है कि दूसरी भाषा का एक भी शब्द लाने की आवश्यकता नहीं है। थर्मामीटर को तापमापक, फोटोग्राफी को छायाचित्रण, आदि संस्कृत शब्दों से पुकारा जाय। इसके विपरीत कुछ लोग बेधड़क अंगरेज़ी, फारसी, अरबी आदि भाषाओं के शब्दों के प्रयोग के पक्ष में हैं। अन्य

भाषाओं के जो शब्द प्रचार में आगए हैं उनके स्थान में अप्रचलित शब्द रखना अधिक युक्तिसंगत नहीं है। यद्यपि अन्य भाषाओं के शब्दों की अपेक्षा संस्कृत के शब्द अधिक ग्राह्य समझे जाते हैं, तथापि केवल पांडित्य-प्रदर्शन के लिए संस्कृत शब्दों का प्रयोग उचित नहीं। भाषा सुबोध और स्पष्ट होनी चाहिए। शब्दों के चुनाव में बहुत सावधानी की आवश्यकता है। सब पर्यायवाची शब्द एक ही अर्थ नहीं रखते। जहाँ तक हो बहुत समास वाले या या कर्णकटु शब्दों का व्यवहार न होना चाहिए। संस्कृत के जो शब्द रक्खे जावें शुद्धरूप में रक्खे जावें, विकृतरूप में न रक्खे जावें। फारसी अंगरेज़ी के भी तत्सम शब्द रक्खे जायँ, किन्तु उन में विभक्तियाँ आदि हिन्दी की ही लगाना उपयुक्त होगा।

यह लेख-माला विद्यार्थियों के मानसिक विस्तार के लिए लिखी गई है। इसमें उनको बहुत से लेखों के लिए सामग्री मिलेगी—किन्तु इनको पढ़ कर ही उनका कार्य खतम नहीं हो जाता। जिन विचारों को इन लेखों द्वारा उत्तेजना मिले उनकी अन्य ग्रन्थों से पुष्टि करना परम आवश्यक है। बा० श्यामसुन्दर दास का हिन्दी भाषा और साहित्य तथा साहित्यालोचन, पं० रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी-साहित्य का इतिहास तथा तुलसीदास, प्रो० सूर्यकान्त शास्त्री का हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास, मिश्रबंधुओं का हिन्दी नवरत्न, प्रोफेसर रामकुमार वर्मा का हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास और साहित्य-समालोचना, पं० पद्मसिंह शर्मा लिखित बिहारी-सतसई की भूमिका और हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी, पं० कृष्णबिहारी मिश्र का देव और बिहारी, 'रसाल'

का साहित्य परिचय, बख्शी जी का हिन्दी साहित्य विमर्श और साहित्य शिक्षा, आचार्य द्विवेदी जी का रसज्ञरंजन, पं० किशोरी दास वाजपेयी की साहित्य-मीमांसा, प्रोफेसर सत्येन्द्र की साहित्य की झाँकी और गुप्त जी की कला, श्री धीरेन्द्र वर्मा का हिन्दी भाषा का इतिहास और हिन्दी भाषा और लिपि, पं० कृष्णशंकर शुक्ल का आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, लेखक का नवरस और प्रसाद जी की कला इत्यादि ग्रन्थ विद्यार्थियों का साहित्यिक ज्ञान परिपक्व करने में बड़े सहायक होंगे। वैज्ञानिक विषयों पर निबन्ध लिखने में लेखक की विज्ञान वार्ता पढ़ना उपयोगी होगा। लेखक ने भी इन ग्रन्थों में से बहुत से ग्रन्थों से लाभ उठाया है। उनके सुयोग्य लेखकों के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करता हुआ लेखक इस लेखमाला को विद्यार्थियों के हाथ में सौंपता है। आशा है कि वे इससे अपने मानसिक विकास में सहायता लेकर यथोचित लाभ उठाएँगे और उसके परिश्रम को सफल करेंगे।

---

१. काव्य का क्या लक्षण है और उसका मानव-जीवन से क्या सम्बन्ध है ?

यद्यपि काव्य की यथार्थ परिभाषा देना कठिन है, क्योंकि इसके सम्बन्ध में आचार्यों में बहुत मतभेद है, तथापि इतनी बात अवश्य कही जा सकती है कि उसका उदय मानव-हृदय में होता है और वह मानव-हृदय को प्रभावित कर आनन्द का उत्पादक होता है। 'काव्य क्या है' इसके उत्तर में केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि मनुष्य से भावात्मक सम्बन्ध रखने वाले अनुभवों की आनन्द-प्रदायिनी सुन्दर-शब्द-मयी अभिव्यक्ति को काव्य कहते हैं। काव्य में भाव का प्राधान्य रहता है। थोड़ी सामग्री में बहुत से भावों को व्यंजित कर देना काव्य का बाहरी लक्षण है।

कविता का मानव-जीवन से विशेष संबन्ध है। उसका दृष्टि-कोण ही मानवीय है। काव्य उन्हीं अनुभवों को लेता है जिनका कि मनुष्य से भावात्मक सम्बन्ध है। यह बात काव्य और विज्ञान का दृष्टिकोण-भेद बतला देने से और भी स्पष्ट हो जायगी। विज्ञान जिस वस्तु को देखता है उसको वैसा ही कहता है, उसके लिए सुन्दर और असुन्दर कुछ नहीं। जल ओषजन (Oxygen) और

उद्जन (Hydrogen) से मिल कर बनता है; इसमें न उसको हर्ष है, न विषाद। फूल के लिए वह बता देगा कि उसमें इतनी पंखुड़ियाँ हैं, इतने तन्तु हैं, वह कार्बन (Carbon) और उद्जन (Hydrogen) आदि से बना है। किन्तु कवि फूल को अपने हृदय से देखेगा। फूल के देखने से कवि के हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है वह उसको बतलाएगा। कवि फूल में सौन्दर्य देखता है। फूल उसके लिए हँसता और खिलखिलाता है। वह प्रकृति-देवी की प्रसन्नता का सूचक है। वह उसके प्रियतम भगवान् के प्रेम-संदेश का वाहक है। कवि के लिए शिथिल पत्रांक में सोती हुई सुहागभरी जुही की कली मलयानिल से प्रेमालाप करती है। कवि सारी सृष्टि को मानवीय रूप में देखता है और उसमें मानवीय भावों को आरोपित कर अपनी सहानुभूति के क्षेत्र को विस्तृत कर लेता है। वैज्ञानिक वस्तु की सचाई को बतलाता है। कवि अपने हृदय पर पड़े हुए प्रभाव को सच्चे रूप में बतलाता है। वैज्ञानिक के लिए मनुष्य भी भौतिक तत्वों का संघात है और भौतिक नियमों से शासित होता है, किंतु कवि के लिए मनुष्य ईश्वर का अंश है; उसमें जीते-जागते भाव हैं जो उसके हृदय को प्रभावित करते हैं, मनुष्य उसके लिए एक कर्त्तव्य और लक्ष्य रखने वाला जीव है। कवि की दृष्टि से मनुष्य स्वतन्त्र है; उसकी आत्मा भौतिक नियमों के बंधन से परे है। उसके भाव सरिता की स्वच्छन्द गति से बहते हैं। मनुष्य स्वयं सुन्दर है और वह सौन्दर्य का उत्पादक भी है।

इस विवेचना से प्रकट हो जाता है कि वैज्ञानिक के लिए मनुष्य भी प्रकृति का एक अंग है, उसमें कोई विशेषता नहीं, और कवि

के लिए प्रकृति भी मानवीय रूप धारण कर लेती है। यद्यपि वैज्ञानिक भी प्रकृति को मनुष्य जाति की अनुचरी बना कर उसका उपयोग मानवीय हित के लिए करता है, तथापि उसकी दृष्टि में प्रकृति का प्राधान्य है। वह मनुष्य को भी प्राकृतिक नियमों के बन्धन में रखता है और उसको प्राकृतिक दृष्टिकोण से देखता है। कवि इसके विपरीत प्रकृति को भी मानवीय दृष्टिकोण से देखता है। इसलिए काव्य का विशेष रूप से मानव-जीवन से संबन्ध है।

यह तो रही साधारण सिद्धान्त और दृष्टिकोण की बात। काव्य का मनुष्य जीवन से कई अन्य प्रकारों से भी सम्बन्ध है। सब से पहले तो काव्य आनन्द देता है और आनन्द मनुष्य का मुख्य ध्येय है। काव्य के आनन्द को ब्रह्मानन्द-सहोदर अर्थात् ब्रह्मानन्द का भाई बतलाया गया है। मनुष्य जब अपने जीवन में चारों ओर संघर्षण पाता है तब काव्य ही उसके जीवन में साम्य उपस्थित कर उसके जीवन-भार को हलका करता है। काव्य के द्वारा मनुष्य जाति की सहानुभूति बढ़ती है। मनुष्य अपने संकुचित घेरे से बाहर आ जाता है। वह भावों की समता के कारण सारी मानव-जाति को एक परिवार के रूप में देखने लगता है। सच्चे साहित्यिक के लिए कोई जाति-भेद नहीं रहता। जो भाव वह कालिदास में देखता है वही वह शेक्सपीयर में पाता है। वह टैंपेस्ट की एकान्त-वासिनी नायिका मिरेंडा में तपोवन-विहारिणी शकुन्तला का रूप देखता है। यदि जातियों के भेद-भाव दूर होने की संभावना है तो साहित्य का उसमें बहुत बड़ा भाग होगा। कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर की विश्वभारती इसी लक्ष्य को सामने

रख कर काम कर रही है । काव्य का अनुशीलन मानव-हृदय को विस्तृत बना देता है । मनुष्य सारे संसार में और सब काल में मानव-हृदय की समस्याओं की एकता पाता है। काव्य के वर्णन देश-काल विशेष से घिरे हुए नहीं होते । शकुन्तला की विदा का दृश्य प्रत्येक गृहस्थ की कन्या के पतिगृह-गमन का दृश्य बन जाता है। मालती और माधव का प्रेम मालती और माधव का प्रेम नहीं रहता वरन् उस स्थिति के प्रेमी और प्रेमिका मात्र का प्रेम बन जाता है।

सहानुभूति के अतिरिक्त काव्य के अनुशीलन से व्यवहार-कुशलता भी बढ़ जाती है । काव्यों में मानवजाति का अनुभव घनीभूत होकर चिरस्थायी बन जाता है। हम दूसरों की असफलता और सफलता से लाभ उठा सकते हैं। काव्य मानव-जाति की सामूहिक स्मृति है । जो स्थान व्यक्ति के जीवन में स्मृति का है वही स्थान समाज के जीवन में काव्य का है। प्राचीनों की सत्कृ-तियों का स्मरण दिला कर काव्य हमारे हृदय में उत्साह और कर्मण्यता का संचार कर देता है। काव्य हम में आत्मगौरव और स्वाभिमान की उत्पत्ति करता है। काव्य के द्वारा हमें भिन्न-भिन्न देशों और भिन्न-भिन्न काल के व्यवहारों का ज्ञान होता है; उससे हम को परस्पर व्यवहार में सहायता मिलती है। जो अनुभव मनुष्य अपने व्यक्तिगत जीवन में नहीं प्राप्त कर सकता वह अनुभव उसको नाटक और उपन्यासों से मिल जाता है । वह मानवजाति के मनो-विज्ञान को समझने लग जाता है और उसमें बहुत कुछ व्यवहार-कुशलता प्राप्त कर लेता है।

काव्य से हमारे भाव और मनोवेगों की शुद्धि, पुष्टि और परिमार्जन होता है। यदि हमारी भावना शक्ति को सामग्री न मिले तो उसका ह्रास हो जाता है। प्रत्येक इन्द्रिय और शक्ति को व्यायाम की आवश्यकता है। हमारी भावना-शक्ति को काव्य में एक प्रकार का सुलभ व्यायाम मिल जाता है। बिना वास्तविक दुःखों के अनुभव किए दुःख से जो हमारे मन का पवित्रीकरण होता है वह सुलभतया प्राप्त हो जाता है। हमारे व्यक्तिगत अनुभव में सब प्रकार के भावों की पुष्टि का अवसर नहीं होता, किन्तु काव्य में सब प्रकार के भावों की पुष्टि हो सकती है। इसके अतिरिक्त काव्य और रीति ग्रन्थों के पढ़ने से भावों के बाह्य-व्यंजकों का भी ज्ञान हो जाता है। हम जानते हैं कि गुस्से में नथुने फूल जाते हैं, मुँह लाल हो जाता है, हाथ काँपने लगते हैं। हम इन चिह्नों को देख लेने में मानव-हृदय के आन्तरिक भावों के समझने की पटुता प्राप्त कर लेते हैं और क्रोध के अवसर को बचा कर अपना काम निकाल सकते हैं। आकृति के परिवर्तनों द्वारा मानवीय भावों के जान लेने का विज्ञान हमारी समझ में आ जाता है और हम अपने भाइयों से व्यवहार करने में कुशलता प्राप्त कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त हम को शब्दों का ठीक प्रयोग भी आ जाता है। हम को ज्ञात हो जाता है कि कैसे समय में कैसे शब्दों का व्यवहार करना चाहिए। कहाँ हास्य या व्यंग्य से काम लेना चाहिए और कहाँ गांभीर्य से। समाज में बहुत से लड़ाई-झगड़े अपने भावों को पूर्णतया व्यक्त न कर सकने के कारण अथवा दूसरों के भावों को न समझने के कारण होते हैं। काव्य के अनुशीलन से इन दोनों बातों में सुलभता

प्राप्त हो जाती है। एक मित्र के भ्रम को दूर कर देना सहज कार्य नहीं। बात के हेर-फेर के कारण ही बहुत से समझौते रुके रहते हैं। काव्य का अनुशीलन करने वाला शब्दों की शक्ति को जानता है। वह यह भी जानता है कि कौन अर्थ किस शब्द से समझा जा सकता है। वह दूसरों की बात को भी भली प्रकार समझ सकता है, क्योंकि उसका मानव-हृदय से परिचय रहता है। वह अपने को दूसरे की स्थिति में रख सकता है। उसका दृष्टिकोण विस्तृत हो जाता है, क्योंकि वह जानता है कि एक वस्तु कई दृष्टियों से देखी जा सकती है। इस प्रकार काव्य का अनुशीलन जीवन को सफल, सान्यमय और सरस बनाने में सहायक होता है। वह बेकार को भी ठाली नहीं रखता, उसको प्रसन्नता दे कर मानव-जाति के प्रति घृणा के भावों को कम कर देता है। काव्य का अध्ययन निरापत्ति-जनक व्यसन है। वह जीवन को जीवन के योग्य बनाता है। इसी लिए कहा है कि—

काव्यशास्त्र-विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा॥

---

२. ललित-कलाओं में काव्य का स्थान

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ।।

(काव्य-प्रकाश)

मनुष्य जब अपने हृदय के स्वाभाविक आनन्द से प्रेरित हो अपने हृदयङ्गत भावों का प्रकटीकरण करना चाहता है तभी वह कला के क्षेत्र में प्रवेश करता है । कला की उत्पत्ति आनन्द से है । उसका बाहरी रूप सौंदर्य है । सौंदर्य आनन्द के अनुरूप स्वच्छन्दतापूर्ण भावों की साम्यमयी अभिव्यक्ति अर्थात् प्रकटीकरण में है। जहाँ पर मनुष्य के हृदयङ्गत भावों का अकुंठित रूप से साम्यमय प्रकाशन होता है, वहीं कला आ जाती है । जैसे-जैसे सामग्री का अवरोध घटता जाता है और भावों का सामंजस्य बढ़ता जाता है वैसे ही सौंदर्य की मात्रा बढ़ती जाती है।

कलाओं में वही कला श्रेष्ठ है जिसमें बाह्य-सामग्री पर निर्भरता कम हो और जिसमें मानवीय भावों की अधिक से अधिक अभिव्यक्ति (प्रकटीकरण) हो । यह भाव मम्मटाचार्य द्वारा की हुई उपर्युक्त काव्य-वन्दना में पूरी तौर से आता है।

उन्होंने कवि की भारती की वन्दना करते हुए कवि की रचना के तीन मुख्य विशेषण दिये हैं—'नियतिकृतनियमरहितां', अर्थात् ब्रह्मा की सृष्टि के नियमों से स्वतन्त्र, 'ह्लादैकमयीं' अर्थात् केवल आनन्द से बनी हुई और 'अनन्यपरतन्त्राम्' अर्थात् किसी दूसरे पर अनाश्रित। कला में इन तीनों बातों की मात्रा जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे ही वह कलाओं की श्रेणी में ऊँची चढ़ती है।

जर्मन आचार्य हैगिल (Hegel) ने भी कलाओं को श्रेणीबद्ध करने में प्रायः ऐसा ही आधार माना है। उनका कहना है कि जैसे-जैसे बाह्य सामग्री का आश्रय कम होता जाता है और भावों की व्यंजकता बढ़ती जाती है वैसे-वैसे ही कलाएँ ऊँचा स्थान पाती हैं। कलाओं में (कलाओं से अभिप्राय ललित कलाओं का ही है) पाँच कलाएँ मुख्य मानी गई हैं। स्थापत्य अर्थात् गृह-निर्माण-कला, मूर्ति-तक्षण-कला, चित्रकला, संगीत और काव्य। स्थापत्य-कला का स्थान सबसे नीचा है। उसमें सामग्री का आधिक्य होता है और भावों की अभिव्यक्ति कम। किसी विशाल-भवन में बहुत-सी सामग्री होते हुए भी उसमें शोक, सौंदर्य, वीरता, विशालता आदि भावों में से एक अथवा दो भाव ही प्रकट हो सकते हैं। सूक्ष्म भावों के प्रकटीकरण के लिए उसमें स्थान नहीं। मूर्ति-तक्षण-कला उससे ऊँची चढ़ी हुई है। उसमें स्थापत्य की अपेक्षा सामग्री कम लगती है और भावों की व्यंजकता अधिक होती है। यूनान की मूर्ति-कला बड़ी प्रख्यात है। यूनानी लोगों ने अपनी बनाई हुई मूर्तियों में मानवी-शरीर का पूर्ण विकास

दिखाया है। यद्यपि कुशल मूर्तिकार के हाथ में पत्थर मोम-सा बन जाता है तथापि उसका काठिन्य भावों के स्वच्छन्द प्रकाश में बाधक होता है, इसीलिए भावों का पूर्णतया प्रकटीकरण नहीं होता। चित्रकारी में सामग्री का इतना काठिन्य नहीं रहता। चित्रकार की तूलिका रंग-बिरंगा छायालोकमय संसार रच देती है। बड़े-बड़े सूक्ष्म भावों का अभिव्यंजन कर देती है। यह सब होते हुए भी उसमें तरलता नहीं, उसमें मृत्यु की सी स्थिरता है। वह देश के बन्धनों से बँधी हुई है। एक देश में दो रेखाओं के लिए स्थान नहीं। जहाँ एक भाव जमा, वहाँ दूसरा भाव नहीं आ सकता।

संगीत में देश के भी बन्धन नहीं रहते, केवल काल का क्रम रहता है। उसमें तरलता है, बहाव है और उतार-चढ़ाव है। एक ही पद में क्रमशः कई भाव व्यक्त कर दिये जाते हैं। संगीत में आकार और ध्वनि की पूर्णता रहते हुए भी, भावों की कमी रहती है। कभी-कभी संगीत खाली घड़े की भाँति अखरने लगता है। काव्य में पहुँच कर सामग्री से स्वातन्त्र्य सा ही हो जाता है। भाव और भाषा ही उसकी सामग्री हैं। भावों का साम्राज्य स्थापित हो जाता है। कवि आनन्द के उस स्वर्गलोक में पहुँच जाता है जहाँ पर कि वह कल्पना के कल्पतरु के नीचे बैठ कर नई-नई सृष्टि करता रहता है। उसको सृष्टि के नियमों की परवाह नहीं रहती। वह केवल भावों का आन्तरिक संगीत चाहता है। वह बाह्य सत्य नहीं देखता, वह अपने हृदय के सत्य को खोजता है। उसका हृदय जिस प्रकार प्रभावित होता है उसी प्रकार वह गाने लगता है। वह अपने हृदय से झूठ नहीं बोलता। काव्य संगीत की भाँति मनुष्य

की रागात्मक प्रवृत्ति को ही तृप्त नहीं करता, वरन् उसकी बुद्धि को भी सन्तुष्ट कर, उसे अपने शासन में ले आता है। काव्य-द्वारा मनुष्य की आत्मा का पूर्ण पोषण होता है। इसमें मनुष्य की आत्मा मुक्त हो जाती है और उसके हृदय के भाव स्वच्छन्द सरिता की भाँति एक उल्लासमयी गति के साथ बहने लगते हैं। इसमें संगीत की सी तरलता है। उसी के साथ उसमें संगीत का अस्थायित्व नहीं। तानसेन की तान वायुमंडल में लीन हो गई, किन्तु सूर और तुलसी की काव्य-धारा अब भी सहस्रों मृत पुरुषों को जीवन प्रदान कर रही है। काव्य कलाविद की अनुपस्थिति में भी चित्र की भाँति आनन्द का कारण बनता है, किन्तु उसमें चित्र का सा भावों का संकोच नहीं। उसमें भावों की धारा अकुंठित रूप से बहती रहती है। काव्य में भीतर और बाहर का एक सा वर्णन आ जाता है। काव्य में वर्णन और विरेचन दोनों ही रहते हैं। काव्य में वर्तमान, भूत, भविष्य तीनों का ही सामंजस्य हो जाता है। कवि की वाणी देश और काल के बंधनों से मुक्त हो ब्रह्मानन्द के से आनन्द को देती है। इसीलिए ललित-कलाओं में काव्य का स्थान सबसे ऊँचा माना गया है।

---

३. काव्य-कला और चित्र-कला

कला आनन्द से उद्वेलित (तरंगित) आत्मा का अभिव्यंजन (प्रकटीकरण) है । जब आत्मा आनन्द-विभोर होकर भीतर से बाहर प्रकट होना चाहती है, तभी कला की उत्पत्ति होती है। जब मीरा आनन्द-मग्न होकर गा उठती है कि—'मेरे तो गिरधर-गोपाल दूसरो न कोई' तब उसकी आत्मा संगीत में प्रकट होने लगती है। यही सच्ची कला है । मनुष्य अपनी आत्मा का, कहीं तो स्थूल प्रस्तर मूर्तियों-द्वारा, कहीं चित्रों-द्वारा और कहीं लेखों और काव्य-द्वारा प्रकटीकरण करता है। कहीं पर उसका आनन्द नृत्य का रूप धारण कर लेता है और कहीं पर उसकी आन्तरिक स्फूर्ति अपने शरीर को अलंकृत करने में प्रस्फुटित होती है । ये सब कला के रूप हैं। भारतवर्ष में ६४ कलाएँ मानी गई हैं। वास्तव में कलाएँ अनन्त हैं । यह आत्मा का अभिव्यंजन भौतिक सामग्री द्वारा होता है । आत्मा भौतिक सामग्री पर अपनी छाप डाल देती है । कई कलाओं में भौतिक सामग्री का प्राचुर्य रहता है और कई में कमी । वे ही कलाएँ श्रेष्ठ या उच्च गिनी जाती हैं, जिनमें भौतिक सामग्री का आश्रय कम हो और आत्मा की छाप अधिक। इसी कसौटी पर कलाएँ कसी जाकर ऊँची और नीची ठहराई जाती हैं।

चित्र-कला और काव्य-कला दो प्रधान कलाएँ हैं । भारत-

वर्ष में इनका आदि-काल से आदर चला आया है। साहित्य के रीति-ग्रंथों में चित्र-दर्शन भी पूर्वानुराग (जो वास्तविक मिलन से पूर्व हो) का एक कारण माना गया है । पुराणों में चित्रलेखा आदि कुशल चित्रकर्त्रियों का उल्लेख पाया जाता है । चित्रों के आधार पर ही दूर देश के विवाह निश्चित होते थे। हम नाटकों में पढ़ते हैं कि नायक लोग अपने आनन्द और प्रेम के प्रकाशनार्थ अपनी प्रेयसियों के चित्र बनाया करते थे और उन्हें अपनी पट-रानियों से छिपा कर रखते थे । शकुन्तला नाटक के धीर-ललित नायक महाराज दुष्यंत बड़े ही कुशल चित्रकार थे । मुद्रिका-द्वारा, परित्यक्ता शकुन्तला की स्मृति जाग्रत हो जाने पर उन्होंने उसका एक ऐसा सुन्दर चित्र बनाया था कि उसे देखकर शकुन्तला की सखी मिश्रकेशी अप्सरा भी धोखे में पड़ गई थी, भौंरे का धोखा खा जाना तो कोई बात ही नहीं। इसी प्रकार काव्य का भी आदर वैदिक-काल से चला आता है । गीता में स्वयं परमात्मा का भी वर्णन कवि कह कर किया गया है—"कविं पुराणमनुशासितारम्"। हमारे देश की काव्य-कला तो और भी बढ़ी-चढ़ी थी । कालि-दास और भवभूति की कविताएँ आज भी अद्वितीय हैं।

अब यह देखना है कि चित्र-कला और काव्य-कला में और कलाओं से क्या विशेषता है, और ये एक-दूसरे से किस प्रकार भिन्न हैं। स्थापत्य (भवन-निर्माण-कला) और मूर्ति-तक्षण-कला से चित्र-कला में भौतिक सामग्री बहुत कम लगती है और आत्मा की अभिव्यक्ति अधिक रहती है । मूर्ति में तो लंबाई, चौड़ाई, मोटाई रहती है, चित्र केवल लंबाई-चौड़ाई वाले धरातल पर ही

वनाये जाते हैं। समान-भूमि में ही ऊँचाई, निचाई, गहराई दिखा दी जाती है। काव्य में तो भौतिक सामग्री का प्रायः अभाव-सा ही हो जाता है और आत्मा ही आत्मा का खेल रहता है। इस दृष्टि से काव्य-कला सर्वोपरि है।

चित्र-कला और काव्य-कला में इस भेद के अतिरिक्त और भी कई भेद हैं, और भेदों के साथ समानताएँ भी हैं। समानता के बिना कोई भेद नहीं रह सकता। काव्य में जहाँ तक वर्णन रहता है; वहाँ तक वह चित्र-कला की ही भाँति है। चित्र-कला रेखाओं और रंगों से काम लेती है, काव्य-कला शब्दों से। काव्य में जो 'चित्र-काव्य' के नाम से प्रख्यात है, वह तो एक एकार की चित्र-कला ही है, काव्य नहीं। काव्य के एक चित्र का उदाहरण देखिए—

फिर-फिर सुन्दर ग्रीवा मोरत,
देखत रथ पाछे जो घोरत।
कबहुँक डरपि बान मति लागे,
पिछले गात समेटत आगे।
अध-रोंथी मग दाभ गिरावत,
थकित खुले मुख ते बिखरावत।
लेत कुलाँच लखो तुम अब ही,
धरत पाँव धरती जब तब ही।

यह भागते हुए मृग का कितना सजीव चित्र है? रंग और स्याही की रेखाओं में इस चित्र का लाना थोड़ा कठिन अवश्य है, किन्तु चित्रकार की कला से बाहर नहीं। एक चित्र और देखिए। 'उत्तर-रामचरित' से तापस-कुमार-वेश-धारी लव का वर्णन सुनिए—

दोऊ बगलन और पीठ पै निषंग राजै,
तिन के विसिख सिखा चुम्बति सुहावै है।
अलप विभूति उर पावन रमाएँ मंजु,
धारें रुरु मृग-छाला, छटा छिति छावै है।
मौरवी लता की बनी कौंधनी कलित कटि,
कोपीन मजीठ-रंग-रँगी सरसावै है।
कर में धनुष, तथा पीपर को दंड चारु,
आछी रुद्राछी माला मोद उपजावै है।

यहाँ तक तो इसका रंगीन चित्र भी अच्छा बन सकता है। चित्र-कला और काव्य-कला का साथ है। किंतु आगे चल कर काव्य इससे आगे बढ़ जाता है। चित्र-कला का विषय वही पदार्थ हो सकते हैं, जो नेत्रों के विषय हैं। काव्य गंध और शब्दों के भी चित्र खींच सकता है। चित्र केवल भौतिक दृश्यों का ही होता है। उसमें आध्यात्मिकता रहती अवश्य है, किंतु वह भौतिक पदार्थों द्वारा ही प्रकट होती है। चित्र-कला में भी वास्तविकता के साथ आदर्श-वाद रहता है, जैसा कि बंगाल के चित्रों में अथवा पुरानी बौद्ध-कला में। किंतु शुद्ध आध्यात्मिक भावों के चित्रण में चित्र-कला असफल रहती है। प्रेम का यदि चित्र खींचना है, तो चित्रकार लंबी, खिंची, एकटक आँखें बना देगा, मुख पर प्रसन्नता का भाव भी ले आवेगा, शायद रोमांच और स्वेद का भी भाव प्रकट कर देगा, कुछ वस्त्रों की लापरवाही दिखा देगा, किंतु ये सब बाहरी व्यंजन हैं। भवभूति ने जिस प्रकार प्रेम का वर्णन किया है, वह चित्रकार के कौशल से बाहर है। देखिए—

सुख-दुख में नित एक, हृदय को प्रिय विराम-थल।
सब बिधि सों अनुकूल विसद लच्छनमय अविचल॥
जासु सरसता सकै न हरि कबहुँ जरठाई।
ज्यों-ज्यों बाढ़त, सघन-सघन, सुंदर, सुखदाई॥
जो अवसर पै सँकोच तजि परनत दृढ़ अनुराग सत।
जग दुर्लभ सज्जन-प्रेम अस बड़भागी कोऊ लहत॥

चित्रकार के वर्णन-संबंधी चित्रों में यद्यपि स्पष्टता अधिक रहती है, तथापि वह एक देश और काल विशेष की स्थिति को अंकित कर देता है। एक चित्र एक क्षण का ही हो सकता है। संसार में स्थिरता नहीं, प्रवाह है। इस कमी को चल-चित्रों ने पूरा करना चाहा है। चल-चित्रों में क्षण-क्षण के कई चित्र लेकर एक चित्र बनाया जाता है और उसमें वास्तविक वस्तुओं की गतिशीलता आ जाती है। यह होते हुए भी वह सीमित है। प्लासी के युद्ध की किसी घटना का चित्र बना सकते हैं। वह चित्र हमारे सामने दृश्य को स्थिर करके रख देगा और उस दृश्य का ज्ञान हमको काव्य के वर्णन से अधिक होगा। किंतु वह सब बाहरी होगा। कवि का वर्णन एक साथ ही भीतरी और बाहरी हो सकता है। संसार में कोई ऐसी वस्तु नहीं, जिसके अनंत संबंध न हों। चित्रकला उन अनंत संबंधों को प्रगट करने में असमर्थ रहती है। चित्र में भावोत्पादन शक्ति रहती है किंतु वह उन भावों के वर्णन करने में असमर्थ रहता है। तारागणों का आप चित्र बना दीजिए। चित्र श्वेत बिंदुओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहेगा। तारागणों से हमारे जिन भावों की उत्पत्ति होगी, उनके वर्णन में यह चित्र नितांत

असमर्थ है । कवि के लिए कोई सीमा नहीं रहती । वह अपनी भाव-लहरी का धारा-प्रवाह वर्णन करता चला जाता है । कविवर सुमित्रानंदन ने तारा-गणों का क्या ही उत्तम वर्णन किया है। चित्रकार इन भावों को नहीं ला सकता। देखिए—

ऐ अज्ञात-देश के नाविक!
ऐ अनंत के हृत्कंपन!
नव-प्रभात के अस्फुट अंकुर!
निद्रा के रहस्य-कानन!
ऐ शाश्वत-स्मिति! ए ज्योतित स्मृति!
स्वप्नों के गति-हीन-विमान!
गाओ हे, हाँ, व्योम-विटप से,
गाओ खग! निज नीरव गान।
ऐ असंख्य भाग्यों के शासक!
ऐ असीम छवि के सावन!
ऐ अरण्य-निशि के आश्वासन!
विश्व-सुकवि के सजग नयन!
ऐ सुदूरता के सम्मोहन!
ऐ निर्जनता के आह्वान!
काल-कुहू; मेरा दुर्गम-मग!
दीपित कर दो, हे द्युतिमान!

नक्षत्रों के मनुष्य से जो भिन्न-भिन्न संबंध हैं, उनका यहाँ पर द्योतन कर दिया गया है । कुछ कवि ने अपनी कल्पना से भी रच लिये हैं । नक्षत्रों में जो कंपन दिखाई पड़ता है, उसको अनंत

का हृत्कंपन बतलाकर सजीवता दे दी है। उनमें मुसकराहट भी है, और वह मुसकराहट ज्योतिर्मयी है। उनकी गति में नियम है, क्रम है, वही उनका स्वरसाम्य है, वही उनका नीरव-गान है। ज्यतिष-शास्त्र उनको भाग्यों का शासक बताता ही है। रात्रि में वन के विपथ पुरुष के लिए वे सहचर-का-सा आश्वासन देते हैं। अनेक संबंधों में कवि उनको देखता है और उनका कुशलता से वर्णन कर देता है। यही चित्रकार से अधिक कवि की विशेषता है। चित्रकार ने जो एक कलम चला दी, उसके ऊपर दूसरी कलम नहीं आ सकती। वह देश-कृत बंधनों से बँध जाता है। एक देश में दो रेखाओं के लिए स्थान नहीं। कवि के लिए यह बात नहीं, वह परमात्मा की भाँति देश और काल के बंधनों से परे है। वस्तु अनंत है, चित्र सांत है; वस्तु घटती-बढ़ती है और चित्र स्थिर रहता है। चित्रकार की इसी कमी को देखकर कविवर बिहारीलाल ने क्या ही सुंदर और अमर शब्दों में अपने भाव की अभिव्यक्ति की है—

लिखत बैठि जाकी सबिहि, गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के चतुर चतुर चितेरे कूर॥

चतुर चितेरे बेचारे क्या करें यदि उनका चिर-संचित 'गरब-गरूर' चूर हो जाता है। यह बात तो चित्र-कला के क्षेत्र से ही बाहर है। कवि भी उसका वर्णन करता है, किंतु वह सिवाय इसके कुछ नहीं कह सकता कि—

अंग अंग छवि की लपट उपटत जात अछेह।
खरी पातरी हू मनों लगति भरी सी देह॥

कवि सौंदर्य की अनंतता को बतला देता है, कवि क्षण-क्षण

की नवीनता का द्योतन कर देता है, इसलिए वह चित्रकार से एक कदम आगे अवश्य बढ़ गया है, किंतु वास्तविकता के वर्णन में यह भी बहुत दूर रह जाता है । नेत्रों का अवश्य बड़ा महत्त्व है, किंतु सौंदर्य के सागर के अवगाहन करने के लिए नयन भी लघु मान-स्वरूप हैं। वे पार नहीं जा सकते । इसीलिए कवि लोग अपलक-नयन और अनिमेष दृष्टि बतला कर अपना कर्त्तव्य पालन करते हैं। यदि नेत्र थोड़ा बहुत पार भी पा जावें, तो भी गोस्वामी जी के चिर-स्मरणीय शब्दों में यही कहना पड़ता है कि—

'गिरा अनयन नयन बिनु बानी'

---

४. समाज पर साहित्य का प्रभाव

मनुष्य मननशील है। मनुष्य शब्द ही इस बात की सब से बड़ी गवाही देता है, क्योंकि वह मन् धातु से, जिसका अर्थ चिन्तन अर्थात् विचार करना है, बना है। विचारशील होने के ही कारण मनुष्य उन्नतिशील है। शेर और हाथी जैसे सहस्रों वर्ष पूर्व रहते थे, वैसे ही अब भी रहते हैं। उनके रहन-सहन में कोई भी अंतर नहीं पड़ा। यदि थोड़ा-बहुत पड़ा है तो वह मनुष्य के संपर्क से। उसमें उनका कोई श्रेय नहीं। किन्तु मनुष्य में ऐसा नहीं है। उसका शारीरिक विकास यद्यपि बन्द-सा है तथापि उसका मानसिक और सामाजिक विकास पर्याप्त रूप से चल रहा है। मनुष्य प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति कर रहा है। मनुष्य ने प्रकृति का अध्ययन कर उस पर विजय पा ली है। वह उसकी शक्तियों को अपने उपयोग में लाता है। पहले जो भौतिक सुख बादशाहों को नसीब नहीं थे आज सब को सुलभ हो रहे हैं। जो शक्तियाँ बड़ी तपस्या से प्राप्त होती थीं, वे आज पैसा खर्च करने पर ही मिल जाती हैं। पहले ज़माने में जो ज्ञान सौभाग्यशाली जन ही प्राप्त कर सकते थे, आज वह सर्वसाधारण को प्राप्त हो रहा है। इस सब का एकमात्र कारण यही है कि मनुष्य विचारशील है। उन्नति विचार की अनुगामिनी है।

ये विचार किस प्रकार फलवान होते हैं ? विचार मानव मस्तिष्क की अन्धकारमयी कन्दरा में नहीं रहना चाहते । वे सदा प्रकाश चाहते हैं । वे भाषा का परिधान पहन अथवा यों कहिए कि भाषा में मूर्तिमान हो, समाज में आते हैं और सक्रिय हो समाज की गति निश्चित करते हैं । भाषा में अवतरित हो विचार अमरत्व प्राप्त कर लेते हैं । उत्तम भाषा में प्रकट किये हुए मानव-समाज के उत्तमोत्तम विचार संगृहीत होकर साहित्य का रूप धारण करते हैं । सहित अर्थात् संग्रह के भाव को ही साहित्य कहते हैं । साहित्य का घेरा बड़ा व्यापक है । धर्म, दर्शन और विज्ञान, काव्य (जिसमें गद्य, पद्य, नाटक उपन्यास, आख्यायिका सब ही सम्मिलित हैं), इतिहास राजनीति और अर्थशास्त्र आदि जितना सरस्वती देवी का भंडार है, जितना वाङ्मय है, सब साहित्य के भीतर आ जाता है । संकुचित अर्थ में साहित्य काव्य का पर्याय है ।

साहित्य विचारों का समूह है और विचार ही समाज में काम करते हैं । साहित्य का रूप धारण किए हुए विचारों में एक प्रकार की संक्रामकता विशेष रहती है । जहाँ एक विचार प्रकट नहीं हुआ, वहीं वह सारे देश में अग्नि की भाँति फैल गया । विचारों की गति और संक्रामकता भाषा पर ही निर्भर है । विना भाषा के विचार चाहे जितने सुंदर और मूल्यवान हों ऊसर में पड़े हुए बीज की भाँति अनुत्पादक होते हैं । भाषा द्वारा ही विचार एक मनुष्य से दूसरे तक पहुँच कर व्यापकता धारण कर लेते हैं । साहित्य के कलेवर में सुरक्षित विचार नये विचारों पर अपना प्रभाव डालते रहते हैं । इस प्रकार विचारों की धारा अविच्छिन्न रूप से बहती

रहती है और उसी के साथ मनुष्य उन्नति के मार्ग में अग्रसर होता जाता है। यदि साहित्य न होता तो हमारे विचार बुद्बुद् के समान क्षणिक और अस्थायी हो जाते । साहित्य ही विचारों को अमर बना कर उनको गति वा शक्ति देता है । आजकल का संसार विचारों का ही संसार है । जो कोई भी परिवर्तन वा विप्लव होता है उसका मूल स्रोत किसी विचार-धारा में ही है । वटबीज के समान विचारों की बड़ी संभावनाएँ हैं । वर्तमान सब राजनीतिक आन्दोलन विचारों के ही फल हैं। साहित्य द्वारा ही हमारा ज्ञान विस्तृत होकर हमको वर्तमान से असंतुष्ट बनाता है। साहित्य हमारी हीन अवस्था की दूसरों की उन्नत अवस्था से तुलना कर हमारा नेत्रोन्मीलन कर, हम में शक्ति का संचार करता है। वर्तमान निष्क्रिय-प्रतिरोध, बौद्धकालीन विचारों एवं टाल्स्टाय के विचारों का फल है। रूसी राजविप्लव वहाँ के साम्यवाद-संबंधी विचारों का ही परिणाम है। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति वोलटेर और रूसो के विचारों का ही प्रतिबिंब है। निशे आदि दार्शनिकों के विचार, जिन्होंने जर्मन जाति में शक्ति की उपासना तथा अपनी सभ्यता के विस्तार के भाव उत्पन्न किये थे, गत महासमर के लिए उत्तरदायी हैं।

जिस प्रकार साहित्य मार-काट और क्रान्ति के लिए उत्तरदायी है उसी प्रकार साहित्य सुख, शान्ति और स्वातन्त्र्य के भावों का भी कारण है। महात्मा तुलसीदास जी के 'रामचरित मानस' ने कितने अन्धकारमय हृदयों को आलोकित नहीं किया, कितने घरों में सन्तोष और शान्ति का संदेशा नहीं पहुँचाया ?

'जिन खोजा तिन पाइयाँ' वाले कबीर के उत्साह-भरे शब्दों ने कितने हताश पुरुषों में प्राण का संचार नहीं किया ? हिन्दू जाति की आध्यात्मिक संस्कृति, धर्मभीरुता और अहिंसावाद में भारतीय साहित्य की ही झलक मिलती है। समर्थ रामदास आदि महाराष्ट्र सन्तों के उपदेश और भूषण आदि कवियों की उत्तेजनामयी रचनाएँ महाराष्ट्र के उत्थान में बहुत कुछ सहायक हुईं। वीर-गाथाओं ने उस काल में वीर-भावों का संचार किया।

साहित्य हमारे अव्यक्त भावों को व्यक्त कर हमको प्रभावित करता है। हमारे ही विचार साहित्य के रूप में मूर्तिमान हो हमारा नेतृत्व करते हैं। साहित्य ही विचारों की गुप्त शक्ति को केन्द्रस्थ कर उसे कार्यकारिणी बना देता है। साहित्य हमारे देश के भावों को जीवित रख कर हमारे व्यक्तित्व को स्थिर रखता है। वर्तमान भारतवर्ष में जो परिवर्तन हुआ है और जो धर्म में अश्रद्धा उत्पन्न हुई है वह अधिकांश में विदेशी साहित्य का ही फल है। साहित्य द्वारा जो समाज में परिवर्तन होता है वह तलवार द्वारा किये हुए परिवर्तन से कहीं अधिक स्थायी होता है। आज हमारे सौन्दर्य-सम्बन्धी विचार, हमारी कला का आदर्श, हमारा शिष्टाचार सब विदेशी साहित्य से प्रभावित हो रहे हैं। रोम ने यूनान पर राजनीतिक विजय प्राप्त की थी, किन्तु यूनान ने अपने साहित्य के द्वारा रोम पर मानसिक विजय प्राप्त कर सारे यूरोप पर अपने विचारों और संस्कृति की छाप डाल दी। प्राचीन यूनान का सामाजिक संस्थान वहाँ के तत्कालीन साहित्य के प्रभाव को ज्वलन्त रूप से प्रमाणित करता है। यूरोप की जितनी कला है वह प्रायः यूनानी

आदर्शों पर ही चल रही है । इन सब बातों के अतिरिक्त हमारा साहित्य हमारे सामने हमारे जीवन का ध्येय उपस्थित कर हमारे जीवन को सुधारता है । हम एक आदर्श पर चलना सीखते हैं। साहित्य हमारा मनोविनोद कर हमारे जीवन का भार भी हलका करता है । जहाँ साहित्य का अभाव है वहाँ जीवन इतना रम्य नहीं रहता।

साहित्य एक गुप्त रूप से सामाजिक संगठन और जातीय जीवन का भी वर्धक होता है । हम अपने विचारों को अपनी अमूल्य संपत्ति समझते हैं, उनका हम गौरव करते हैं । किसी अपनी सम्मिलित वस्तु पर गौरव करना जातीय जीवन और सामाजिक संगठन का प्राण है । अंगरेज़ों को शेक्सपियर का बड़ा भारी गर्व है। एक अंगरेज़ साहित्यिक का कथन है कि वे लोग शेक्सपियर पर अपना सारा साम्राज्य न्यौछावर कर सकते हैं। हमारा साहित्य हमको एक-संस्कृति और एक-जातीयता के सूत्र में बाँधता है। जैसा हमारा साहित्य होता है वैसी ही हमारी मनोवृत्तियाँ हो जाती हैं और हमारी मनोवृत्तियों के अनुकूल हमारा कार्य होने लगता है। इसीलिए कहा गया है कि—

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।

---

५. किसी काल का साहित्य उस काल के जातीय भावों का प्रतिबिंब-स्वरूप होता है

कवि वा लेखक अपने समय का प्रतिनिधि होता है। उसको जैसा मानसिक खाद्य मिलता है वैसी ही उसकी कृति होती है। जिस प्रकार वेतार के तार का ग्राहक (Receiver) आकाश-मंडल में विचरती हुई विद्युत्-तरंगों को पकड़कर उनको भाषित शब्द का आकार देता है, ठीक उसी प्रकार कवि वा लेखक अपने समय के वायुमंडल में घूमते हुए विचारों को पकड़ कर मुखरित कर देता है। कवि वह बात कहता है जिसका सब लोग अनुभव करते हैं किन्तु जिसको सव लोग कह नहीं सकते। सहृदयता के कारण उसकी अनुभव शक्ति औरों से बढ़ी चढ़ी होती है। जहाँ उसको किसी बात की क्षीण से क्षीण रेखा दिखाई पड़ी, वहीं वह उसके आधार पर पूरा चित्र खींच लेता है। प्रायः उसका चित्र ठीक भी उतरता है। कवि वा लेखकगण अपने समाज के मस्तिष्क और मुख दोनों होते हैं। कवि की पुकार समाज की पुकार होती है। कवि समाज के भावों को व्यक्त कर सजीव और शक्तिशाली बना देता है। कवि की बनाई हुई सामाजिक भावों की मूर्ति समाज की नेत्री बन जाती है। इस प्रकार कवि और लेखक-गण समाज के उन्नायक और इतिहास के विधायक अवश्य होते हैं, किन्तु उन की भाषा में हमको समाज के भावों की झलक मिलती रहती है। कवि द्वारा हम समाज के हृदय तक पहुँच जाते हैं, केवल इतना ही नहीं, वरन् हमको उन परिस्थितियों का भी पता लग जाता है जो समाज को प्रभावित कर वायुमंडल में एक नई लहर उत्पन्न

कर देती हैं। समाज के प्रतिनिधि-स्वरूप कवियों और लेखकों के विचार ही संगृहीत हो साहित्य बनाते हैं।

प्रत्येक जाति के साहित्य का एक व्यक्तित्व होता है । यद्यपि मानव-हृदय एक सा ही है तथापि जाति के साहित्य की विशेषता होती है। केवल इतना ही नहीं वरन् एक जाति के ही साहित्य में उसके विकास के अनुकूल समय समय पर अन्तर पड़ता रहता है। जो त्याग और आत्मा का विस्तार हम उपनिषदों में पाते हैं वह हम और जातियों के धार्मिक साहित्य में नहीं देखते । भारत के स्वच्छ, उन्मुक्त, उज्ज्वल ज्योत्स्नामय तपोवनों ने भारतीय हृदय में जो अनन्तता के भाव उत्पन्न किए थे उनकी झलक हमको उपनिषद्-साहित्य में ही मिलती है। परिस्थितियों के आवर्तन-परिवर्तन, राज्यों के उलट-पुलट और विचारों के संघर्ष के कारण वे भाव दब जाते हैं, किन्तु समय पाकर फिर उदय हो जाते हैं । शेक्सपियर और कालिदास की तुलना की जाती है। किन्तु इन महाकवियों की कृतियों में अपने देश की छाप लगी हुई है। कर्म और आवागमन के भाव हिन्दू जाति की विशेषताओं में से है। कालिदास में इन सिद्धान्तों की झलक समय समय पर मिलती है । शेक्सपियर में यह बात नहीं है। देखिए—

कल्याणबुद्धेरथवा तवायं न कामचारो मयि शंकनीयः।
ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः॥

\+ + + +

साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये ।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः॥

श्री सीता जी निर्वासित होने पर भी श्री लक्ष्मण जी से कहती हैं कि "रामचन्द्र जी के संबंध में मैं यह शंका भी नहीं कर सकती कि यह काम उन्होंने स्वेच्छाचार से किया, वरन् मेरे ही जन्मान्तर के किये पापों का फल है और मुझको वज्र के समान असह्य हो रहा है। जब मैं इस प्रसूति-कार्य से निवृत्त हो जाऊँगी तब सूर्य की ओर दृष्टि लगाकर मैं तप करूँगी और प्रार्थना करूँगी कि जन्मान्तर में भी ये ही पति मिलें और कभी वियोग न हो।" दोनों ही श्लोकों में हिन्दू धर्म में माने हुए सूर्य के तप और आवागमन के सिद्धान्तों की छाप है।

मुसलमानी साहित्य में नाटकों का अभाव उनके मूर्त्ति-पूजा-विरोधी विचारों का ही फल है। उनके विचारों में भाग्यवाद अवश्य है किन्तु कर्मवाद नहीं (हिन्दुओं में उनके कर्म ही भाग्य के विधायक माने जाते हैं, मुसलमानों में ईश्वर की मर्ज़ी ही प्रधान मानी गई है)। सम्मिलित परिवार का जैसा चित्र हिन्दू साहित्य में मिलता है वैसा और कहीं नहीं। शेक्सपियर लाख कोशिश करने पर भी रामचरितमानस की कल्पना नहीं कर सकते थे। इसी प्रकार तुलसीदास जी मिल्टन (Milton) के पैरेडाईज़ लौस्ट (*Paradise Lost*) को विचार में भी नहीं ला सकते थे, क्योंकि पैरेडाईज़ लौस्ट में ईश्वर के अधिकार के विरुद्ध शैतान की बगावत का वर्णन है। पहले तो हिन्दू साहित्य में ईश्वर की कोई प्रतिद्वन्द्विनी शक्ति नहीं, फिर तुलसीदास जैसे मर्यादावादी अधिकारों के मानने वाले इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते थे। हिन्दुओं में देवता और दानवों का विरोध रहा है। ईश्वर के साथ भी हिरयकशिपु आदि का वैर

रहा है किन्तु न वह शैतान की तरह स्वर्ग में रहता था, और न उसने ईश्वर का स्थान लेने की कोशिश की। मिल्टन ने जिस समय यह ग्रन्थ लिखा, उस समय इंगलैंड में अधिकारों के खिलाफ़ आवाज़ उठ रही थी। हमारे यहाँ राजाओं के विरोध में राजा वेणु की कथा अवश्य है। किन्तु वह बड़ा अत्याचारी था। हिन्दू लोग स्वभाव से अधिकारों के मानने वाले होते हैं।

हिन्दू जाति में त्याग और अहिंसा के भावों का प्राधान्य रहा है, इसीलिए यहाँ के साहित्य में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र, त्यागी बुद्धदेव, सत्यपरायण हरिश्चन्द्र, शिवि और दधीचि के वर्णनों का प्राधान्य रहता है। उर्दू कवियों के प्रेम-वर्णन में जितना हत्या-कांड है उतना हिन्दी कवियों में नहीं। भारतवर्ष में घी दूध का बहुत आदर रहा है। यहाँ के देहात्मवादी चार्वाक लोग 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' ही कहते हैं 'सुरां पिबेत्' नहीं कहते।

पूर्वी देशों में पश्चिम की अपेक्षा अलंकारप्रियता अधिक है। जिस तरह भारतीय नारियाँ आभूषणों को हमेशा पसंद करती आई हैं, वैसे ही कविगण कविता को भी अलंकारों से सजाने का प्रयत्न करते रहे हैं। अतएव जितने भाषा के अलंकार पूर्वी साहित्य में मिलते हैं उतने पश्चिमी साहित्य में नहीं। प्रत्येक जाति के भाव चाहे वे भले हों चाहे बुरे उसके साहित्य में झलक उठते हैं।

जिस प्रकार हम जातियों के साहित्य में भेद पाते हैं उसी प्रकार हम एक जाति के साहित्य में भी समय-समय की परिस्थितियों के अनुकूल भेद पाते हैं। साहित्य का इतिहास जाति के इतिहास के साथ समानान्तर रेखाओं में चलता है। संत कबीरदास के समय

में कविवर बिहारीलाल नहीं हो सकते थे और बिहारी के समय में कबीर का उदय नहीं हो सकता था । भूषण में जो मुसलमानों के प्रति घृणा के भाव मिलते हैं वे सूर और तुलसी में नहीं है, क्योंकि उनके समय में मुसलमानी शासकगण हिन्दुओं को अपनाना चाहते थे। उस समय हिन्दुओं में जातीय जाग्रति की प्रतिक्रिया का आरम्भ नहीं हुआ था । औरंगजेब के मुसलमानी कट्टरपन ने हिन्दुओं में एक प्रकार की जाग्रति उत्पन्न कर दी थी और महाराज शिवाजी उस जाग्रति के मूर्तिमान स्वरूप थे। वर्तमान साहित्य में जो एक अन्तर्वेदना और हृदय की कसक सुनाई पड़ती है वह जातीय भावों का ही प्रतिबिंब है । जाति में दुःख की समवेदना बढ़ गई है और उसी से दुःख का महत्त्व बढ़ गया है । दुःखी का आदर होने लगा है, दुःख पवित्र माना जाता है। दुःख की पवित्र झाँकी आजकल के कवियों में विशेष कर महादेवी वर्मा, भगवती-चरण वर्मा और पन्त जी में खूब मिलती है । देखिए पन्तजी अश्रुओं के सम्बन्ध में क्या कहते हैं:—

आह, यह मेरा गीला गान
वर्ण वर्ण है उर की कंपन,
शब्द शब्द है सुधि की दंशन,
चरण चरण है आह,
कथा है कण कण करुण अथाह,
बूँद में है बाड़व का दाह!
विरह है अथवा यह वरदान!
कल्पना में है कसकती वेदना,

अश्रु में जीता सिसकता गान है;
शून्य आहों में सुरीले छन्द हैं,
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है!

यद्यपि इन कवियों में राष्ट्रीयता व्यक्त नहीं है तथापि यह परिस्थितियों के प्रभाव से खाली नहीं। आजकल जितना साहित्य रचा जा रहा है, वह प्रायः राष्ट्रीय भावों से रंजित है। शृंगारी कवियों के अनुकरण करने वाले रत्नाकर जी में भी राष्ट्रीय भावों की झलक आ जाती है। मैथिलीशरण जी इन भावों से भरे हुए हैं। पं० माखनलाल चतुर्वेदी और श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान की कविता में राष्ट्रीय भेरी-नाद सुनाई पड़ता है। राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ राष्ट्रीय भावों की बाढ़ आई थी। उपन्यासों और आख्यायिकाओं में भी उसकी छाप थी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'गोरा' नामक उपन्यास का नायक गौरमोहन भी स्वेच्छा से जेल जाने में अपना गौरव समझता है। मुंशी प्रेमचन्द के उपन्यास 'रंगभूमि' में आधुनिक राजनीतिक युद्ध का सजीव प्रदर्शन है। और 'प्रेमाश्रम' के उपन्यास-पट पर सामने तो १९२१ के भारतीय समाज का स्पष्ट चित्र है, और पीछे किसी भावी भारत की छाया है। आजकल के हरिजन आन्दोलन की ध्वनि भी भारतीय साहित्य में गूँजने लगी है। सारांश यह कि साहित्य की गति से हम देश की गति को जान सकते हैं। जातीय साहित्य किसी देश अथवा जाति के तत्कालिक भावों का दर्पण है, उस काल के जातीयभावों का प्रतिबिंब-स्वरूप है।

---

६. गद्य और पद्य का सापेक्षित महत्त्व

साहित्य के दो मुख्य आकार हैं । एक गद्यात्मक और दूसरा पद्यात्मक । जो बोलचाल की भाषा में लिखा जावे, और जिसमें वाक्यों का कोई नाप-तोल और शब्दों और वाक्यों का कोई क्रम निश्चित न हो वह गद्यात्मक कहलाता है और जहाँ वाक्यों का नाप-तोल हो और वर्ण किसी क्रम वा नियम के अनुकूल एक विशेष बहाव वा गति के साथ चलते हों वहाँ साहित्य का आकार पद्यात्मक होता है। प्रायः सभी देशों में विशेष कर भारतवर्ष में, कला-क्रम से पद्य का स्थान पहला है । पहले पहल हृदय का हर्षोल्लास वा शोकोद्वेग एक संगीतमयी भाषा में प्रस्फुटित हो उठता है। भारतवर्ष में वेदों के अतिरिक्त जो काव्य का उदय हुआ है वह भी शोकोद्वेग के ही कारण हुआ है । क्रौंचों की जोड़ी में से एक का वध देख कर महर्षि वाल्मीकि जी के हृदयंगत भाव निम्नलिखित श्लोक में उमड़ पड़े थे—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

इसी का स्वर्गीय सत्यनारायण जी ने इस प्रकार पद्यानुवाद किया है—

रति-विलास की चाह सों, मदमाती सानन्द।
क्रौञ्चन की जोड़ी फिरत, विहरत जो स्वच्छन्द॥
हनि तिन में सों एक कों, कियो परम अपराध।
जुग जुग लों तोहि न मिलहि, कबहुँ बड़ाई व्याध॥

मनुष्य के मानसिक विकास में भावों का उदय पहले होता है, विवेचना पीछे से आती है। आजकल जीवन की प्रतिद्वन्द्विता के बढ़ जाने से भावों का प्राबल्य कम होता जाता है। पहले पेट भरने की सूझती है, पीछे और कुछ। प्रत्येक वस्तु का मूल्य आना पाई में देखा जाता है। भावों की तुष्टि के लिए और मान-मर्यादा की रक्षा के अर्थ अब लोग सहज में जीवन का बलिदान नहीं कर देते और न लोगों को हृदय की बात की ओर ध्यान देने को अधिक अवकाश ही है। इसी लिए अब पद्य के स्थान में गद्य अपना आधिपत्य जमाता जा रहा है। पहले से परिस्थिति में एक बात का और भी अन्तर हो गया है। पहले ज़माने में लेखन-सामग्री की न्यूनता और प्रेस के अभाव के कारण साहित्य की रक्षा उसको मुखस्थ रखने में ही थी—भारतवर्ष में ज्ञान या तो सूत्रों में आबद्ध कर कंठस्थ किया जाता था या छन्दोबद्ध करके। ज्योतिष, वैद्यक, दर्शन, इतिहास, पुराण सभी पद्य में लिखे जाते थे, क्योंकि वर्णों की नियमित आवृत्ति और शब्दों का गतिमय प्रवाह उनको कंठस्थ रखने में विशेष सहायक होता था। पद्य में शब्दों की अविकल रूप से रक्षा हो सकती थी। पद्य में जो शब्द जहाँ रक्खा गया है, वहीं

रह सकता है और उसका पर्याय भी काम नहीं देता। पद्य में आबद्ध कंठस्थ ज्ञान प्राचीन-काल के लोगों को पठन-पाठन, और वाद-विवाद में विशेष सहायक होता था और उसका भरोसा रहता था। पुस्तकस्था विद्या का इतना महत्त्व नहीं था, क्योंकि कभी-कभी कार्य पड़ने पर पुस्तक नहीं मिलती थी।

पुस्तकस्था तु या विद्या परहस्ते गतं धनम्।
कार्य-काले समुत्पन्ने न सा विद्या न तद्धनम्॥

अब यह परिस्थिति बदल गई है। अब कम से कम केवल आकार के लिए पद्य का लिखा जाना नितान्त आवश्यक नहीं रहा। यद्यपि अब गद्य का युग है तथापि साहित्य गद्य और पद्य दोनों ही में लिखा जाता है क्योंकि दोनों की ही अपनी विशेषताएँ हैं। दोनों ही का सापेक्षित महत्त्व है।

गद्य युक्तिवाद और दुकानदारी की भाषा है। यद्यपि गद्य में भी भाषा के सौष्ठव का ध्यान रखना पड़ता है तथापि भाषा विचार की आवश्यकताओं के अधीन रहती है। भाषा के लिए विचारों का संकोच नहीं किया जाता। गद्य में भाषा का नाप-तोल नहीं रहता, विचारों की आवश्यकता के अनुकूल उसमें संकोच और विस्तार के लिए गुंजायश रहती है। आकार के लिए शब्दों का रूप भी नहीं बदलना पड़ता और न अपने चुने हुए उपयुक्त शब्दों का परित्याग करना पड़ता है। भावों की अभिव्यक्ति के लिए हमको जैसे शब्दों की आवश्यकता होती है वैसे ही शब्द रख सकते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ विषय ऐसे हैं जो गद्य के लिए विशेष रूप से उपयुक्त हैं। भाषा भावों का परिधान (पोशाक) स्वरूप मानी गई

है। प्रत्येक अवसर पर एक ही पोशाक काम नहीं देती। फुटबॉल की पोशाक भोजन के समय काम नहीं देती। मनुष्य के कार्य और पेशे के साथ भी पोशाक बदलती है। जज की पोशाक पहन कर लोहार लोहे को ठोक पीट नहीं सकता और लोहार की पोशाक जज को शोभा नहीं देती। मल्लाह की पोशाक प्रोफ़ेसर के उपयुक्त नहीं होती और न प्रोफ़ेसर का लंबा गाउन मल्लाह के काम में आ सकता है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए गद्य और पद्य की भाषा का प्रयोग किया जाता है। पद्य में शुष्क नीरस बातों का लिखा जाना शोभा नहीं देता। केवल तुक मिलाना पद्य नहीं है। साधारण बात को पद्य में कहना हास्यास्पद हो जाता है। 'महाकवि चच्चा' में ऐसे पद्य-भक्तों की खूब हँसी उड़ाई गई है। बिल्ली पंडित जी के पालतू तोते को ले जाती है और पंडित जी अपने नौकर को पद्य में बुलाते हैं—

अरे पनरुआ दौड़ बिलरिया ले गई सुग्गा।
तू मन मारे खड़ा निहारे जैसे भुग्गा॥

राजनीतिक कार्यों में जहाँ उत्तेजना देनी हो वहाँ तो पद्य का प्रयोग उपयुक्त होता है किन्तु जहाँ गणना-चक्रों को बना कर किसी बात को प्रमाणित करना हो, या चित्र दिखा कर किसी गाँव की सीमा निश्चित करनी हो अथवा किसी को फाँसी की आज्ञा देनी हो वहाँ पद्य का प्रयोग हास्यास्पद हो जावेगा। इसीलिए आजकल नाटकों में पद्य का प्रयोग कम होता है। अब पद्यमयी भाषा राजाओं और मन्त्रियों की स्वाभाविक भाषा नहीं समझी जाती। आजकल की व्यवस्थापिका-सभाओं में गद्य ही बोला जावेगा, पद्य के

उद्धरण चाहे दे दिये जायँ। कानून गद्य में ही बनाया जावेगा क्योंकि पद्य की अपेक्षा गद्य की भाषा निश्चित समझी जाती है। उसमें यह विश्वास रहता है कि जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है, विचार की आवश्यकता से किया गया है, छन्द की गति वा लय की आवश्यकता से नहीं। गद्य में व्याकरण के नियमों का भी पूरी तौर से पालन किया जाता है, पद्य में वैसा पालन नहीं हो सकता, पर इसका यह अर्थ नहीं कि पद्य में व्याकरण की हत्या की जाती है।

वैज्ञानिक विषयों के लिए भी गद्य ही उपयुक्त भाषा है, क्योंकि विज्ञान में अलंकारों की आवश्यकता नहीं। वैज्ञानिक ध्रुव सत्य—घोर कठोर सत्य—चाहता है; उसके लिए प्रिय और अप्रिय का प्रश्न नहीं। वह एक शब्द भी कम या ज़्यादा नहीं चाहता। विज्ञान की शोभा सरसता में नहीं है, यथार्थता में है, और यथार्थता की रक्षा जैसी गद्य में हो सकती है वैसी पद्य में नहीं।

यद्यपि साधारण जीवन की आवश्यकताओं के लिए गद्य ही उपयुक्त भाषा है तथापि मनुष्य का जीवन भोजन-सामग्री जुटाने में ही संकुचित नहीं। उसके जीवन में कला और सौंदर्य का भी स्थान है। गद्य का युग होते हुए भी भावों का नितान्त ह्रास नहीं हो गया है। हमारे जीवन में थोड़ी सरसता आवश्यक है। नीरस जीवन असह्य हो जाता है। सौन्दर्य और सरसता के लिए पद्य आवश्यक है। संगीत गद्य में नहीं रक्खा जा सकता। रात्रि की निस्तब्धता में नदी तट से गाया हुआ मधुर संगीत अब भी लोगों के हृदय को आकर्षित कर लेता है। विवाहादि के निमंत्रणों में पद्य अब भी

गौरव की भाषा समझी जाती है। पद्य के बिना धर्म का बहुत सा सामाजिक भाग अपूर्ण सा रहता है। पद्य के नपे-तुले वाक्य, वृत्तों का सरस बहाव, हमारे मन में एक अपूर्व साम्य और आनन्द की उत्पत्ति कर देता है जो गद्य में कठिनाई के साथ आ सकता है। पद्य में भाव और भाषा की एकाकारिता हो जाती है। हमारे भाव जैसे उमड़ कर बाहर आना चाहते हैं वैसे ही सरिता की भाँति हमारी भाषा भी बहने लगती है। कोमल भाव कोमल-कान्त-पदावली चाहते हैं। शब्द की ध्वनि, बिना अर्थ बोध के ही परिस्थिति के अनुकूल हमारे मन में भाव उत्पन्न कर देती है। मस्तिष्क का भार हलका हो जाता है। वीर रस के भावों की भाषा ओजपूर्ण होती है और शृंगार की माधुर्यमयी। इन्हीं रसों के अनुकूल कोमला और परुषा वृत्तियों के अल्प और अधिक प्रयास वाले वर्ण रहते हैं। कविता के वृत्तों में एक अपूर्व साम्य रहता है, जो हमारे मन में तदनुकूल साम्य की जाग्रति कर देता है। वृत्त द्वारा अनेकता में एकता स्थापित हो जाती है, क्योंकि अक्षर-भेद होते हुए भी उनकी संख्या, उनकी मात्राएँ, उनके गुरु लघु होने का क्रम विशेषकर अन्त्यानुप्रास में एक सा रहता है। हमारे मुख को उच्चारण में और कानों को श्रवण में एक विशेष सुख मिलता है। हमारा मन भी उस बहाव में पड़ जाता है और उस बहाव के अनुकूल शब्दों की एक सी आवृत्ति में एक अपूर्व आनन्द का अनुभव होने लगता है। थोड़ी देर के लिए जीवन का भार हलका हो जाता है। कविता का बाह्य और आन्तरिक सौन्दर्य मिल कर हमारे मन में एक सौन्दर्य की भावना

जागरित कर हमारे मन में रस की उत्पत्ति कर देता है। वह एक लोकोत्तर आनन्द का विधायक बन हमारे जीवन के संकुचित बन्धनों को शिथिल कर देता है और हम काव्य के स्वर्ग में विहार करने लग जाते हैं। जो लोग अपने जीवन को सरस और जीवन-योग्य बनाना चाहते हैं उनको कविता का भी अनुशीलन करना आवश्यक है।

सारांश यह कि भौतिक आवश्यकताओं का प्रकाश तथा शुष्क वैज्ञानिक विषयों पर विचार गद्य में ही प्रकट किये जा सकते हैं; परन्तु मानसिक लोकोत्तर आनन्द और जीवन की सरसता पद्य से ही सुलभतया प्राप्त हो सकती है।

---

७. हिन्दी साहित्य की उत्पत्ति और वृद्धि

जिस प्रकार साहित्य का प्रभाव समाज पर पड़ता है उसी प्रकार समाज का प्रभाव साहित्य में दिखाई देता है । देश की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल साहित्य की उत्पत्ति होती है, क्योंकि साहित्यनिर्माण में वक्ता और श्रोता दोनों की ही रुचि काम करती है और दोनों ही परिस्थितियों से प्रभावित होते हैं ।

यद्यपि अधिकांश में साहित्य-निर्माण में पढ़े लिखे मनुष्यों और विद्वानों का हाथ रहता है और वे लोग स्वभावतः पांडित्य-प्रदर्शनार्थ ऊँची और साहित्यिक भाषा का व्यवहार पसंद करते हैं तथापि जब उन्हें समाज में व्यापक और स्थायी काम करना होता है तब उनको जनसाधारण की भाषा का आश्रय लेना पड़ता है । महात्मा बुद्ध ने संस्कृत को छोड़कर प्राकृत को अपनाया, क्योंकि जनसाधारण की वही भाषा थी । वास्तव में जनता ही भाषा की जनयित्री है । जनता सदा व्याकरण और उच्चारण की सरलता की ओर झुकती है और इसी प्रवृत्ति के कारण भाषा बदलती रहती है । इसी प्रकार प्राकृत जनसमुदाय की भाषा बन गई और संस्कृत पंडितों की भाषा रह गई । प्राकृत के बाद अपभ्रंश भाषा चल पड़ी । जैनियों ने अपना साहित्य अधिकांश में उन्हीं भाषाओं में लिखा है । अपभ्रंश के पश्चात् हिन्दी का उदय हुआ । हिन्दी का पहला कवि संवत् ७७० के

लगभग पुष्पी अथवा पुष्प हुआ है। इसने संस्कृत के किसी रीति-ग्रन्थ का दोहा चौपाइयों में अनुवाद किया था किन्तु वह अधिक प्रचार न पा सका। उसकी कविता का कोई नमूना उपलब्ध नहीं है। प्राकृत के अन्तिम व्याकरणकार हेमचन्द्र (मृत्यु १२२६) के व्याकरण में दिए हुए नागर अपभ्रंश के उदाहरणों में कहीं कहीं हिन्दी का पूर्वरूप दिखाई पड़ता है। इससे प्रतीत होता है कि इस समय से १०० या २०० वर्ष पूर्व हिन्दी का उदय हो चुका था।

हिन्दी साहित्य का वास्तविक उदय वीर-काव्य से हुआ। परस्थितियों और तत्कालीन आवश्यकताओं के अनुकूल होने के कारण वीर-काव्य में जीवन था। वह बढ़ा और व्यापक हुआ। यह काल संवत् ६०० से १४०० तक माना जाता है। यह ऐसा समय था जब कि राजपूत गौरव मन्द पड़ता जा रहा था, मुसलमानों के आक्रमण आरम्भ हो रहे थे। आपस की फूट के कारण देश छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त होता जाता था और समूहबल नष्ट हो जाने के कारण मुसलमानों को स्थान मिलता जा रहा था। यह समय लड़ाई-झगड़े और मार-काट का था। इस समय वीर-भावों की जाग्रति की आवश्यकता थी। चीणबल पुरुषों की थोड़ी प्रशंसा कर दी जाय तो उनमें भी स्फूर्ति का संचार होता है; वे भी मरने मारने को तैयार हो जाते हैं। वीर-काव्य ने बुझते हुए दीपक की बत्ती आगे करने अथवा उसमें दो चार बूँद तेल डालने का काम किया। जनता में रुचि उत्पन्न करने के लिए उसमें किसी स्त्री के प्रेम और आपत्तियों से उसकी

रक्षा का वर्णन भी रहता था । पर वीर-काव्य में संस्कृत के वर्ण-वृत्तों के स्थान में प्राकृत और अपभ्रंशों के मात्रिक छन्दों का अधिकतर प्रचार हुआ । इनकी भाषा राजस्थानी भाषा थी और वह उस समय तक प्राकृत और अपभ्रंशों के प्रभाव से मुक्त नहीं हुई थी । इनमें गीतिकाव्य और प्रबन्धकाव्य दोनों प्रकार के काव्य रचे गये । नरपति नाल्ह कवि का वीसलदेव रासो (सं० १२१२) और जगनिक कवि का आल्हा गीतिकाव्य के उदाहरण हैं और चन्द-वरदई कृत पृथ्वीराजरासो (जिसका उत्तरार्द्ध उसके लड़के जल्हण ने लिखा था), खुमानरासो और हम्मीररासो प्रबन्धात्मक वीर काव्य के उदाहरण हैं । खुमानरासो वीरकाव्यों में सबसे प्राचीन माना जाता है । चन्दवरदई के समय के सम्बन्ध में बहुत मतभेद हो रहा है । रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा जैसे इतिहासज्ञ चन्दवरदई को पृथ्वीराज का समकालीन नहीं मानते । इन भाट और चारणों द्वारा लिखे गए वीरकाव्यों की प्रधानता संवत् १४०० तक रही ।

इस काल के अन्त में हम मुसलमान कवि खुसरो तथा मैथिल-कोकिल विद्यापति को पाते हैं । खुसरो की कविता में आधुनिक खड़ी बोली की समता दिखाई देती है । उसका लक्ष्य जनता का मनोरंजन था । विद्यापति की कविता अधिकतर शृंगार रस की ही है, जिसमें नायिका और नायक राधा और कृष्ण हैं ।

संवत् १४०० के पश्चात् पठानों की शक्ति का ह्रास हो चला, राजपूत लोग भी कुछ सँभले, परन्तु मुगलों के अधीन रहकर उनके आधिपत्य में अपने छोटे-छोटे राज्यों का भोग करने लगे । मुगल साम्राज्य स्थापित हो गया । जब तक राजपूतों

में थोड़ा बहुत जीवन था तब तक वीर काव्य की आवश्यकता रही, किन्तु जब जीवन का ह्रास हो गया तो वीर काव्य की आवश्यकता ही न रही। 'निर्वाणदीपे किं तैलदानं'—चिराग बुझ जाने पर तेल देने से क्या लाभ ? काव्य की रीति समय के साथ बदली। मारकाट के पश्चात् कोमल भावों की जाग्रति होती है; आँधी के पश्चात् शान्त वातावरण आता है। विजेता और विजित दोनों एक दूसरे के निकट आने का उद्योग करने लगे। मुसलमानों के जायसी आदि सूफी कवियों ने हिन्दू प्रेम-गाथाओं का वर्णन कर प्रेम-मार्ग की धारा बहाई। निर्गुणवादी कबीर प्रमुख हिन्दू सन्तों ने निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन कर अपने ज्ञान मार्ग में मुसलमानी एकेश्वरवाद के साथ निकटता प्राप्त की। कुछ लोगों ने हिन्दू धर्म का व्यक्तित्व रखने के लिए राम और कृष्ण की भक्ति का सहारा लिया।

प्रेम-काव्य यद्यपि भौतिक प्रेम से शुरू हुआ था तथापि वह प्रेमी और प्रेमिका के प्रेम को ईश्वर और जीव के प्रेम का उदाहरण बनाकर सूफ़ी मत के रूप में आध्यात्मिक रहस्यवाद की ओर झुका। इसको अधिकांश रूप में मुसलमानों ने अपनाया था। कुतबनशेख ने संवत् १५५८ में मृगावती नाम की प्रेमकथा लिखी और मलिक मुहम्मद जायसी ने संवत् १५९७ के लगभग पद्मावत नामक प्रेम-प्रधान काव्य रचा। इनका दूसरा ग्रन्थ अखरावट है। इनके काव्य में प्रेम आध्यात्मिकता की ओर है और ये सूफी कवियों में प्रमुख गिने जाते हैं। इस प्रेम-काव्य की धारा को जारी रखने वाले कवियों में उस्मान का नाम विशेष उल्लेखनीय है। हिन्दुओं ने भी इस काव्य की प्रतियोगिता में पौराणिक कथा

काव्य की नींव डाली। इसमें पौराणिक कथाएँ रक्खी गईं। इन में ओरछा के हरिसेवक और पटियाला के राजकवि मृगेन्द्र का नाम विशेष रूप से आता है। हरिसेवक ने कामरूप की कथा लिखी और मृगेन्द्र कवि ने सं० १६१२ में प्रेमपयोनिधि नाम का ग्रन्थ लिखा।

भारतवर्ष में बौद्ध धर्म के ह्रास के साथ शंकराचार्य का वेदान्त-वाद प्रचलित हो चला था, किन्तु उसकी नीरसता के कारण वह मानव हृदय की तृप्ति करने में असमर्थ रहा। लोग मस्तिष्क के साथ हृदय को भी स्थान देना चाहते थे। सूफी काव्य ने प्रेम-मार्ग की पुष्टि कर जनता की इस माँग को कुछ पूरा किया था; किन्तु इसके साथ मुसलमानी प्रभाव भी बढ़ता जाता था और इस में विदेशीपन था इसलिए इसका हिन्दुओं में अधिक प्रचार न हुआ। हिन्दू धर्म में शुष्क वेदान्त की प्रतिक्रिया-स्वरूप विशिष्टाद्वैत तथा अन्य वैष्णव सम्प्रदायों का उदय हो चला था। विशिष्टाद्वैत के अनुयायी स्वामी रामानन्द ने वैष्णव धर्म को व्यापक बनाया।

महात्मा कबीरदास (जन्म संवत् १४५६ और मृत्यु १५७५) नीमा और नीरु नामक जुलाहा दंपति के यहाँ पालित होकर भी (ये जन्म के ब्राह्मण कहे जाते हैं) रामानन्द के शिष्य बने। इन्होंने निर्गुण उपासना रखते हुए नाम को प्रधानता दी और काव्य में ज्ञान-मार्ग की धारा बहाई। गुरु नानक, दादूदयाल (सं० १६०१ से १६६० तक), सुन्दरदास (संवत् १६५५-१७४६), मलूकदास आदि संत कवि ज्ञानमार्गियों में प्रधान हैं। सुन्दरदास जी का 'सुन्दरविलास' बहुत लोकप्रिय है। कबीर ने नाम गुणगान

के साथ अपने काव्य में योग का भी पुट दिया, इन्होंने हिन्दू मुसलमानों के धार्मिक कट्टरपन को भी रोकना चाहा—'इन दोउन राह न पाई।' कबीरदास ने निर्गुणवाद को शृंगारिक रूप भी दिया है। संत-कवियों ने गुरु-महिमा गाकर वेदान्तवाद को लोकप्रिय रूप दिया।

भक्ति-काव्य ने सन्तों के निर्गुणवाद के स्थान में सगुणोपासना रक्खी। भक्ति-काव्य की दो धाराएँ थी—एक रामोपासना की दूसरी कृष्णोपासना की। रामोपासना का उदय तुलसीदास से हुआ। इस धारा का मूल स्रोत रामानन्दी संप्रदाय में वहा। कृष्ण काव्य पर माधवाचार्य, निंबार्क, चैतन्य, हितहरिवंश, चैतन्य महाप्रभु आदि संप्रदायों का विशेष प्रभाव पड़ा। राम काव्य ने रामचन्द्र जी के जन्म-स्थान की भाषा अवधी को अपनाया और कृष्ण काव्य में श्रीकृष्ण जी की जन्मभूमि की ब्रज-भाषा का पूरा विकास हुआ और वह लोकप्रिय बन गई। ब्रज भाषा के कवियों में अष्टछाप के कवि प्रधान हैं। इनका वर्णन गोस्वामी गोकुलनाथ जी ने अपनी 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' में किया है। सूरदास, नन्ददास (जो गोस्वामी तुलसीदास के भाई कहे जाते हैं) परमानन्ददास, कुंभनदास, कृष्णदास, चतुर्भुजदास, और छीतस्वामी अष्टछाप के कवि माने गए हैं। इनमें सूरदास जी (जन्म सं० १५४०—गोलोकवास १६४०) प्रमुख हैं। इन्होंने वात्सल्य और शृंगार की बहुत उत्तम कविता की और कृष्ण की जीवनमाधुरी से हिन्दी-जगत् को मोह लिया। तुलसीदास जी ने एक आदर्श चरित्र का वर्णन कर ज्ञान और भक्ति का समन्वय करते हुए समाज में मर्यादावाद पर बहुत ज़ोर दिया है। ये दोनों

महात्मा हिन्दी काव्य-गगन के सूर्य और चन्द्र गिने जाते हैं। रामभक्तों में नाभादास, प्रियादास, प्राणचन्द्र और हृदयराम प्रमुख हैं। केशवदास ने रामकाव्य रचा, किन्तु उनमें आलंकारिकता अधिक थी। वे कवि की अपेक्षा पंडित अधिक थे। इनसे पहले भक्ति-काव्य में हृदय का स्थान अधिक था, उसमें भाव के प्राबल्य के साथ सरलता थी। पर इनके बाद धीरे-धीरे काव्य की कुछ रूढ़ियाँ बन गईं। लोग उनका अनुकरण करने लगे और अलंकार आदि को प्रधानता देने लगे। कृष्णोपासक कवि भक्ति-काव्य में राधाकृष्ण का प्रेम नायिका-नायक के प्रेम के रूप में वर्णन करने लगे और कृष्ण जी का नाममात्र रखते हुए काव्य की गति आलं-कारिकता और नायिका-भेद-वर्णन की ओर चली गई। इस पर बादशाही शान-शौकत और विलासिता का भी प्रभाव पड़ा। रीति-ग्रन्थ बनने लगे। कविता नायक-नायिकाओं अथवा अलंकारों का उदाहरण रूप रह गई। इसमें कारीगरी अधिक आगई। इसी को रीति-काव्य या कलाकाव्य कहते हैं। यह संवत् १७०० से १९०० तक रहा। इस समय कविता प्रायः राज-दरबारों की आश्रित होगई थी। भक्त-कवि राज-दरबारों के आश्रित न थे। वे लोग तो यही कहा करते थे कि 'संतन कहा सीकरी (फतहपुर सीकरी) सों काम।' रीति और आलंकारिक कवियों में केशव, देव, भूषण, मतिराम, दूल्हा, ग्वाल, बिहारी और पद्माकर मुख्य हैं। इन्होंने काव्यांगों के वर्णन में शृंगार-रस की अच्छी कविता की। इस शृंगार में थोड़ा-सा भक्ति का भी पुट रहा है। भूषण ने अलंकार वर्णन के साथ वीर-रस को अपनाया।

इसी काल में वीर-काव्य, नाटक आदि भी लिखे गये। वीर काव्य में भूषण का शिवराज-भूषण, लालकवि का छत्र-प्रकाश और सूदन का सुजानचरित्र प्रमुख हैं। नीतिकार कवियों में रहीम, वृन्द और गिरिधर कविराय विशेष रूप से प्रख्यात हैं। इस काल के नाटकों में निवाज कविकृत शकुन्तला नाटक और चन्द्रोदय नाटक मुख्य हैं।

अंगरेज़ी राज्य के उदय के साथ हिन्दी-साहित्य ने एक नया रूप धारण किया। बुद्धिवाद का प्राधान्य हो गया और गद्य का प्रवाह वहने लगा। कवि लोगों ने भी भक्ति के साथ जातीय भावों को अपनाना शुरू किया। भारतेन्दु वाबू हरिश्चन्द्र इस युग के प्रवर्त्तक थे। हिन्दी-गद्य साहित्य के विकास में राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह ने बहुत प्रशंसनीय कार्य किया। हरिश्चन्द्र-युग के कवियों और लेखकों में अंबिकादत्त व्यास, प्रतापनारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी आदि प्रमुख समझे जाते हैं। इनमें ज़िंदा-दिली अधिक थी। इस युग में गद्य को मुख्यता दी गई और ब्रजभाषा परिमार्जित हुई, किन्तु व्याकरण की ओर कम ध्यान दिया गया। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लेखकों का ध्यान भाषा की विशुद्धता की ओर आकर्षित किया—साथ ही साथ काव्य में खड़ी बोली का व्यवहार करने की उत्तेजना दी। इन्होंने संस्कृत छन्दों का भी प्रचार कराया। अयोध्यासिंह उपाध्याय की कविता में (विशेष कर प्रियप्रवास में) संस्कृत का प्रभाव पूर्ण-तया दिखाई पड़ता है। कुछ कवियों ने खड़ी बोली में ब्रजभाषा के रोला, हरिगीतिका आदि छन्दों का व्यवहार किया। छायावादी कवियों ने कविता को छन्द के नियमों से मुक्त कर ताल या लय

की ओर अधिक ध्यान दिया। आजकल के कुछ कवियों ने ब्रज-भाषा को भी अपनाया। ब्रजभाषा के कवियों में सत्यनारायण, वियोगीहरि और 'रत्नाकर' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। खड़ी बोली के कवियों में मैथिलीशरण गुप्त और अयोध्यासिंह उपाध्याय का स्थान बहुत ऊँचा है। छायावादी कवियों में पंत और निराला का नाम उल्लेखनीय है। स्वतंत्रता की लहर के साथ आजकल की कविता में राष्ट्रीय भाव इन दिनों अधिक दिखाई देने लगे हैं। कविता की अपेक्षा गद्य की अधिक वृद्धि हुई है। उपन्यास, गल्प, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र, इतिहास, विज्ञान सभी विषयों के ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं। आजकल हिन्दी-साहित्य का विस्तार और गांभीर्य दोनों बढ़ते जा रहे हैं, जो भविष्य के लिए बड़ा शुभ लक्षण है।

---

८. वर्तमान हिन्दी कविता में अलंकारों का स्थान

यद्यपि कुछ आचार्यों ने अलंकार को काव्य की आत्मा माना है, तथापि बहुमत से काव्य की आत्मा 'रस' अर्थात् आस्वादन-जन्य आनन्द माना गया है। अलंकारों को 'उत्कर्ष हेतवः' अर्थात् अच्छाई को बढ़ाने वाला कहा है। वे अच्छाई को बढ़ा सकते हैं, किन्तु अच्छाई उत्पन्न नहीं कर सकते। अच्छाई भी तभी तक बढ़ा सकते हैं जब तक कि वे उचित सीमा का उल्लंघन न करें। सीमोल्लंघन करते ही वे भार-स्वरूप हो जाते हैं। कविता में पहले जान चाहिए तब अलंकार उसकी शोभा बढ़ा सकते हैं। बिना जान की कविता में अलंकार शव का शृंगार-स्वरूप बन जाते हैं। जहाँ स्वाभाविक सौन्दर्य है वहाँ अलंकार स्वयं आ जाते हैं।

यद्यपि अलंकार-प्रियता मनुष्य में स्वाभाविक है तथापि जब वे साधन से साध्य बन जाते हैं तब वे काव्य की गति में बाधक होते हैं। जिस प्रकार अब समाज में रमणियों की शोभा उनकी स्वच्छता और सरलता में समझी जाती है—'सरलपन ही था उस का मन'—और थोड़े पर हलके और सुंदर आभूषण काम में लाये जाते हैं उसी प्रकार कविता की भी शोभा उसकी स्वाभाविकता में समझी जाती है, और अलंकार भी थोड़े परन्तु हृदयग्राही ही उस की शोभा को बढ़ाते हैं। कविता में अलंकार का नितान्त बहिष्कार तो नहीं हो सकता, क्योंकि अलंकार हमारी क्या सभी भाषाओं के अंग हो गए हैं। हम 'कविता-कामिनी', 'गृहलक्ष्मी', 'नरशार्दूल' 'दम भरना', 'हाथ मारना', 'खींचतान' आदि अनेकों आलंकारिक शब्दों का पद-पद पर प्रयोग करते हैं; पद-पद भी एक अलंकार है।

अलंकार शब्द वा अर्थ के चामत्कारिक प्रयोग माने गए हैं। अर्थ को व्यक्त करना भाषा का सबसे बड़ा चमत्कार है। इसलिए जो अलंकार अर्थ को व्यक्त करने में सहायक होते हैं, जो हमारी कल्पना के सामने मूर्तिमान चित्र अंकित करने की क्षमता रखते हैं, जो अलंकार किसी अज्ञात भाव को ज्ञान और परिचय के क्षेत्र में लाने में योग दे सकते हैं, अथवा जो स्वयं बहाव में आ जाते हैं वा जो कविता की गति को सुन्दर बनाते हैं उन्हीं का आदर है। अलंकार साधन मात्र हैं, साध्य नहीं। अब शब्दों का चमत्कार कम देखा जाता है। भावों का प्रभाव देखा जाता है। लोगों को शब्द-जाल में फाँसने का उद्योग नहीं किया जाता। अब यमक और श्लेष का आदर नहीं रहा। आजकल 'जे नगन जड़ाती[1] ते अब नगन जड़ाती[2] हैं', 'जे तीन बेर[3] खाती ते तीन बेर[4] खाती हैं' की उतनी महिमा नहीं रही और न 'वह सुधाधर[5] तू हूँ सुधाधर[6] मानिए द्विज-राज[7] तेरे द्विजराज[8] राजैं' में सौंदर्य की अभिव्यक्ति देखी जाती है। अनुप्रासों का मान ज़रूर है, क्योंकि उनका संबंध कविता की गति से है। अनुप्रासमय वाक्य सुनने में कानों को सुखद और

---

१. नगन = नगों का बहुवचन, रत्न; जड़ाती = गहनों में जड़वाती। २. नगन = नग्न, वस्त्रों के अभाव से; जड़ाती = जाड़े में मरती। ३. तीन बेर = तीन बार; सुबह, दुपहर, शाम। ४. तीन = गिनती के तीन बेर (उस नाम का फल)। ५. सुधाधर = सुधा + धर, सुधा का रखने वाला, चन्द्र। ६. सुधाधर = सुधा + अधर, सुधा है अधरों में जिसके। ७. द्विजराज = चन्द्रमा। ८. द्विजराज = दाँत। दाँत और चन्द्रमा दोनों ही दो बार उत्पन्न होने के कारण द्विजराज कहलाते हैं।

उच्चारण में सुलभ प्रतीत होते हैं। एक से शब्दों की आवृत्ति के कारण श्रवण-तन्तुओं और मुख की पेशियों में परिवर्तन करने का परिश्रम नहीं करना पड़ता। सजा सुमनों के सौरभ हार, नवल प्रवाल, म्लान-मना, वारि-विहार, तरल-तरंगों, गरज गरन के गान, धूम-धुँआरे, काजर-कारे, कुसुमित कानन, आदि सुन्दर अनुप्रास मिलते हैं। वर्तमान कविता में शब्दालंकारों की वृथा भरमार नहीं है, किन्तु उनका नितान्त अभाव भी नहीं है। यत्र-तत्र शाब्दिक चमत्कार देखने में आ जाते हैं।

'युग उड़ जावे उड़ते उड़ते'

× × × ×

इन्दु पर उस इन्दुमुख पर, साथ ही
थे पड़े मेरे नयन, जो उदय से,
लाज से रक्तिम हुए थे—पूर्व को
पूर्व था, पर वह द्वितीय अपूर्व था।

अर्थालंकारों में साम्यमूलक अलंकारों का विशेष मान है क्योंकि वे भावों के चित्र खींचने में सहायक होते हैं। इसीलिए उपमाओं और मालोपमाओं की भरमार है। यह भरमार बुरी मालूम नहीं होती क्योंकि आजकल उपमाओं में नवीनता रहती है। उपमाएँ भी अब बाहरी नहीं वरन् भीतरी होती जाती हैं, प्राकृतिक चीजों के उपमान मानवीय भाव बनाए जाते हैं। छाया के लिए पन्त जी कहते हैं—

पीले पत्तों की शय्या पर
तुम विरक्ति सी, मूर्छा सी

विजन विपिन में कौन पड़ी हो
विरह-मलिन दुख-विधुरा सी।

ज़रा निराला जी का विधवा का वर्णन देखिए, कैसी पवित्रता की मूर्ति खड़ी कर दी है!

वह इष्ट-देव के मंदिर की पूजा-सी,
वह दीप शिखा-सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल-तांडव की स्मृति रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी।

यद्यपि प्रातःस्मरणीय गोस्वामीजी ने भी वर्षा-वर्णन में आध्यात्मिक उपमाएँ दी हैं, तथापि आजकल इनका प्रचार अधिक है। रूपक भी बड़े सुंदर रचे जाते हैं किंतु इन में भी नवीनता रहती है।

पड़ी अँधेरे के घेरे में कब से
खड़ी संकुचित है कमलिनी तुम्हारी
मन के दिनमणि, प्रेम प्रकाश!
उदित हो आओ हाथ बढ़ाओ,
उसे खिलाओ खोलो प्रियतम द्वार
पहन लो उसका उपहार। 'निराला'

ऐसे वर्णनों में दुहरा रूपक रहता है। प्रेमिका और प्रेमी का प्रेम जीव और ईश्वर के संबंध का रूपक हो जाता है।

उत्प्रेक्षाएँ भी आती हैं, किंतु वे प्रतीयमान अधिक होती हैं। उनमें 'जिमि' 'मानों' आदि वाचक चिह्न कम होते हैं।

कहीं-कहीं साधारण उपमाओं के अतिरिक्त उपमाएँ 'ललित'

के रूप में भी मिल जाती हैं । इनमें उपमेय की उपमान से ईर्षा अथवा उसका लज्जित होना वतलाया जाता है ।

यत्र तत्र विशाल कीर्ति-स्तंभ हैं,
दूर करते दानवों का दंभ हैं ।

उपमेय की विशेपता दिखाने वाले व्यतिरेक का उदाहरण 'साकेत' से ही लीजिए—

स्वर्ग की तुलना उचित ही है यहाँ
किन्तु सुर-सरिता कहाँ सरयू कहाँ ?
वह मरों को मात्र पार उतारती
यह यहीं से जीवितों को तारती ।

उपमेय को उपमान के रूप में वताने वाले प्रतीप का भी उदाहरण लीजिए—

संध्या फूली, परम-प्रिय की कान्ति सी है दिखाती ।
× × ×
पाया जाता वर वदन सा ओप आदित्य में है ।

—प्रियप्रवास

सन्देह के भी उदाहरण वहुत मिलते हैं किन्तु उनमें भी नवीन कविता की अन्तर्मुखी वृत्ति का परिचय मिलता है । मानसिक अवस्थाओं के सम्वन्ध में सन्देह आता है ।

विरह है या अखंड संयोग
शाप है या वरदान ?

सम अलंकार में परस्परानुकूलता वताई जाती है, इसी कारण वह चित्त को अधिक प्रसन्नता देता है । उसके वड़े सुन्दर उदाहरण

मिलते हैं—'हौं प्रसिद्ध पातकी तू पाप-पुंज-हारी' आदि प्राचीन उदाहरण बड़े सुन्दर हैं। इस अलंकार का नया रूप भी देखिए—

तुम तुंग हिमालय शृङ्ग
और मैं चञ्चल गति सुर सरिता
तुम दिनकर के खर किरण जाल
मैं सरसिज की मुसकान

इसमें तुम (ईश्वर) और मैं (जीव) का परस्पर स्वाभाविक सम्बन्ध बतलाया गया है। अन्योन्य में भी ऐसी ही परस्परानुकूलता रहती है।

उस बिन मेरा दुख सूना
मुझ बिन वह सुषमा फीकी। —महादेवी

इसमें विनोक्ति भी है।

प्रहर्षण अलंकार में तो चित्त को प्रसन्नता होती ही है, विषादन भी हमारे भावों को तीव्रता देने के कारण आदरणीय समझा जाता है। देखिए मैथिलीशरणजी पंचवटी में लक्ष्मणजी से क्या कहलाते हैं—

रखते हैं हम सयत्न पुर में
जिन्हें पींजरों में कर बन्द।
वे पशु पक्षी भाभी से हैं।
हिले यहाँ स्वयमपि सानन्द।

यहाँ प्रहर्षण अलंकार है।

प्रधान अलंकार प्रायः सभी मिलते हैं। दो एक चमत्कार-पूर्ण 'अधिक' और 'विरोधाभास' के नमूने और देख लीजिए। अधिक अलंकार के वर्णनों में छोटे आधार में बड़ी चीज़ दिखाई जाती है।

कथा है कण कण करुण अथाह
बूँद में है वाड़व का दाह।
लघु प्राणों के कोने में
खोई असीम पीड़ा देखो।

× × ×

मछली में सागर तिरता है
सीपी में है रत्नाकर।
आँखों के आँगन में बस्ती
कोनों में सूने निर्झर।

विरोधाभास के भी दो एक उदाहरण लीजिए—

अमरता है जीवन का ह्रास
मृत्यु जीवन का चरम विकास।

नये युग के साथ वर्तमान कविता में कुछ नए अलंकार भी आ गए हैं। जहाँ हम अँगरेज़ी के मुहावरों को हिन्दी में देखते हैं वहाँ अँगरेज़ी के अलंकारों का भी अनुकरण पाते हैं। इन नवीन अलंकारों में विशेषण विपर्यय (Transferred Epithet) और पुरुषत्वारोपण (Personification) अलंकार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जहाँ विशेषणों को उनके प्राकृतिक विशेष्यों से हटाकर उनसे संबन्ध रखने वाले दूसरे विशेष्यों में लगा कर चमत्कार उत्पन्न किया जाता है वहाँ विशेषण विपर्यय अलंकार होता है। जैसे 'निद्राहीन रात्रि'; मनुष्य निन्द्राहीन होता है, रात्रि नहीं। इसी तरह 'गीले गान'; नेत्र अश्रुओं के कारण गीले होते हैं, गान गीले नहीं होते। लेकिन गान में करुणा की व्यंजना करने के लिए

'गीले गान' कहते हैं। 'तुतले भय', 'अजान नयन' इसी के उदाहरण हैं। और लीजिए—

कल्पने! आओ सजनि उस प्रेम की
सजल सुधि में मग्न हो जावें पुनः।

× × ×

किंतु, विदा लूँ कैसे तुम से
ऐ जीवन-संगिनी पीड़ा,
हाय, हृदय में कभी न तुमने
की होती मादक क्रीड़ा।

अँगरेजी भाषा के बहुत से अलंकार हमारे यहाँ की लक्षणा वृत्ति पर निर्भर हैं। 'सजल सुधि' आदि आलंकारिक शब्दों की लक्षणा के आधार पर ही व्याख्या होगी। पुरुषत्वारोपण पहले भी हुआ करता था किंतु इस नाम का विशेष अलंकार न था; अब उसका प्राचुर्य हो गया है। पहले प्राकृतिक पदार्थों में मानवीय भावों की व्यंजना रहती थी, अब वह व्यंजना ज़रा स्पष्ट हो गई है।

वर्तमान कविता में अलंकारों का तिरस्कार नहीं है, वरन् उनको हलका और स्वाभाविक बनाने का प्रयत्न किया गया है। अब न शब्द-जाल रचे जाते हैं और न पूस माह में विरहिणी-तन-तापोत्थित लपटों द्वारा गुलाब-जल की शीशी को बीच ही में सुखा देने वाली अत्युक्तियाँ दिखाई पड़ती हैं; किन्तु इसी के साथ-साथ वर्तमान कविता ने प्राचीन कविता के सभी गुणों को किसी न किसी रूप में अपनाया है और उनमें सुखद नवीनता भी उत्पन्न की है।

६. हिन्दी में हास्य-रस

प्राचीन हिन्दी-साहित्य में वीर और शृंगार के सहायक के रूप में तो हास्यरस बहुत मिलता ही है, परन्तु इसके अतिरिक्त स्वतंत्ररूप से भी थोड़ा बहुत पाया जाता है। हिंदी-साहित्य में हास्य-रस का सबसे पहला स्वरूप अमीर खुसरो (१३१२-१३८१) की मुकरियों में मिलता है। मुकरियों में पहले प्रसंग ऐसा बाँधा जाता है कि स्वभावत: यह आशा होने लगती है कि अंत में 'पति' शब्द आवेगा, क्योंकि सारे लक्षण पति में घटते हैं, किन्तु पीछे से एक-साथ किसी दूसरी वस्तु का नाम ले दिया जाता है और उसमें भी सारे लक्षण घट जाते हैं। जैसे—

जब मेरे मंदिर में आवे, सोते मुझको आन जगावे।
पढ़त फिरत वह विरह के अच्छर, ऐ सखि, साजन ! ना, सखि, मच्छर।
वह आवे तब शादी होय, उस बिन दूजा और न कोय।
मीठे लागें वाके बोल, ऐ सखि, साजन ! ना, सखि, ढोल।

कबीर जी बड़े निर्भय सुधारक थे। हिंदू मुसलमान, दोनों ही की समान रूप से हँसी उड़ाते थे। उन्होंने जटाधारियों को बकरा बनाया है, मूँड मुड़ानेवालों को भेड़ कहा है—

बार-बार के मूड़ते, भेड़ न बैकुँठ जाय।

उन्होंने ज़ोर से बाँग लगाने वाले मुसलमानों के खुदा को बहरा बना दिया है—

मसजिद भीतर मुल्ला पुकारे, क्या साहब तेरा बहिरा है।

सूरदास जी ने अपने वात्सल्य में भी कहीं-कहीं हास्य का पुट दिया है। माखन-चोरी में पकड़े हुए बालकृष्ण के उत्तर बड़े मनोरंजक हैं, कहीं तो वे कह देते हैं कि दही की मथनी से चींटी निकाल रहा था और कहीं कह देते हैं कि लड़कों ने उनके मुँह पर मक्खन मल दिया है। देखिए, क्या ही अच्छा उत्तर है—

मैं जान्यौ यह घर अपनो है, या धोखे में आयो।
देखत हौं गोरस में चींटी काढ़न को कर नायो॥

गोस्वामी तुलसीदास ने तो स्वयं हास्य-रस के देवता प्रमथेश महादेव जी के संबंध में हास्य किया है—

वर अनुहार बरात न भाई,
हँसी करयिहौ पर-पुर जाई।

काम को जीतने का अभिमान करने वाले नारद जी को उन्होंने स्वयं काम का शिकार बना दिया। अपनी कामांधता में वे कैसे हास्यास्पद बन जाते हैं—

पुनि-पुनि मुनि उकसहिं अकुलाईं,
देखि दशा हरगन मुसकाईं।

रहीम ने तो स्वयं लक्ष्मीजी और भगवान पर हाथ साफ़ किया है। लक्ष्मीजी की चंचलता के विषय में वे कहते हैं—

पुरुष पुरातन की वधू क्यों न चंचला होय।

'अकबर-बीरबल-विनोद' विख्यात ग्रन्थ है, किंतु वह बहुत काल तक अलिखित रूप में ही रहा।

कविवर बिहारीलाल ने भी श्रीकृष्ण और राधिका की हँसी उड़ाई है। 'वृषभानुजा' और 'हलधर के वीर' में क्या ही उत्तम श्लेष है!

चिरजीवौ जोरी जुरै क्यौं न सनेह गँभीर।
को घटि, ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर॥

हिंदी-साहित्य का विकास ऐसे समय में हुआ जब मुसलमानों के आक्रमण शुरू हो गए थे। मारकाट के समय में या तो वीर-रस की जाग्रति होती है, या भक्ति और ज्ञान की। जब शांति का समय आया, तब कवियों की प्रतिभा मुसलमानी तथा हिंदू-राजदरबारों की विलास-प्रियता से प्रभावित हो गई। इसलिए, शुद्ध और स्वतंत्र हास्य का उदय कुछ पीछे हुआ। जब उदय हो गया, तब सभी प्रकार के हास्य की पुष्टि हुई। केवल हास्यमय वर्णन ही नहीं हुए, वरन् हँसमुख लोगों की प्रशंसा भी होने लगी—

व्यंग ललित बोलत बचन रसन हसन के दाव।
जहँ जैसो रस चाहिए, तहँ तैसो ही भाव॥

बेनी (सं० १६९०) आदि कवियों ने सूमों, वैद्यों और पेशकारों आदि की खूब ही हँसी उड़ाई है। दयाराम के दिए हुए आमों का क्या ही अच्छा वर्णन है—

चींटी की चलावै को मसा के मुख आय जायँ,
साँस की पवन लागे कोसन भगत है।
ऐनक लगाय मरु-मरु कै निहारे परैं,
अनु-परमानु की समानता खगत है।
बेनी कवि कहै हाल कहाँ लौं बखान करौं,
मेरी जान ब्रह्म को विचारिबो सुगत है।
ऐसे आम दीन्हें दयाराम मन मोद करि,
जा के आगे सरसों सुमेरु सो लगत है।

भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र जी ने साहित्य के और सब अंगों के साथ हास्य की भी खूब पुष्टि की है। उनकी 'अंधेरनगरी', 'वैदिकी-हिंसा हिंसा न भवति', 'पाखंड-विडंबना' आदि अच्छे प्रहसन हैं। 'अंधेरनगरी' में चूरन का लटका बड़ा मनोरंजक है। प्रतापनारायण मिश्र की कविताओं में भी हास्य के कहीं-कहीं अच्छे उदाहरण मिलते हैं। परन्तु जहाँ भारतेन्दु का हास्य सभ्य और सुसंयत था वहाँ इनके हास्य में ग्रामीणता की पुट आगई थी। 'बूढ़े मुँह मुँहासे' भी एक अच्छा प्रहसन है। इस प्रकार धीरे-धीरे हास्य साहित्य में अपना स्वतंत्र स्थान पाता गया। आजकल के युग में उसका खूब विकास हुआ है। नाटकों में विदूषक या अन्य हास्य के दृश्य रखने की चाल बहुत चल गई है। हास्य के सभी अंगों की पुष्टि हुई है, और उनके द्वारा मनोविनोनोद और समाज-सुधार दोनों ही में सहायता पहुँची है।

यह तो कहना कठिन है कि आजकल के हास्य-संबंधी लेखकों में किसका सर्वप्रथम स्थान है, क्योंकि सब में कुछ-न-कुछ विशेषताएँ हैं, जिनमें वह दूसरों से बढ़े-चढ़े होते हैं, तथापि श्री अन्नपूर्णानंद वर्मा के हास्यग्रन्थ लोकप्रिय हो रहे हैं। उनकी किताबों में—'मेरी हजामत', 'मगन रहु चोला', 'महाकवि चच्चा' और 'मंगलमोद' प्रमुख हैं। इन सब में उनकी प्रतिभा का क्रमशः विकास होता गया है। 'महाकवि चच्चा' में बहुत ही शिष्ट और सुष्ठु हास्य है। उसमें इतिहास-लेखकों की खोजपद्धति का अच्छा खाका खींचा गया है। वे लोग जो चाहें सिद्ध कर सकते हैं। जो लोग पद्य-मात्र लिखने को कविता समझते हैं और सब बातों को पद्य में कह देना ही कवि-

प्रतिभा की इयत्ता मानते हैं, उनकी भी अच्छी हँसी उड़ाई है। बिल्ली तोते को ले जाती है, किन्तु पंडित जी नौकर को पद्य ही में पुकारते हैं। देखिए—

अरे पनरुआ, दौड़ बिलरिया ले गई सुग्गा
तू मन मारे खड़ा निहारे जैसे भुग्गा
अरे पनरुआ, देख पड़ा है खाली पिंजड़ा
तू मन मारे खड़ा निहारे जैसे हिंजड़ा

पर जब पनरुआ अपनी जगह से न हिला तो पंडित जी ने फिर कहा—

अरे पनरुआ दौड़ बिलरिया बैठी छप्पर।
तू मन मारे खड़ा बना है जैसे पत्थर॥
अरे पनरुआ दौड़ बिलरिया नीचे उतरी।
तू मन मारे खड़ा बना है ज्यों कठपुतरी॥

'मेरी हजामत' में भोजन-भट्ट ब्राह्मणों की खूब खिल्ली उड़ाई गई है।

दावा बहुत है इलम रियाज़ी में आप को।
बाम्हन का पेट आके ज़रा नाप लीजिए॥

जी० पी० श्रीवास्तव भी सामान्य पाठकों में बहुत लोकप्रिय हैं। उन्होंने हास्यमय परिस्थितियों के उपस्थित करने में, फैशन के भूतों का भूत उतारने में, झेंपू लोगों की झेंप की हँसी उड़ाने में, अच्छी कुशलता प्राप्त की है, किन्तु उनके हास्य में एक प्रकार का खोखलापन है। जैसा साहित्य होना चाहिए वैसा वह नहीं है, और उसमें उर्दूपन अधिक है। इसमें केवल इनका कुसूर नहीं है;

अधिकांश जनता की भी ऐसी ही रुचि है। पाठकों से रुचि-साम्य रखने के कारण ही वे इतने लोकप्रिय हैं।

प्रसिद्ध हास्य-रसावतार श्रीयुत जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी तो आजकल अदृश्य हो चुके हैं। और पं० हरिशंकर शर्मा ने यद्यपि अन्नपूर्णानंदजी और श्रीवास्तव जी के समान अभी ख्याति प्राप्त नहीं की, तथापि उनका हास्य उच्चकोटि का है। गद्य में अनुप्रासों का बाहुल्य उनकी विशेषता है। उनके 'चिड़ियाघर' के 'चहचहाता चिड़ियाघर' नामक पहले अध्याय में वर्तमान कवियों की यशोलिप्सा का अच्छा खाका खींचा गया है। कवियों की कविता-कंडु के साथ-साथ वक्ताओं की 'व्याख्यान-व्याधि' और वकीलों के 'वकालत-व्रण' के अजीब रोगों के बहुत ही अद्भुत नुस्खे उन्होंने बतलाए हैं। अँगरेज़ी लेखक 'स्विफ्ट' की भाँति जानवरों के वार्तालाप में मानवसमाज की बुराइयों का दिग्दर्शन कराया है। उसमें व्यंग्य के अच्छे उदाहरण हैं। उनके अप्रकाशित 'पिंजरा पोल' में प्राचीन कवियों के परिहासमय अनुकरण अच्छे हैं। देखिए तुलसीदास जी की भाषा में 'मोटरकार' का क्या ही उत्तम वर्णन है—

सब यानन ते श्रेष्ठ अति, द्रुत-गति-गामिनि 'कार'।
धनिक जनन के जिय बसी, निस दिन करत विहार॥

मंजुल मूर्ति सदा सुख दैनी। समुझि सिहावहिं स्वर्ग-नसैनी।
उछरत-कूदत किलकत जाई। सब कहँ लागत परम सुहाई॥
पौं-पौं करत सुहावति कैसे। मुनि मख संख बजावहिं जैसे।
चारु चक्र-धारिनि मन भावन। कलरव करन विमोद बढ़ावन।
छाँह करन हित छयेउ विताना। विचरत फिरति वरन धरि नाना॥

पीचहि तेल उड़ावहि धूरी। पदचारिन कहँ दुरगति पूरी॥
विद्युत दीप करत उजियारी। जनु हरि चन्द उगेउ तम टारी॥
तेहि चढ़ि जन निज गर्व दिखावहिं। पद, प्रभुता, प्रमाद दरसावहिं॥
मग विच कीच उलीचत कैसे। फागुन फाग रचहिं जन जैसे॥
वालें विक्रम जब जात नसाई। सरकत नेक न उठति उठाई॥

वाहन-कुल की परमगुरु, सब कहँ सुलभ न सोय।
रघुवर की जिन पै कृपा, ते नर पावहिं तोय॥

स्वर्गीय पं० ईश्वरप्रसाद के 'चना-चबेना' में भी इसी प्रकार के उत्तम परिहासमय अनुकरण मिलते हैं।

घन घमंड नभ गरजत घोरा, टका-हीन कलपत मन मोरा॥
दामिनि दमक रही घन माहीं, जिमि लीडर की मति थिर नाहीं॥

स्व० पं० बदरीनाथ भट्ट की 'चुंगी की उम्मेदवारी' में वोट-भिक्षा की खूब हँसी उड़ाई गई है और उनके 'विवाह-विज्ञापन' प्रहसन में आजकल के विवाह के पीछे दीवानों को अच्छी तरह छकाया गया है। उनकी चेष्टाओं का सजीव चित्र खींचा गया है।

पं० रामनारायण शर्मा के 'व्यंग-बवंडर' में कलियुगी सन्तों, स्वयंभू लेखकों और समालोचकों का अच्छा मज़ाक उड़ाय गया है। साधुओं का क्या ही अच्छा शब्द-चित्र है! देखिए—

मक्कर कर दुनिया ठगें, शक्कर-पूरी खाय।
लक्कर जारहिं अगिन में, फक्कर संत कहायँ॥

इन पंक्तियों के लेखक ने अपने 'ठलुआ क्लब' में डाक्टर स्तोत्र-द्वारा डाक्टरों की फ़ीस और उनके शल्य-प्रहार की महिमा गाई है। देखिए—

"मुर्दे चीरते-चीरते आपका हृदय इतना इतना कठोर बन जाता है कि मृत्यु आपके लिए साधारण-सी बात हो जाती है। शव शय्या के पास आपका हृदय तनिक भी विचलित नहीं होता। आप योगी की भाँति स्थिर और अचल रहकर फ़ीस की बात-चीत करने में ज़रा भी संकोच नहीं करते······आपकी रिश्वतें 'फ़ीस' के गौरवशाली नाम से प्रख्यात हैं। आप साधारण जल को बहुमूल्य बना, उसमें लक्ष्मी देवी का प्रादुर्भाव कर समुद्र-मंथन का नित्य अभिनय करते हैं। वैसे तो स्वयं धन्वन्तरि रूप से आपका भी प्रादुर्भाव लक्ष्मी जी के साथ हुआ था।"

आज-कल हिन्दी में हास्य-रस के बहुत से ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं। 'ठोकपीटकर वैद्यराज', 'रावबहादुर', 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' आदि बहुत अच्छे प्रहसन लिखे गए हैं। स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल राय के बंगला से अनुवादित 'मूर्ख-मंडली' और 'सूम के घर धूम', बंकिमचन्द्र का 'चौबे का चिट्ठा' तथा श्रीपरशुराम जी के 'भेड़िया धसान' और 'लंबकर्ण' भी पठनीय हैं। 'विशालभारत' में प्रकाशित उनका हनुमान जी का विवाह बड़ा ही साहित्यिक और सुरुचिपूर्ण प्रहसन है। हास्य में सुरुचि की बड़ी आवश्यकता है। केवल धौलधप्पा और पात्रों के उलटे सीधे नाम रख देना ही हास्य नहीं है। हास्य साहित्यिक होना चाहिए। हर्ष है कि अब हिन्दी में हास्य क्रमशः परिमार्जित और निरापद होता जा रहा है। यदि यही गति वर्तमान रही तो शीघ्र ही हमारी हिन्दी हास्य-रस में किसी भाषा से पीछे न रहेगी।

---

१०. वैष्णव संप्रदाय का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव

यह बात सर्वमान्य है कि समाज और साहित्य एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। उनकी उन्नति भी पारस्परिक आदान-प्रदान पर बहुत कुछ अवलंबित है । किसी समय की सामाजिक प्रगति तत्कालीन भौतिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक अवस्थाओं पर निर्भर रहती है । भारतवर्ष में जनता की रुचि बहुत अंश में धर्म पर निर्भर रही है और जनता की रुचि साहित्य-निर्माण में बहुत बड़ा भाग रखती है ।

यह जानने के लिए कि वैष्णव धर्म ने किस प्रकार हिन्दी-साहित्य पर अपनी छाप डाली, हमको भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास पर क्षणिक दृष्टिपात करना होगा । ईसा-मसीह से छः सात सौ वर्ष पूर्व हिन्दू धर्म में ज्ञान और उपासना की धाराओं के अतिरिक्त जो कर्मकांड की धारा बहती थी वह पशु-बध के रुधिर से कलुषित हो रही थी । दर्शन-शास्त्रों ने इस हिंसावाद के विरुद्ध जो आवाज़ उठाई थी उसके अतिरिक्त धर्म की जटिलता की प्रतिक्रिया-रूप में एक विचार-स्वातन्त्र्य की धारा बहने लगी थी । जैन-धर्म और बौद्ध-धर्म का उदय इसी विचार-स्वातन्त्र्य के कारण हुआ । बौद्ध-धर्म का कई सौ वर्ष तक बोलबाला रहा । वह राजधर्म भी बन गया था । बौद्ध-धर्म ने हिन्दू-धर्म को दबा अवश्य लिया था, परन्तु वह उसका समूल नाश नहीं कर सका था । साथ ही साथ भगवान वा

वासुदेव की उपासना और शिव-पूजा भी चल रही थी। बौद्ध-धर्म हिन्दू-धर्म की उदारता एवं अन्य स्वाभाविक नियमों के कारण हिंदू-धर्म में मिलने-जुलने लगा और शैव और तान्त्रिक संप्रदायों से मिल कर उसने एक नया रूप धारण कर लिया जो महायान के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस क्रिया में बौद्ध-धर्म का प्रारंभिक उत्साह नष्ट हो गया था और उसमें वह चरित्रबल भी न रहा था। कर्म-कांड का भी पुनर्जीवन हो चला था। ऐसे ही समय में गौड़पादा-चार्य के शिष्य श्री शंकराचार्य ने ईसा की आठवीं शताब्दी में ब्रह्मवाद और मायावाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर बौद्ध-धर्म एवं कर्मकांड का प्रभाव हटाया। शंकराचार्य की बुद्धि की प्रखरता के कारण खंडनात्मक कार्य तो बहुत सफल हुआ किन्तु शुष्क निर्गुणवाद लोगों के हृदय में स्थान न पा सका। इस निर्गुणवाद में हार्दिक भावों के लिए कम स्थान था। मनुष्य स्वभाव से उपासना प्रिय है। बौद्ध-धर्म भी आचार-धर्म न रह कर उपासना-धर्म बन गया। ऐसी अवस्था में जनता को ऐसे धर्म की आवश्यकता थी जो संसार की वास्तविकता, आचार की दृढ़ता और भक्ति का प्राधान्य स्थापित कर उनके हृदय को भी संतोष दे। ऐसी ही परिस्थिति में दक्षिण भारत में श्री रामानुजाचार्य (जन्म संवत् १०७४) का उदय हुआ। उन्होंने अद्वैतवाद के स्थान में विशिष्टाद्वैत मत का प्रतिपादन किया। इसके द्वारा उन्होंने संसार की सत्यता बतलाई। परमात्मा को नारायण रूप में मानकर उपासना और भक्ति को स्थान दिया। उनकी शिष्य-परम्परा में चौदहवीं शताब्दी में स्वामी रामानन्द जी हुए, जिन्होंने विष्णु के अवतार राम की उपासना पर

ज़ोर दिया और एक बड़ा भारी संप्रदाय खड़ा किया। इन्होंने धर्म को संकुचित न रख शूद्रों को भी दीक्षा दी। गोस्वामी तुलसीदास भी इन्हीं के संप्रदाय के थे। कबीर ने स्वयं इनसे दीक्षा ली थी। रामानन्द के द्वारा साहित्य में दो शाखाओं का उदय हुआ। एक रामोपासना की, जिसका सूत्रपात गोस्वामी तुलसीदास जी से हुआ और दूसरी सन्तवाणियों की, जिसका सूत्रपात कबीर से हुआ। कबीर भी रामोपासक थे, किन्तु अधिकतर नाम के ही उपासक थे और ज्ञान-कांड की ओर अधिक झुके हुए थे। जिस प्रकार रामानुजाचार्य के संप्रदाय से रामोपासना को उत्तेजना मिली उसी प्रकार निंबार्काचार्य, वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु के सिद्धान्तों से कृष्णोपासना को उत्तेजना मिली। निंबार्काचार्य तैलंग थे, वल्लभाचार्य भी दाक्षिणात्य थे (जब इनके माता-पिता तीर्थ-यात्रा कर रहे थे, तब इनका जन्म बनारस में हुआ था)। यद्यपि चैतन्य महाप्रभु बंगाल निवासी थे, तथापि कृष्णोपासक होने के कारण कृष्ण की जन्म-भूमि मथुरा-वृन्दावन को ही इन्होंने अपना केन्द्र बनाया था। इन सब संप्रदायों के अनुयायी राम और कृष्ण रूप विष्णु के अवतारों को मानने के कारण वैष्णव कहलाते हैं। मध्वाचार्य के भी द्वैतवाद सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्तों से कृष्णोपासना और भक्तिवाद को बहुत कुछ सहा-यता मिली। चैतन्य संप्रदाय ने तथा अन्य वैष्णव संप्रदायों ने भगवन्नाम-कीर्तन को प्रधानता देकर संगीत को महत्ता दी। चैतन्य महाप्रभु ने जयदेव के गीत गोविंद और विद्यापति के पदों को अपनाकर उनका प्रचार बढ़ाया। ये लोग कृष्ण

भगवान के ऐश्वर्य के उपासक नहीं थे वरन् माधुर्य के उपासक थे, इसलिए वैष्णव संप्रदायों में भगवान की बाललीला और शृंगारलीला का प्राधान्य हो गया। बंगाल में विद्यापति और चंडीदास ने श्री-कृष्ण और राधिका के प्रेम का वर्णन कर उनको नायक-नायिका का रूप दे दिया था। इन सब बातों का प्रभाव ब्रज-मंडल के काव्य पर पड़ा। ब्रज की भाषा स्वभावतः मधुर और ललकती होने के कारण शृंगार और वात्सन्य का उत्तम माध्यम बन गई। शान्त भाव के अतिरिक्त दांपत्यभाव, वात्सल्यभाव, दास्य और सख्यभाव (जिस में सखी भाव भी शामिल था) वैष्णव उपासना के प्रकार बन गये। लोग अपनी अपनी रुचि के अनुकूल इन्हीं भावों में से किसी एक भाव को अपनाने लगे। वैष्णव-धर्म में मनुष्य विष्णुरूप परमात्मा से संबंध स्थापित करना चाहता है। जो संबंध मनुष्यों में प्रचलित है उन्हीं संबंधों में वैष्णव-भक्त परमात्मा को देखने लगे। भक्तिवाद की वृद्धि हुई और भक्ति के भी नौ प्रकार हो गए जो नवधा भक्ति के नाम से विख्यात हैं। सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी की राजनीतिक अवस्था भी साहित्य-वृद्धि के अनुकूल थी। मुग़ल-साम्राज्य की जड़ जम गई थी। देश में बहुत हलचल नहीं थी और अकबर हिंदू और हिन्दी को अपनाना भी चाहता था।

वैष्णव धर्म के प्रेम और भक्ति-संबंधी सिद्धान्तों के लिए ब्रज-भूमि और ब्रज-भाषा उर्वरा भूमि मिली। बंगाल के प्रभाव से तथा कीर्तन में संगीत के प्राधान्य से गाने के योग्य पद बनाए जाने लगे और उन्हीं में कृष्णलीला का वर्णन होने लगा। प्रेम के वर्णन में नायक-नायिकाओं का भी भेद चल पड़ा और उसकी छाप हिन्दी

काव्य पर बहुत दिनों तक रही। पहले तो यह वर्णन केवल आध्यात्मिक भाव से ही होता था। इसमें माधुर्य-भाव ने और भी उत्तेजना दी। ऐश्वर्य की उपासना मनुष्य की आत्मा को एक प्रकार से नीचा करती है, वह दवाव की उपासना है। माधुर्य की उपासना प्रेम की उपासना होने के कारण स्वतंत्र समझी गई। लोग इस मूल-भाव को तो भूल गये और शृंगारोपासना यहाँ तक वढ़ गई कि सिवाय राधा और कृष्ण के दैवी नाम के उसमें आध्यात्मिकता विलकुल न रही। राधा और कृष्ण का नाम भौतिक वासना को एक दैवी रूप देने का वहाना वन गया। यह शृंगार भाव ऐसा दृढ़ हो गया कि इसने थोड़ा वहुत रामोपासना पर भी अपना प्रभाव डाल दिया। रामचंद्र जी का भी कालिन्दीकूल के स्थान में सरयू-तट का विहार कवियों की कल्पना का विषय वन गया। यही प्रेमभाव वढ़ते-वढ़ते आलंकारिक साहित्य का भी जन्मदाता हो गया। शुद्ध स्वाभाविक प्रेम का उत्कर्ष वढ़ाने के लिए नाना प्रकार के कृत्रिम अलंकारों का प्रयोग होने लगा और नायक-नायिकाओं का विस्तार वढ़ने लगा। समस्त शृंगारी काव्य में यहाँ तक कि सन्तों के और वर्तमान रहस्यवाद में भी वैष्णव धर्म की छाप दिखाई पड़ती है।

अव यहाँ पर रामोपासक और कृष्णोपासक कवियों का थोड़ा सा वर्णन कर देना अनुपयुक्त न होगा।

रामोपासक कवियों में गोस्वामी तुलसीदास मुख्य हैं। रामचन्द्र जी की जन्मभूमि अवध में होने के कारण तुलसीदास जी ने अवधी भाषा को अपनाया था। तुलसीदास जी ने सूरदास जी के ही अनुकरण और प्रभाव से पदों की भी रचना की थी। दूसरा

नाम जो राम काव्य के संबन्ध में आता है वह केशवदास जी का है। इन्होंने आचार्यत्व और पांडित्य-प्रदर्शन अधिक किया है, इसी कारण इनकी रामचन्द्रिका जनता में प्रचार न पा सकी। प्रियादास ने भी रामोपासना सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे हैं। राजा रघुराजसिंह, रसिक बिहारी आदि और कई कवियों ने भी रामचरित्र लिखा है। रामोपासक कवियों की परंपरा में पंजाबी कवि हृदयराम जी का नाम अच्छा स्थान पाता है। उन्होंने रामचरित्र नाटक-रूप में लिखा था। वर्तमान काल में श्री मैथिलीशरण गुप्त ने रामोपासना की परंपरा को जीवन प्रदान किया है।

कृष्णोपासक कवियों में महात्मा सूरदास, मीरा और रसखान का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

कृष्णोपासक संप्रदायों में पाँच संप्रदाय मुख्य हैं। (१) वल्लभ संप्रदाय (२) राधावल्लभीय संप्रदाय (३) गौड़िया संप्रदाय (४) टट्टी संप्रदाय (५) निंबार्क संप्रदाय। हरेक संप्रदाय के अलग अलग कवि हुए हैं।

(१) वल्लभ संप्रदाय—सूरदास, कृष्णदास, परमानंददास और कुंभनदास चार कवि स्वयं वल्लभाचार्य के शिष्य थे और चतुर्भुजदास नंददास, गोविंद स्वामी, छीतस्वामी उनके पुत्र श्री विट्ठलनाथ जी के शिष्य थे। विट्ठलनाथ जी के पुत्र गोकुलनाथ जी ने इन कवियों का वर्णन व्रजभाषा गद्य में लिखा है। वल्लभ संप्रदाय में बालकृष्ण की उपासना है, इसी कारण सूरदास ने बाल-चरित्र का वर्णन बहुत ही विशद रूप से किया है। ऐसा उत्तम वर्णन शायद ही किसी साहित्य में हो। रसखान भी इसी संप्रदाय के हुए हैं।

(२) राधावल्लभीय संप्रदाय—इसके प्रवर्तक श्री हितहरिवंश जी थे। इनका जन्म वाद ग्राम में संवत् १५३० में हुआ था। कहा जाता है कि स्वयं राधिकाजी ने इनको मन्त्र-दीक्षा दी थी। इनके मतानुसार राधिका जी को स्वयं भगवान से भी अधिक प्रधानता देनी चाहिए क्योंकि भगवान भी उनके वश में हैं। हितहरिवंश जी के ८४ पद भाषा के प्रवाह और माधुर्य में बहुत ही श्रेष्ठ हैं। ध्रुवदास जी और वृन्दावन चाचा जी भी इन्हीं के संप्रदाय के हैं।

(३) गौड़िया संप्रदाय—इस में बंगाल का अधिक प्रभाव है। गदाधर भट्ट, ललित किशोरी और ललित माधुरी (जिन महानुभावों का मन्दिर शाह जी साहिबा के नाम से प्रख्यात है) इस संप्रदाय के मुख्य कवि हुए हैं। श्री हरिराम व्यास जी का भी कुछ दिनों गौड़ संप्रदाय से संबंध रहा था।

(४) टट्टी संप्रदाय—इसको सखी संप्रदाय कहते हैं। इसके प्रवर्तक स्वामी हरिदास संगीत में बड़े निपुण थे। कहा जाता है कि ये तानसेन के गुरु थे। इन्होंने भी अच्छे पद बनाए हैं। श्री सहचरी शरण जी और श्री भगवत रसिक जी भी इसी संप्रदाय के कवि हुए हैं।

(५) निंबार्क संप्रदाय—श्री घनानन्द जी इस संप्रदाय के मुख्य कवि हुए हैं।

वर्तमान समय में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, रत्नाकरजी, उपाध्याय जी, सत्यनारायण जी और वियोगी हरि जी ने कृष्ण काव्य की परंपरा को जीवित रक्खा है। संक्षेप में वैष्णव धर्म का प्रभाव हिन्दी-साहित्य, विशेषकर ब्रजभाषा और अवधी पर पूरी

तौर से है । वैष्णवधर्म ने ही हिंदी साहित्य गगन के सूर्य सूर, सुधाधर तुलसीदास और उडगण केशवदास को जन्म दिया है। इनकी रचनाएँ वैष्णव धर्म की अमूल्य संपत्ति हैं। हिन्दी साहित्य में सूरदास से लेकर ३०० साल तक इन्हीं वैष्णव कवियों का दौर-दौरा रहा। भक्ति के इसी अनूठे प्रवाह में तत्कालीन मुसलमान कवि भी वह गये । रहीम, रसखान, आलम, ताज आदि मुसलमान कवियों ने भी राम और कृष्ण की उपासना में सुंदरतम कविताएँ लिखी हैं। हिंदी साहित्य वैष्णव धर्म का चिर आभारी रहेगा कि उसने जनता की रुचि की पूर्ति करते हुए सूर और तुलसी जैसे दिव्य रत्न दिए।

---

११. हिन्दी गद्य का विकास

प्रायः सभी देशों और भाषाओं में साहित्य का आरंभ पद्य से हुआ है। हिन्दी भाषा का भी यही क्रम रहा है। हिन्दी के प्रारंभिक काल में ब्रजभाषा का प्राधान्य रहा है। ब्रजभाषा अपने माधुर्य के कारण पद्य के लिए विशेष उपयुक्त थी। उस समय जो ज्ञान की धारा बह रही थी उसका भी माध्यम पद्य ही था। राजकीय कारबार अधिकतर फ़ारसी में होता था। विशेष युक्तिवाद नहीं चला था, तलवार ही सबसे बड़ी युक्ति समझी जाती थी। मुद्रण-कला के अभाव में कंठस्थ करने की भी सुलभता के कारण पद्य का अधिक प्रचार था। चिट्ठी-पत्रियाँ अवश्य गद्य में लिखी जाती थीं, किन्तु वह साहित्यिक नहीं कही जा सकतीं। सब से पहले गद्य के लेखक महात्मा गोरखनाथ थे। ये बड़ी स्वतंत्र प्रकृति के धर्म-प्रचारक थे। इन महात्मा ने संवत् १४०७ वि० में लिखना आरंभ किया था। इनकी भाषा में ब्रजभाषा का ही प्राधान्य था। इनके पश्चात् श्री वल्लभाचार्य (सं० १५३५–१५८७) ने अपना 'वनयात्रा' नामक ग्रन्थ गद्य में लिखा। श्री विट्ठलनाथ जी (१५७२–१६४२) ने भी श्री राधाकृष्ण-विहार-विषयक 'शृंगार रस मंडन' नाम का ग्रन्थ ब्रज-भाषा-गद्य में लिखा। इनके सुपुत्र गोस्वामी गोकुलनाथ जी (रचनाकाल सं० १६२५) ने 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' ब्रजभाषा गद्य में लिखी। इसके पश्चात् ब्रजभाषा गद्य का अधिक विकास न हो सका। यत्र-तत्र टीकाकरों ने ब्रजभाषा गद्य का अवश्य प्रयोग किया, किंतु वह मौलिक साहित्य की कोटि में नहीं आता। अब हम खड़ी बोली तथा उसके गद्य-साहित्य के विकास की ओर ध्यान देते हैं। यद्यपि मध्य-कालीन

भारत में बहुत लड़ाई झगड़े रहे तथापि मुसलमान शासन में विशेष कर मुगल-काल में बहुत कुछ शान्ति रही। यही शान्ति का समय हिंदी-काव्य के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। ऐसे समय में हिंदू-मुसलमानों के संपर्क से दोनों जातियों में परस्पर आदान-प्रदान होना स्वाभाविक था। साधारण सामाजिक व्यवहार के लिए देहली प्रांत की भाषा व्यवहृत होने लगी। उसमें मुसलमानों के संपर्क से फ़ारसी और अरबी के शब्दों का समावेश होने लगा और इस प्रकार तत्कालीन और तत्प्रांतीय हिंदी (जो खड़ी बोली के प्रारंभिक रूप में थी और जिसमें पंजाबी और ब्रजभाषा का मेल था) की ज़मीन पर फ़ारसी और अरबी का रंग लगा और उर्दू भाषा का उदय हो गया। चौदहवीं शताब्दी में अमीर ख़ुसरो ने जो कविता की थी वह खड़ी बोली के प्रारंभिक रूप का उदाहरण है। मुसलमानी सभ्यता के पूरब में जाने से इसका प्रचार बंगाल तक हो गया। इधर हिन्दू लोगों ने भी खड़ी बोली को उर्दू से स्वतंत्र रखने के लिए उसमें फ़ारसी और अरबी के स्थान में संस्कृत शब्दों का पुट देना आरंभ कर दिया। अकबरी दरबार के गंग कवि ने सं० १६२७ में 'चंद छंद बरनन की महिमा' नाम की एक १६ पृष्ठ की गद्य-पुस्तक लिखी है। जटमल ने संवत् १६८० वि० में इसी बोली में अपना गोराबादल लिखा था। इनको लोग खड़ीबोली-गद्य का प्रथम लेखक मानते हैं। किंतु अब यह बात विवाद-ग्रस्त हो गई है कि जटमल की पुस्तक गोरा-बादल गद्य की पुस्तक है या पद्य की। अच्छे गद्य का सबसे पहला नमूना मुंशी सदासुखलाल कृत सुखसागर और मौलवी इंशाअल्लाहखाँ कृत "रानी केतकी की

कहानी" में मिलता है । इन लोगों ने अपने ग्रन्थ स्वान्तःसुखाय लिखे थे अर्थात् यह किसी अधिकारी की प्रेरणा से नहीं लिखे गए। सदासुखलाल की भाषा कुछ पंडिताऊपन लिए हुए है । इंशा अल्लाहखाँ की भाषा में खड़ी वोली का विकसित रूप दिखाई पड़ता है, उसमें विदेशी शब्द बहुत कम हैं किंतु वह भी व्रज-भाषा के प्रभाव से मुक्त नहीं है।

अंगरेज़ी राज्य के अभ्युदय के साथ कलकत्ता भारत की राजधानी होगई। अंगरेज़ी राज्य आरंभ में व्यापार पर अवलंबित था। वे लोग जनता से विशेष संपर्क में आना चाहते थे और भारत के रीति-रिवाज़ और धर्म का अध्ययन करना चाहते थे। फोर्ट विलियम कलकत्ता के मंदरसे के प्रिंसिपल जोन गिलक्रिस्ट की आज्ञा से संवत् १८६० में पं० लल्लूलाल जी ने 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' नाम का ग्रन्थ लिखा। इन दोनों की भाषा में व्रजभाषा का पुट है। मिश्र जी की भाषा में खड़ी वोली का रूप अधिक दिखाई पड़ता है किन्तु वह कुछ विहारीपन लिए हुए है। अंगरेज़ी राज्य में हिन्दी गद्य के विकास को अनुकूल वातावरण मिला। अंगरेज़ लोगों के आने से शान्ति तो स्थापित हुई किन्तु उसके साथ-साथ प्रतिद्वन्दिता और जीवन-संग्राम बढ़ने लगा। लोग काल्पनिक आकाश से उतर कर वास्तविकता की दृढ़ भित्ति पर आगए। प्रकृतिवाद का प्राधान्य होने लगा। सब वस्तुओं का मूल्य रुपया आना पाई में दिखाई देने लगा । ईसाई लोगों ने भी जनता में अपने धर्म का प्रचार करने के लिए हिंदी-गद्य में अपने धर्म-ग्रंथों का अनुवाद कराया और उनके प्रचार के लिए प्रेस भी

खुलवाए*। प्रेसों ने गद्य को चिरस्थायी और व्यापक बनाकर पद्य की आवश्यकता को कम कर दिया। हिंदी की समयोचित उन्नति में दो बाधाएँ थीं। एक तो यह कि अंगरेज़ों के शासन-काल में भी अदालतों का काम फ़ारसी में होने लगा था। लोगों को राजकाज के संबंध में उर्दू अवश्य पढ़नी पड़ती थी। दूसरी कठिनाई यह थी कि शिक्षा-विभागों में मुसलमानों का अधिक हाथ था। वे लोग उर्दू की प्रतिद्वंदिता के कारण हिंदी को बढ़ाना नहीं चाहते थे। राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद (जन्म संवत् १८८० वि०, मृत्यु संवत् १९५२ वि०) ने हिंदी का पक्ष लिया। जनता की भाषा होने के कारण इन्होंने स्कूलों में हिंदी का प्रचार कराया और हिंदी-भाषा में पाठ्य पुस्तकें भी लिखीं और लिखवाईं। इन्होंने यद्यपि हिन्दी को अपनाया तथापि उर्दू का भी बहिष्कार नहीं किया। संवत् १९२०. वि० में इन्होंने बनारस अखबार नाम का एक अखबार निकाला। राजा लक्ष्मणसिंह संवत् (१८८३-१९५६) ने हिन्दी को हिंदू-संस्कृति के अनुकूल बनाने के लिए उसमें संस्कृत-शब्दों का प्रयोग करने की रीति डाली। इस रीति का प्रभाव आज-कल भी दिखाई देता है। राजा लक्ष्मणसिंह ने भी 'प्रजा हितैषी' नामक एक अखबार निकाला, इससे भी हिन्दी गद्य का प्रचार बहुत बढ़ा। इसी समय आर्यसमाज का प्रादुर्भाव हुआ। स्वामी दयानन्द ने (जन्म सं० १८८१) गुजराती होते हुए भी अपने ग्रन्थ हिन्दी में लिखे। स्वामीजी ने हिन्दी और संस्कृत का बहुत प्रचार किया। इनका

* ईसाइयों का सबसे पहला प्रेस संवत् १८९० के लगभग श्रीरामपुर में कायम हुआ।

प्रभाव पंजाब पर अच्छा पड़ा। आर्यसमाजी स्कूलों में हिन्दी को प्रधानता दी जाने लगी। पं० श्रद्धाराम जी ने, जो पंजाब के रहने वाले थे, हिन्दी में कई ग्रन्थ लिखे। इन्होंने एक प्रकार से हिन्दी में जीवनी और उपन्यास लिखने की नींव डाली।

राजा लक्ष्मणसिंह के बाद भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सं० १९०७-४१) का समय आता है। ये आधुनिक हिन्दी गद्य के जन्मदाता कहे जा सकते हैं। गद्य को सँवारने सजाने में जो कार्य इन्होंने किया वह अब तक किसी ने न किया था। गद्य में नाटक आदि लिखने की नींव इन्होंने डाली। भाषा-शैली को बहुत परिष्कृत कर दिया। ये महाशय बड़े भावुक तो थे ही, किन्तु इसके साथ ही बड़े विचारशील भी थे। इन्होंने सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक विषयों का विवेचनात्मक वर्णन कर हिन्दी की भावव्यंजकता और भी बढ़ा दी। इन्होंने स्वयं भी लिखा और उच्च-कोटि का लेखक-मंडल भी तैयार किया। इनके समय में गद्य की भाषा प्रौढ़ और परिमार्जित हो गई और इसके साथ उसमें सरसता भी आ गई। गद्य में अलंकारों का भी प्रयोग होने लगा। भारतेन्दु-काल के लेखकों में पं० बदरीनारायण चौधरी, प्रतापनारायण मिश्र, पं० बालकृष्ण भट्ट और पं० अंबिकादत्त व्यास का नाम विशेष-रूप से उल्लेखनीय है। इस समय में अंगरेज़ी पढ़े लोगों का ध्यान हिन्दी की ओर आकर्षित हुआ। बंगाल के प्रभाव से संस्कृत शब्दों का हिन्दी में विशेष रूप से प्रयोग होने लगा। अंगरेज़ी के प्रभाव से नये शब्द और मुहावरे भी प्रयोग में आने लगे और विराम-चिह्नों का भी प्रयोग होने लगा।

अभी तक भाषा की व्यंजकता बढ़ाने का यत्न किया गया था, किन्तु उसकी शुद्धता की ओर ध्यान न दिया गया था। पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ने व्याकरण के अनुकूल गद्य-रचना करने के लिए विशेष उत्तेजना दी। अशुद्ध लेखों को काँट-छाँट कर लेखकों को शुद्ध लिखने की ओर प्रवृत्त किया। इनके समय में विचारात्मक और खोजपूर्ण निबन्ध लिखे जाने लगे। ये महाशय भाषा का एक परिमार्जित रूप देने में बहुत सहायक हुए। इस समय काशी नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने भी हिन्दी गद्य के विकास में बहुत योग दिया। उपन्यासों के अतिरिक्त और विषयों के भी उत्तम ग्रन्थ लिखे जाने लगे। जन-साधारण के मनोविनोद के लिए नाना प्रकार के उपन्यास लिखे गए। उपन्यास-लेखकों में बाबू देवकीनन्दन खत्री, मुंशी प्रेमचन्द, बाबू वृन्दावनलाल वर्मा और श्री चतुरसेन शास्त्री आदि लोगों ने बहुत काम किया। आज-कल उपन्यास साहित्य बहुत बढ़ गया है। प्रसादजी, श्री निराला, श्रीसियारामशरण गुप्त आदि कवियों ने भी 'कंकाल', 'अप्सरा', 'गोद' आदि अच्छे उपन्यास लिखे हैं। श्रीयुत शिवपूजन-सहाय जी ने अपनी 'देहाती दुनिया' के कारण अच्छा नाम पाया है। श्री गिरिजाकुमार घोष ने हिन्दी में आख्यायिकाओं की नींव डाली। आज-कल पं० विनोदशंकर व्यास, पं० विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक', डा० धनीराम प्रेम, श्री बेचन शर्मा 'उग्र' और बाबू जैनेन्द्रकुमार आदि ने अख्यायिकाओं का साहित्य खूब बढ़ाया है। श्रीयुत जी० पी० श्रीवास्तव और बाबू अन्नपूर्णानन्द आदि लेखकों ने हास्यरस सम्बन्धी साहित्य की कमी पूरी की है।

विनोद के साथ-साथ समालोचना का भी ठोस काम होने लगा है। इस सम्बन्ध में मिश्रबन्धु, बाबू श्यामसुंदरदास, पं० रामचन्द्र शुक्ल और पं० पद्मसिंह शर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं। गद्य-काव्य भी लिखे जाने लगे। श्री वियोगीहरि का 'अन्तर्नाद' और श्री राधाकृष्ण दास की 'साधना' गद्य-काव्य के अच्छे नमूने हैं। आजकल ज्ञान के प्रायः सभी विषयों में हिन्दी-ग्रन्थों की रचना हो रही है। इतिहास में रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा और श्री जयचंद्र विद्यालंकार के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। बाबू भगवानदास केला प्रभृति सज्जन नागरिक-शास्त्र और राजनीति-शास्त्र में अच्छा काम कर रहे हैं। विज्ञान में श्री त्रिलोकीनाथ वर्मा के शरीर विज्ञान-संबंधी ग्रन्थ बहुत उत्तम हैं। इलाहाबाद की विज्ञान-परिषद् बहुत उच्च कोटि के वैज्ञानिक साहित्य का निर्माण कर रही है। लाला कन्नोमल तथा इन पंक्तियों के लेखक ने दर्शन शास्त्र के साहित्य के निर्माण में बहुत परिश्रम किया है। इसके अतिरिक्त इस काल में अनेक उच्चकोटि की पत्र-पत्रिकाएँ निकल रही हैं जिनसे हिंदी के गद्य की उन्नति पर्याप्त रूप से हुई है। इन पत्र-पत्रिकाओं में विश्वामित्र, आज, प्रताप, सरस्वती, विशालभारत, माधुरी, चाँद आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

स्त्री-साहित्य और बाल-साहित्य की तो बाढ़ ही आ गई है। कई सुयोग्य स्त्री लेखिकाएँ अपने हिन्दी साहित्य को खूब सजा रही हैं, जिनमें श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान, श्रीमती ज्योतिर्मयी ठाकुर, श्रीमती चंद्रावती लखनपाल, श्रीमती विद्याधरी जौहरी, श्रीमती शिवरानी देवी तथा श्रीमती दिनेशनन्दिनी के नाम उल्लेखनीय हैं।

---

१२. वर्तमान हिन्दी कविता की प्रगति

हिन्दी कविता का वर्तमान युग भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से आरंभ होता है। इस काव्य-गगन के नवेन्दु में विकास की आस भरी हुई थी। यद्यपि बाबू हरिश्चन्द्र जी ने ब्रजभाषा में ही कविता की थी तथापि उन्होंने उसमें सारयुक्त और शक्तिपूर्ण प्रयोग कर एक प्रकार की नवीनता उत्पन्न कर दी थी। उनके सत्प्रयत्न से ब्रजभाषा का संकुचित वातावरण मुक्तोन्मुख हो गया था। उन्होंने अलंकारों और नायिका-भेद के संकुचित वृत्त से निकलने के लिए देश-भक्ति और समाज-सुधार के द्वार खोल दिए थे। अंगरेज़ी राज्य के विस्तार के साथ जीवन की प्रतिद्वन्द्विता बढ़ी और युक्ति-वाद का ज़माना आया। दो सभ्यताओं के परस्पर संपर्क के कारण विचारों को भी उत्तेजना मिली। स्वामी दयानन्द और राजा राम-मोहन राय के विचारों ने देश में रूढ़िवाद के गढ़ ढाने का कार्य आरंभ कर दिया था। जो लोग प्रवाह में नहीं पड़ना चाहते थे उन्होंने भी अपनी प्राचीन प्रथाओं की रक्षा के लिए युक्तिवाद का सहारा लिया। विचार-स्वातंत्र्य और युक्तिवाद की भेरी बजने लगी।

इसका भाषा पर भी प्रभाव पड़ा। साहित्य में गद्य की वृद्धि होने लगी। ब्रजभाषा गद्य के लिए अनुपयुक्त थी। खड़ी बोली उठ खड़ी हुई। ब्रजभाषा शृंगार के बाहुल्य के कारण 'रतिश्रान्ता ब्रज-

वनिता' की भाँति सोती रही। खड़ी बोली साहित्य की भाषा हो गई। फिर लाघव और सुगमता का प्रश्न आया। गद्य और पद्य की एक-सी भाषा होने की माँग हुई। इस माँग में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी अग्रसर हुए।

खड़ी बोली के प्रथम आचार्य होने का श्रेय द्विवेदी जी और श्रीधर पाठक को है। द्विवेदी जी ने कविता में भी व्याकरण के नियमों का पूर्णतया पालन किये जाने के लिए ज़ोर दिया। कवियों को अंकुश के शासन में लाने का प्रयत्न किया। इसके साथ-साथ उन्होंने कविता के क्षेत्र को विस्तार देते हुए उसमें इतिवृत्तता का प्राधान्य कर दिया। भावुकता कुछ कम हो गई। शृंगार से ऊबे हुए युग में भावुकता की कमी होना आश्चर्यजनक न था। कई कारणों से खड़ी बोली की कविता के प्रारंभिक रूप में कुछ कर्कशता भी थी। स्वयं द्विवेदी जी पर कुछ मराठी का प्रभाव था और यह प्रभाव उनकी प्रारंभिक कविता में झलकता है। पीछे से वे स्वयं सँभल गए और दूसरों को भी उन्होंने सँभाल लिया।

वर्तमान कविता की प्रगति का अध्ययन दो दृष्टियों में किया जा सकता है। एक भाषा और शैली की दृष्टि से और दूसरा विचार की दृष्टि से।

खड़ी बोली पर उर्दू, हिन्दी और संस्कृत सभी का प्रभाव रहा है इसलिए उसमें सभी शैलियाँ अपनाई गई हैं। खड़ी बोली और उर्दू का पारिवारिक संबंध है। उर्दू खड़ी बोली के आधार पर बनी है। उर्दू की बहरों में वह ठीक बैठ सकती थी। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने उर्दू बहरों की प्रणाली में कविता की भी है। देखिए—

बात कैसे बता सकें तेरी,
हैं मुँह में लगे हुए ताले।
बावले बन गए न बोल सके,
बाल की खाल काढ़ने वाले।

इस शैली में व्यापकता अवश्य आ जाती है, इसको हिन्दू मुसलमान दोनों ही समझ सकते हैं, किन्तु हिन्दी के व्यक्तित्व के जाते रहने का भय रहता है। आकार का बहुत प्रभाव पड़ता है। उर्दू के आकार में हिन्दी उर्दू हो जाती है। इस प्रभाव से बचने के लिए संस्कृत छन्दों का प्रयोग किया जाता है। द्विवेदी जी ने इस प्रवृत्ति में अधिक प्रोत्साहन दिया है। कुछ स्वामी दयानन्द के प्रभाव से और कुछ जातीयता के प्रभाव से संस्कृत का अधिक प्रचार हो चला था, क्योंकि संस्कृत में जातीय संस्कृति शर्करावेष्टित मुरब्बे की भाँति सुरक्षित थी। संस्कृत के वर्णवृत्तों का व्यवहार होने लगा। इसमें तुक से तो स्वतंत्रता मिल गई किन्तु वर्णों के नाप तोल का बंधन मात्रिक छंदों से भी बढ़ गया। कविवर सुमित्रानंदन पन्त के शब्दों में यह कहना ठीक होगा कि वर्णवृत्त ऐसे समास, सन्धि और विभक्ति प्रधान शब्दों के लिए ही उपयुक्त हैं जो कि एक दूसरे के साथ कंधे से कंधा मिलाकर ठसे हुए चलते हैं। इन छंदों का फल यह होता है कि क्रिया केवल हिन्दी की रह जाती है और लंबे लंबे समास युक्त शब्द संस्कृत के हो जाते हैं। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय में यह प्रवृत्ति पूरी तौर से देखने में आती है। उनका प्रियप्रवास कहीं-कहीं बिलकुल संस्कृत का ग्रन्थ हो गया है। देखिए—

रूपोद्यान-प्रफुल्ल-प्रायकलिका राकेन्दु विम्बानना।
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका क्रीडाकला-पुत्तली॥
शोभावारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्यलीलामयी।
श्री राधा मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य सन्मूर्ति थी॥

इस शैली में इतना गुण अवश्य है कि ऐसी रचनाएँ महाराष्ट्र वंगाल, गुजरात आदि संस्कृतप्रधान-भाषाभाषियों की समझ में सुगमता से आ सकती हैं। पर हिन्दी छन्दों में शब्दों को क्रीड़ा और नर्तन के लिए बहुत गुंजाइश रहती है। उन छन्दों में उनकी चपलता और सुन्दरता कायम रह सकती थी। आज कल वीर छंद का बहुत आदर है। खड़ी बोली की कविता रोला, सवैया, हरिगीतिका आदि सभी छंदों में हुई है। कुछ कविता ख्याल और लावनी के ढंग पर भी हुई है। श्रीधर पाठक, गोपाल शरणसिंह मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, रूपनारायण पांडेय आदि कवियों ने मात्रिक और वर्णवृत्त दोनों प्रकार के छन्दों में कविता की, और कहीं-कहीं अतुकान्त कविता कर कविता को स्वतन्त्रता की ओर बढ़ाया। हिन्दी छंदों में कवित्त में अधिक स्वतंत्रता है, क्योंकि उसमें मात्राओं की गिनती नहीं होती अक्षरों की गिनती होती है। निराला जी और पंत जी ने अक्षरों की गणना का भी नियम न रख मुक्त छंद की सृष्टि की। उस में मुक्त सरिता की सी लय-ताल-मय गति रहती है, प्रवाह ही उसका नियम है। ऐसे ही छन्दों को रपट छंद कहते हैं।

विजन-वन वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी स्नेह स्वप्न मग्न

अमल-कोमल तनु तरुणी-जुही की कली,
दृग बन्द किए शिथिल पत्रांक में।

खड़ी बोली में माधुर्य लाने के लिए संस्कृत और ब्रजभाषा के शब्दों का प्रचार किया जाता है। खड़ी बोली जो उदय काल में थी अब नहीं है। अब उसमें संस्कृत के शब्दों का पुट अधिक रहता है। कहीं-कहीं भाषा बिलकुल बोल-चाल की भी रहती है। संस्कृत में जो श्रुतिकटु शब्द होते हैं उनकी कमी की जा रही है, श्रुतिमधुर शब्दों का प्रयोग हो रहा है।

विचार के क्षेत्र में खड़ी बोली की कविता सर्वतोमुखी हो कर अपना अधिकार जमाती जा रही है। वर्तमान युग की तीन मुख्य विशेषताएँ हैं; देशभक्ति, मानवगौरव तथा आन्तरिकता। और यही वर्तमान कविता को प्रभावित कर रही हैं। देश भक्ति की जिस धारा का उद्गम भारतेन्दु जी से हुआ था उसने सारे देश को प्लावित कर दिया। इसकी छाप सभी प्रकार के साहित्य पर पड़ी है। देशभक्ति के प्रभाव से प्राकृतिक वर्णनों को भी उत्तेजना मिली। पं० श्रीधर पाठक की 'काश्मीर-सुषमा' में देश के शोभामय गौरव की झलक मिलती है। वर्तमान कविता में प्रकृति उद्दीपन से आलंबन का स्थान लेती जाती है। अब प्रकृति का वर्णन प्रकृति के लिए ही होने लगा है और प्रकृति तथा मानव-समाज का बहुत कुछ आदान-प्रदान होने लगा है। नक्षत्र अनन्त के हृत्कंपन और फूल प्रकृति के हास बन गए हैं। प्रकृति में ईश्वरीय सत्ता का प्रमाण देखा जाने लगा है। प्रकृति ईश्वर के शरीर रूप से देखी जाने लगी है। मैथिलीशरण गुप्त, सनेही जी, दीन जी, माखनलाल चतुर्वेदी, बाल-

कृष्ण शर्मा आदि कवियों ने प्राचीन गौरव-गरिमा, जातीय एकता, भारतमाता के शक्तिशाली विशालतामय सौन्दर्य और संगठन आदि भावों का ज्ञान कर देश में उठते हुए राष्ट्रीय भावों की पुष्टि की है। वर्तमान कविता में दुःखवाद का एक अन्तःस्रोत बह रहा है। यद्यपि उसमें राष्ट्रीयता प्रत्यक्ष नहीं है तथापि उसमें देश के क्रन्दन की प्रतिध्वनि है। बहुत से लोग इस दुःखवाद में अतृप्त काम-वासना की झलक देखते हैं। जो कुछ भी हो, वर्तमान कविता में दुःख-वाद अधिक है यहाँ तक कि प्रकृति भी दुःख से व्यथित दिखाई पड़ती है—

गगन के उर में है घाव,
देखती ताराएँ भी राह,
बँधा विद्युत छवि में जलवाह,
चंद्र की चितवन में भी चाह,
दिखाते जड़ भी तो अपनाव,
अनिल भी भरती ठंडी आह। —'पंत'

वर्तमान युग में भगवान् रामचन्द्र और कृष्णचन्द्र की भक्ति की पवित्र झाँकी भी दिखाई पड़ती है, किन्तु उसमें राष्ट्रीय भावों की झलक आ गई है। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने श्रीकृष्णजी के प्रवास से दुखी गोपिकाओं का करुण क्रन्दन सुनाया है, किन्तु प्रियप्रवास के कृष्ण विलासी नहीं हैं। वे दीनों के रक्षक और सहा-यक के रूप में बतलाये गए हैं। इसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजी पारिवा-रिक जीवन के आदर्श और संगठन की मूर्ति हैं। बाबू मैथिलीशरण जी ने 'साकेत' में रामोपासना की धारा को आगे बढ़ाया है। हनुमान

जी से लक्ष्मणजी को शक्ति लगने का हाल सुन भरतजी ने तुरंत सेना तैयार करा कर भ्रातृ-स्नेह का परिचय दिया। सेना की तैयारी का वर्णन बड़ा ही उत्साहपूर्ण है। जिस प्रकार महारास के लिए गोपिकाएँ घर से निकल भागी थीं उसी प्रकार अयोध्यावासी रात ही में घर से निकल आए। गुरुवर वशिष्ठजी ने दिव्यदृष्टि से सब हाल दिखाकर सेना भेजना अनावश्यक कह दिया।

ब्रजभाषा भी नितांत सोती नहीं रही। श्री सत्यनारायण जी, श्री रत्नाकर जी और श्री वियोगी हरि ने ब्रज भाषा की बड़ी मनोरम कविता की है। रत्नाकर जी ने 'उद्धवशतक' में तो अधिकतर ब्रजभाषा की प्राचीन प्रथा को ही कायम रक्खा है, किंतु 'गंगावतरण' में कुछ नवीनता आ गई है। उन्होंने 'गंगावतरण' के अंत में भारतवर्ष की मंगल-कामना के लिए देवताओं से प्रार्थना की है। श्री सत्यनारायण जी ने ब्रजभाषा में राष्ट्रीय भाव लाने का उद्योग किया है।

टिमटिमाति जातीय-ज्योति जो दीप-शिखा-सी।
लगत बाहरी ब्यारि बुझन चाहत अबला सी॥
शेष न रह्यो सनेह कौ, काहू हिय में लेस।
कासों कहिए गेह को, देसहिं में परदेस
भयो अब जानिए॥

श्री वियोगी हरि ने भक्ति का पाठ पढ़ाते हुए भी वर्तमान आवश्यकताओं के अनुकूल वीर-रस संबंधी ७०० दोहे लिख कर 'वीर सतसई' का निर्माण किया। इस तरह ब्रजभाषा भी राष्ट्रीय प्रभाव से मुक्त नहीं रही।

वर्तमान युग की शेष दो विशेषताएँ अर्थात् मानव-गौरव और आंतरिकता यद्यपि सभी कविताओं में न्यूनाधिक रूप से वर्तमान है तथापि वह छायावाद में विशेष रूप से दिखाई पड़ती हैं। शैली के संबंध में हम देख चुके हैं कि निराला जी के हाथ में छंद ने पूर्ण स्वच्छंदता प्राप्त कर ली है। उस शैली में विशेषकर रहस्यवाद की कविता हुई है और अन्य विषयों की भी जो कविता हुई है उसमें एक प्रकार की आंतरिकता स्वच्छंदता और अनंतता जो आध्यात्मिकता से प्रभावित है दिखाई पड़ती है। छायावादियों के जो वर्णन होते हैं उनमें प्रकृति मानवीय भावों से गर्भित कर दी जाती है। उनमें कटी-छटी सीमा नहीं दिखाई पड़ती, छंद की स्वतंत्रता रहती है। रहस्यवाद और छायावाद एक ही आध्यात्मिक प्रवृत्ति के फल हैं। वास्तव में रहस्यवाद कई प्रवृत्तियों का फल है। वैष्णवों के गेय-गीत जिनका सूर और तुलसी के वाद अंत सा हो गया था, अँगरेजी कवियों के भावात्मक पद्य (Lyrics), उर्दू कवियों का विरह-वर्णन, रवीन्द्रनाथ ठाकुर की आध्यात्मिक कविताओं का आदर, यूरोप का भौतिक ऐश्वर्य से ऊबकर आध्यात्मिकता की ओर झुकना और द्विवेदी-युग की घोर क्रियात्मकता, इतिवृत्तता (Matter of factness) और शुष्कता की प्रतिक्रिया में प्रेम और कोमल भावों की जाग्रति—इन सबके प्रभाव से रहस्यवाद का उदय हुआ। रहस्य-वाद में गूँगे के गुड़ की भाँति आत्मा और ईश्वर के सम्बन्धों का संकेतात्मक वर्णन रहता है। इसमें वियोग का दुःख और मिलन का सुख दोनों ही दिखाये जाते हैं। इसीलिए इसमें आलोक और छाया दोनों रहती हैं और नीहार की सी अस्पष्टता आ जाती है।

श्री जयशंकर प्रसाद, श्री निरालाजी, और श्री पंतजी इस संप्रदाय के प्रतिनिधि समझे जाते हैं। श्रीमती महादेवी वर्मा ने अपनी 'नीहार' और 'रश्मि' में बड़ी सुन्दर आध्यात्मिक कविता की है। प्राचीन काल के जायसी, कबीर, दादू आदि संत कवियों में रहस्य-वाद के भाव प्राचुर्य से पाये जाते हैं।

वर्तमान कविता की आन्तरिकता ने आत्माभिव्यक्ति का रूप धारण कर लिया है। कविता में एक निजीपन आगया है। यह बात वर्तमान कविता को रीतिकाल की कविता से पृथक् कर देती है। रीति-काल की कविता खाना-पूरी मात्र है। इसी आन्तरिकता के फलस्वरूप आजकल अमूर्त भावों का भी सुन्दर चित्रण होने लगा है। देखिए कामायिनी में चिन्ता को 'अभाव की चपल बालिके' 'तरल गरल की लघु लहरी' कहकर उसका कैसा सुन्दर चित्रण किया है। आधुनिक कवियों ने मानव-गौरव भी खूब गाया है। अब कविता के विषय राजा और रानी नहीं रहे, दीन-दुखिया, दलित, पतित, कुरूप, श्रमजीवी और पेट और पीठ की एकता रखने वाले अकाल-पीड़ित लोगों में एक दैवी सौंदर्य देखा जाता है। मनुष्य को मनुष्य होने के नाते गौरव दिया जाता है। वर्तमान कविता में कहीं कहीं नैतिक भावनाओं से भी विरोध प्रकट किया गया है। यह स्वतंत्रता का आधिक्य है।

वर्तमान कविता में छन्द की स्वतंत्रता के साथ कविता के विषयों का भी विस्तार हुआ है। वर्णनों में नवीनता आ गई है। इसमें भविष्य के लिए शुभ लक्षण दिखाई देते हैं।

---

१३. मुसलमानों की हिन्दी-सेवा

भारतवर्ष में मुसलमानों के आक्रमण सातवीं सदी से शुरू हो गए थे किन्तु उन प्रारंभिक आक्रमणों में राज्य-लिप्सा की अपेक्षा धन-लिप्सा अधिक थी। जब मुसलमान लोग धीरे-धीरे यहाँ बसने लगे और उन्होंने मूल देश से संबंध-विच्छेद कर लिया तब से वे यहाँ की जनता के अधिक संपर्क में आने लगे। उनके लिए यहाँ की भाषा और रहन-सहन सीखना आवश्यक हो गया। राजकाज चलाने के लिए प्रजा का सहयोग भी आवश्यक था। कुछ विद्वानों का कथन है कि मुसलमानी शासन के आरंभ में वहुत सा राजकार्य हिन्दुओं के ही हाथ में था और वे लोग अपना सब कार्य हिन्दी में ही करते थे। इसके अतिरिक्त कोई सफल राज्य देशी भाषा की उपेक्षा नहीं कर सकता। इसी कारण हिन्दी का संबंध राजदरबारों से हो गया। उधर मुसलमान शासक लोग अपनी प्रशंसा सुनने का लोभ संवरण न कर सके। इस कारण हिन्दी के कविगण भी मुसलमानी शासकों के यहाँ आश्रय पाने लगे। अकवर को हिंदुओं से और उसी के साथ हिन्दी से भी पर्याप्त प्रेम था। उसने अपने नाती खुसरो को हिन्दी पढ़ाई थी। हिन्दुओं के संपर्क में आने से साधारण मुसलमान लोगों को भी हिन्दी से प्रेम हो गया था। राजनीतिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त कुछ हृदय की भी आवश्यकताएँ रहती हैं। इस्लाम धर्म अधिक शुष्क है, सूफी मत ने इसको सरस वनाया। हिन्दी प्रेम के भावों को व्यंजित करने के लिए वड़ी उपयुक्त भाषा है। इसके अतिरिक्त हिन्दू-धर्म में प्रेमी -यों के लिए श्रीकृष्णचन्द्र का माधुर्यमय व्यक्तित्व एक बड़ा

आकर्षण है। इस प्रकार कुछ मुसलमान राजनीतिक कारणों से और कुछ भक्तिभाव के कारण हिन्दी की ओर झुके, और उन्होंने अपनी वाणी से हिन्दी-साहित्य को अलंकृत किया। मुसलमानी राज्य के प्रारंभिक काल में उर्दू की प्रतिद्वन्द्विता भी न थी। इसलिए वही जनसाधारण की भाषा के नाते अपनाई गई। प्राय: साहित्यिक लोग राजनीतिक बंधनों से मुक्त होते हैं, उनमें जातिभेद वा विजेता और विजित का भाव कम होता है। साहित्यिक साम्राज्य समता-मूलक है। उसमें हिन्दू और मुसलमान का भेद नहीं था। वे साहित्यिक मुसलमान द्वेषभाव से परे थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने रसखान आदि मुसलमान भक्त कवियों के संबंध में ठीक ही कहा है—"इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दुन वारिए।" इन मुसलमानों के द्वारा हिन्दी की जो सेवा हुई है वह थोड़ी नहीं है। इनकी रचनाएँ हिन्दी साहित्य की अमूल्य संपत्ति है। इनका थोड़ा सा उल्लेख कर देना अनुपयुक्त न होगा।

यद्यपि हिन्दी का जन्म बहुत काल पूर्व होगया था तथापि हिन्दी को खड़ी बोली के वर्तमान रूप में हम अमीर खुसरो की वाणी में ही देखते हैं। अमीर खुसरो का जन्म संवत् १२६२ में हुआ था। वे फ़ारसी और हिन्दी दोनों ही भाषाओं के अच्छे कवि थे। उनकी कविता से ही हम को पता चलता है कि खड़ी बोली कितनी पुरानी है। उनकी कविता के दो एक नमूने यहाँ पर दिए जाते हैं।

बाला था सब जग को भाया, बढ़ा हुआ कुछ काम न आया।
खुसरो कह दिया उसका नाँव, अर्थ करौ नहिं छोड़ो गाँव॥

(दीया)

बीसों का सर काट लिया ना मारा ना खून किया। (नाखून)
अति सुन्दर जग चाहै जाको, मैं भी देख भुलाती वाको।
देख रूप आया जो टोना, ए सखि साजन! ना सखि सोना॥

इस सम्बन्ध में दूसरा महत्त्वपूर्ण नाम कबीर का है। कबीर जन्म के चाहे हिन्दू हों किन्तु उनका पालन-पोषण एक मुसलमान जुलाहे के घर में हुआ था। उनका समय संवत् १४५५ से १५५२ वि० तक माना गया है। वे स्वामी रामानन्द जी के चेले हो गए थे—

काशी में हम प्रकट भए रामानन्द चेताए।

इन महात्मा ने हिन्दू मुसलमानों की एकता के लिए बहुत यत्न किया था। ये बड़े निर्भीक वक्ता थे। ये दोनों धर्मों के बाह्याडंबर की पोल खोल कर उनको धर्म का असली रूप सिखाना चाहते थे। देखिए—

अरे इन दोउन राह न पाई।
हिन्दू अपनी करै बड़ाई गागर छुवन न देई।
वेस्या के पायन तर सोवैं यह देखो हिन्दुवाई।
मुसलमान के पीर औलिया मुरगी मुरगा खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहैं घरहि में करैं सगाई।

ये महात्मा हिन्दी साहित्य में ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रवर्तक और निर्गुण के उपासक थे, किन्तु इन्होंने राम के नाम का माहात्म्य माना है। इनकी कविता में योग-सम्बन्धी रहस्यवाद अधिक है। इनका चलाया हुआ पंथ अभी तक जीवित है।

कबीर के पश्चात् मलिक मुहम्मद जायसी का नाम आता है। इन्होंने अवधी भाषा में कविता कर उस भाषा की साहित्यिक

संभावनाओं को प्रकाश में रक्खा था। इन्होंने प्रेम-मार्गी कविता की धारा बहाई। जायसी के प्रेम में आध्यात्मिकता अधिक है। इनकी कविता में सर्वेश्वरवाद के अच्छे उदाहरण मिलते हैं। देखिए—

आपहि कागद आप मसि, आपहि लेखनहार।
आपहि लिखनी आखर, आपहि पंडित अपार॥

हिन्दी के मुसलमान कवियों में चौथा उल्लेखनीय नाम रहीम का है। ये बड़े उच्च घराने के मुसलमान थे। इनका जन्म लाहौर में संवत् १६१३ में हुआ था। ये महाशय जैसे युद्ध और राजकार्य में दक्ष थे वैसे ही साहित्य के मर्मज्ञ थे। इन्होंने बड़े सुन्दर नीति के दोहे लिखे हैं। इनकी नीति में एक मृदु हास्य रहता था। इनके नायिका-भेद-सम्बन्धी बरवै भी बड़े उत्तम हैं। आज-कल हिन्दी में संस्कृत छंदों का बड़ा प्रचार है, किन्तु इन्होंने उस समय में भी संस्कृत छंदों में कविता की थी। एक प्रकार से ये इस प्रकार की पद्धति के पथ-प्रदर्शक थे। मालती छन्द में लिखा हुआ इनका मदनाष्टक बड़ा मनोहर है।

शरद निशि निशीथे चाँद की रोशनाई,
सघन वन निकुंजे कान्ह बंसी बजाई।
रति-पति सुत निद्रा साइयाँ छोड़ भागी,
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी।

मुसलमान कवियों में पाँचवाँ नाम जो हिन्दुओं में बड़े आदर से लिया जाता है वह रसखान का है। इनका समय १६१५ से १६८५ तक माना जाता है। ये दिल्ली के पठान थे। पीछे से इन्होंने वल्लभ कुल में दीक्षा ले ली थी। ये सच्चे भावुक और भगवद्भक्त थे।

इन्होंने शुद्ध ब्रज भाषा में कविता की है। इनकी कविता में प्रेम का बड़ा सुन्दर स्वरूप दिखाई देता है।

बिन गुण जोवन रूप धन, बिन स्वारथ हित जानि।
शुद्ध कामना ते रहित, प्रेम सकल रसखानि॥

इनकी निम्नलिखित भक्तिमयी कामना बड़ी ही सरस है। ऐसा कोई भावुक हिन्दू न होगा जो इस को सुनकर आनन्द-विभोर न हो जाता हो।

मानस हौं तो वही रसखान बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जौ पसु हौं तो कहा बसु मेरो, चरौं नित नन्द की धेनु मझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को जो कियो हरि छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं इहि कालिंदी-कूल-कदंब की डारन।

इसी प्रकार शेख, आलम, मुहम्मद उसमान, कुतबन, मुबारक, ताज, हफीजुल्ला खाँ, मुंशी इंशाअल्लाह खाँ, मीर आदि अनेक मुसलमान कवि और लेखक हुए हैं, जिन्होंने हिन्दी भाषा की सेवा द्वारा हिन्दुओं के हृदय में स्थान पाया है। ऐसे कवियों की वाणी पढ़ कर हमारे हृदय में मुसलमान भाइयों के प्रति सद्भावना उत्पन्न होने लगती है। जिस प्रकार इन सत्कवियों ने फ़ारसी और अरबी में कविता लिखने की क्षमता होते हुए भी हिन्दी भाषा को अपनाया था उसी प्रकार आजकल के मुसलमान भी हिन्दी को अपना कर हिन्दू-मुसलिम एकता की जड़ पक्की कर सकते हैं। आज़कल के हिन्दी के मुसलमान लेखकों में सैयद अमीरअली 'मीर', ज़हूर बख्श, अख्तर हुसैन रायपुरी और मीर अहमद बिलग्रामी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

१४. व्रजभाषा और खड़ी बोली

हिन्दी की पाँच मुख्य उपभाषाएँ हैं, राजस्थानी, अवधी, व्रज-भाषा, बुंदेलखंडी और खड़ी बोली। पाँचों ही उपभाषाएँ भिन्न-भिन्न प्रांतों में बोली जाती हैं। यद्यपि प्राचीन चारण तथा मीरा आदि कवियों की कविता में राजस्थानी का पर्याप्त पुट था, और प्रेममार्गी तथा रामभक्त कवियों ने अवधी को अपनाया, पर हिन्दी साहित्य में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान खड़ी बोली और व्रजभाषा का है। अभी तक ऐसा था कि खड़ी बोली गद्य की भाषा थी और व्रजभाषा पद्य की। अब बोल-चाल और कविता की भाषा का विच्छेद दूर करने के लिए खड़ी बोली में भी कविता होने लगी है। इन उपभाषाओं के संबंध में दो मुख्य प्रश्न हैं। पहला ऐतिहासिक, अर्थात् इन दोनों उपभाषाओं की उत्पत्ति स्वतंत्र रूप से हुई, अथवा एक दूसरी से और दूसरा सापेक्षित महत्त्व, अर्थात् गद्य और पद्य के माध्यम होने के लिए किसकी किस में विशेष क्षमता है?

ऐतिहासिक विवेचना के पूर्व इनके स्वरूप-भेद पर यदि थोड़ा प्रकाश डाल दिया जाय तो अनुपयुक्त न होगा।

ऐतिहासिक साधारण जनता की बोलचाल के संबंध से व्रजभाषा आगरा, मथुरा, एटा और अलीगढ़ के ज़िलों तथा धौलपुर और ग्वालियर राज्यों के कुछ भागों में बोली जाती है और खड़ी बोली देहली, मेरठ, बुलंदशहर के आस-पास बोली जाती है। व्रजभाषा का केन्द्र मथुरा है और खड़ी बोली का केन्द्र है मेरठ। व्रजभाषा और खड़ी बोली के रूप में भी अनेक

भेद हैं। व्रजभाषा में पुँल्लिग संज्ञाएँ, विशेषण और संबंध-कारक-सर्वनाम ओकारान्त होते हैं; जैसे—घोड़ो, घेरो, छोटो, वड़ो, मेरो, तेरो, हमारो, इत्यादि। खड़ी वोली में ये सब आकारान्त होते हैं; जैसे—घोड़ा, घेरा, छोटा, वड़ा, मेरा, तेरा इत्यादि। व्रजभाषा का वहुवचन वनाने के लिए अंत में 'न' का प्रयोग होता है; जैसे—पंडितन, कितावन, दिनन इत्यादि। खड़ीवोली में वहुवचन सानुस्वार 'ओ' लगाने से वनता है; जैसे—पंडितों, कितावों, दिनों। खड़ी वोली में साधारण क्रिया का एक ही रूप होता है; जैसे—आना, जाना, करना। व्रजभाषा में साधारण क्रिया के तीन रूप होते हैं एक 'नो' से अंत होने वाला, जैसे—आनो, जानो, करनो, धरनो इत्यादि; दूसरा 'न' से अंत होने वाला, जैसे—आवन, जावन, लेन, देन और तीसरा 'वो' से अंत होने वाला, जैसे—आइवो, जाइवो, करिवो, इत्यादि। व्रजभाषा और खड़ी वोली के कारक-चिह्न भी कुछ भिन्न होते हैं। कर्म में व्रजभाषा में 'को' 'कौ' दोनों होते हैं। खड़ी वोली में केवल 'को' होता है। करण में व्रजभाषा में 'सों' और 'त' का व्यवहार होता है, खड़ी वोली में केवल 'से' का प्रयोग होता है। खड़ी वोली में अपादान कारक में व्रजभाषा के 'ते' और 'सों' के स्थान में 'से' होता है। संवंध-कारक में व्रजभाषा में केवल 'को' का व्यवहार होता है और खड़ी वोली में 'का', 'के' और 'की' का प्रयोग होता है।

वहुत से लोगों को यह भ्रम है कि खड़ी वोली का जन्म व्रज-भाषा से हुआ है। इन भाषाओं की उपर्युक्त भिन्नताएँ ही इस वात की द्योतक है कि इनका इतिहास भिन्न है। इन उपभाषाओं का

विकास भी प्राय: एक ही काल में हुआ है। खड़ी बोली का सब से पहला रूप अमीर खुसरो (संवत् १२६५-१३२१) की कविता में मिलता है। उदाहरणार्थ पतंग की पहेली लीजिए—

एक कहानी मैं कहूँ, सुन ले मेरे पूत।
बिना परों वह उड़ गया, बाँध गले में सूत॥

इन पर एक दूसरे का प्रभाव अवश्य पड़ा है। ब्रजभाषा की उत्पत्ति शौरसेनी अपभ्रंश से तथा खड़ी बोली की उत्पत्ति शौरसेनी तथा पंजाबी और पैशाची के गड़बड़ अपभ्रंश से कही जाती है। खड़ी बोली उर्दू से भी नहीं निकली, क्योंकि इसमें उर्दू से पूर्व कविता होना आरंभ होगया था। यह बात अवश्य है कि भारत की राजधानी देहली के निकट की भाषा होने के कारण मुसलमानों ने इस को अपनाया और वे लोग इस को सारे भारत-वर्ष में फैलाने में सहायक हुए। उन्होंने ही अपने सुभीते के लिए इसमें फ़ारसी और अरबी के शब्दों का समावेश कर इसको उर्दू का रूप दिया। उर्दू में ज़मीन खड़ी बोली की रही और बेलबूटे फारसी और अरबी के निकाल दिए गए।

यद्यपि प्रारंभिक काल में खड़ी बोली में कविता बहुत कम हुई, तथापि उसका नितांत अभाव न रहा। अमीर खुसरो, रहीम खानखाना, जटमल (दिसंबर १९३३ के 'विशाल भारत' में प्रकाशित 'कुआँ भाँग' नामक लेख से यह सिद्ध होता है कि जटमल का मूल ग्रन्थ गोरा-बादल पद्य में ही है) और सीतलकवि ने खड़ी बोली में अच्छी कविता की है। मुंशी सदासुखराय, इंशाअल्लाखाँ, लल्लू-लाल और सदल मिश्र प्रारंभिक काल के गद्य-लेखकों में प्रधान हैं।

इतिहास ही वस्तु की उपयोगिता वा अनुपयोगिता को सिद्ध कर देता है। समय सबसे बड़ी कसौटी है। ब्रज-

सापेक्षित महत्त्व

भाषा में गद्य लिखा गया किंतु उसकी बेल बढ़ी नहीं। थोड़ी ही बढ़कर मुरझा गई। गोस्वामी गोकुलनाथ जी की वैष्णव वार्त्ताओं और टीकाओं से अधिक उसका विस्तार न हुआ। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि जब वैष्णव वार्ताएँ लिखी गईं तब गद्य का युग न था, तथापि जब गद्य का युग आया तब भी वह गद्य के लिए न अपनाई गई।

साधारण भावों के प्रचार के लिए उसमें प्रांतीयता थी। उसका कारबार से संबंध नहीं रहा। उसमें व्यापार और व्यवहार के संस्कार नहीं बने। यह सब होते हुए भी ब्रजभाषा-वल्लरी पर कविता की बेल खूब फली फूली। ब्रजभाषा में कविता की भाषा होने की योग्यता थी। उसके शब्दों में माधुर्य था, अनुप्रास था। 'माय री साँकरी गली में पग में काँकरी चुभति हैं' वाले पनघट की पनिहारी के वाक्यों ने फ़ारस के कवि को आश्चर्य-चकित कर दिया था। कृष्ण-काव्य के लिए तो वह विशेष रूप से उपयुक्त थी। शृङ्गार और वात्सल्य के लिए जितने माधुर्य की आवश्यकता है वह उसमें भरपूर है। इसमें जो लालित्य है वह खड़ी बोली के वर्णन में नहीं आ सकता।

विनय और दीनता के लिए भी ब्रजभाषा बड़ी उपयुक्त है। 'सूरदास द्वारे ठाड़ो आँधरो भिखारी' की सी दीनता और किसी भाषा में मुश्किल से मिलेगी। सूफ़ी कवियों ने भी अपनी आध्या-त्मिक कविता में लालित्य लाने के लिए ब्रजभाषा के 'पिया', 'दरस' आदि शब्दों को अपनाया। खड़ी बोली वास्तव में खड़ी है, उसमें

उदारता और व्यवहारिक कठोरता है, उसका व्यावहार की भाषा होना निर्विवाद है। गद्य की साहित्यिक भाषा खड़ी बोली ही है। इसी रूप में इसने राष्ट्र-भाषा पद पाया है। अब प्रश्न यह है कि खड़ी बोली कविता की भाषा बन सकती है या नहीं ? खड़ी बोली कविता की भाषा होनी चाहिए इस बात में बहुत कम मतभेद है; जहाँ तक हो सके गद्य और पद्य एक ही भाषा में होना चाहिए। परन्तु खड़ी बोली कविता की भाषा हो सकती है इसमें मतभेद के लिए काफी स्थान है। एक दल तो इस को बिलकुल नीरस मानता है और एक दल का मत है कि जो होना चाहिए वह हो सकता है। जो उचित है, करणीय है, वह शक्य भी है। यह बात अवश्य है कि व्रजभाषा में जो लोच और लचक है वह खड़ी बोली में नहीं। व्रजभाषा के कवि को शब्दों की तोड़ मरोड़ और रूपान्तर करने की अधिक क्षमता रहती है, खड़ी बोली में ऐसा करना खटकता है, किन्तु खड़ी-बोली नितान्त लालित्य रहित नहीं है।

रहीम ने मालती छन्द में बड़ी लालित्यमयी रचना की है और वे खड़ी बोली में संस्कृत छन्दों के प्रयोग के एक प्रकार से पथ-प्रदर्शक बने हैं। इस को मान लेने का यह अर्थ नहीं है कि सभी प्रकार की खड़ी बोली में कविता हो सकती है। कविता के लिए कुछ गौरवशालिनी भाषा की अवश्यकता है। भावों की जाग्रति के लिए कुछ ऐसे मँजे हुए शब्दों की आवश्यकता है जिनके पीछे इतिहास लगा हो। अब भाषा को गौरवशालिनी बनाने के लिए लोग प्रायः संस्कृत के शब्दों का प्रयोग करते हैं। कोई कोई

क्रियाएँ खड़ी बोली की और शब्द व्रजभाषा के रखते हैं। संस्कृत और व्रजभाषा के शब्द जब तक उचित मात्रा में रहते हैं तब तक तो माधुर्य के वर्धक होते हैं; किन्तु 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' का नियम यहाँ पर भी लागू होता है। उस उचित मात्रा को निर्धारित करने में ही कवि का कौशल है। इस प्रकार खड़ी बोली जनता की व्यापक भाषा होने के कारण कविता की भाषा बनने का अधिकार रखती है और यदि शब्दों का चुनाव अच्छा किया जाय तो यह अधिकार भली प्रकार निभाया जा सकता है और आज कल अधिकांश कवियों ने निभाया भी है। श्री सुमित्रानन्दन पंत की निम्नलिखित कविता व्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ मधुर उच्चारण वाली रचनाओं से टक्कर ले सकती है।

पावस ऋतु थी, पर्वत-प्रदेश, पल पल परिवर्त्तित प्रकृति-वेश
मेखलाकार पर्वत अपार अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़
अवलोक रहा है बार बार, नीचे जल में निज महाकार-
जिस के चरणों में पला ताल, दर्पण-सम फैला है विशाल।

---

१५. मातृभाषा का महत्त्व

जिस भाषा को मनुष्य स्वाभाविक अनुकरण द्वारा बाल्यकाल से सीखता है उसे हम उसकी मातृभाषा कहते हैं। इसी बात को हम दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि जिस भाषा को हम माता की गोद में सीखते हैं वही हमारी मातृभाषा है।

मातृभाषा शब्द में माता शब्द को अधिक महत्त्व दिया गया है और यह उचित भी है। यद्यपि हमारे जन्म का कारण माता और पिता दोनों ही हैं तथापि हमारे शरीर में अधिकांश भाग माता का होने के कारण एवं उस के द्वारा हमारा भरण-पोषण होने के कारण माता की ही महत्ता है। इसीलिए जन्म-भूमि को भी मातृ-भूमि कहते हैं, पितृभूमि नहीं कहते (अमेरिका, जर्मनी आदि देशों में चाहे जो कुछ हो किन्तु भारतवर्ष में ऐसा नहीं कहते)। भारत-वर्ष में माता शब्द को बड़ा पवित्र माना गया है। माता शब्द में एक साथ स्नेह, आदर और आश्रयदातृत्व के भाव लगे हुए हैं। माता शब्द के सुनते ही इन भावों की जाग्रति हो जाती है और एक अपूर्व आनन्द का अनुभव होने लग जाता है। मातृभाषा के साथ भी यही भाव लगे हुए हैं। हमारा प्रारंभिक ज्ञान मातृभाषा द्वारा ही होता है और हम अपने भावी ज्ञान को भी वह हमें चाहे जिस भाषा द्वारा प्राप्त हो मातृभाषा द्वारा प्राप्त किए हुए ज्ञान के आलोक में ही देखते हैं। मातृभाषा हमारे बाल्यकाल की भाषा होने के कारण हमारे मानसिक संस्थान का अंग बन जाती है। मनुष्य

चाहे जितना विदेशी रंग में रँगा हो किन्तु सच्चे हर्ष और घोर विपत्ति के अवसर पर वह मातृभाषा में ही बोलता है। कहा जाता है कि एक जासूस को किसी मनुष्य की जाति और जन्म-भूमि का पता नहीं चलता था। इस समस्या को हल करने के लिए उसने अपने गुरुदेव की शरण ली। उन्होंने सलाह दी कि रात्रि को जब वह व्यक्ति घर लौटता हो उसकी पीठ में अचानक एक घूँसा मारना और देखना कि वह किस भाषा में बोलता है। जिस भाषा में वह अपने आहत होने का भाव प्रकाशित करे उसी को उस की मातृ-भाषा समझना। इस कथा में बहुत कुछ मनोवैज्ञानिक तथ्य है। भय हमको अपने स्वजनों की ओर खींचता है। हमारी मातृभाषा के साथ आत्म-रक्षा के भाव लगे हुए हैं। जिस समय हमारी आत्म-रक्षा का संकटमय अवसर आता है हम प्रायः अपनी मातृभाषा का ही प्रयोग करते हैं।

मातृभाषा के साथ हमारे बाल्यकाल की मधुर स्मृतियाँ जुड़ी होती हैं, इस कारण वह बड़ी मनोहर मालूम होती है। उसे बोलने और सुनने के लिए हमारे मुख और कान की पेशियाँ अभ्यस्त हो जाती हैं, और उसके उच्चारण वा श्रवण में हमको न्यूनातिन्यून प्रयास ही नहीं पड़ता वरन् एक प्रकार का अपूर्व सुख प्राप्त होता है। जो आनन्द हमको अपनी मातृभाषा के गायन में आता है वह किसी दूसरी भाषा के गायन में नहीं।

मातृभाषा के शब्दों में हमारी जातीय-संस्कृति का इतिहास छिपा रहता है। उसके द्वारा हम अपने घर वालों और जातिवालों के साथ एक सम्मिलित सूत्र में बँध जाते हैं

मातृभाषा द्वारा हम अपने ज़ातिवालों के हृदय तक अपनी बात पहुँचा सकते हैं। जिस प्रकार तिलक-छाप आदि बाह्य चिह्न धार्मिक-समूहों को संगठित रखने में सहायक होते हैं उसी प्रकार कोई मातृभाषा उस भाषा-भाषियों में एक अलक्षित प्रेम-भाव उत्पन्न कर देती है। मातृभाषा का प्रचार जातीय गौरव को बढ़ाता है। मातृभाषा का व्यवहार करते हुए हम को यह अनुभव होने लगता है कि हमारी कुछ निजी संपत्ति है। मातृभूमि से हमको बाँधे रखने तथा "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" का भाव उत्पन्न करने में भी मातृभाषा विशेषरूप से सहायक होती है। मातृभाषा द्वारा शिक्षित-अशिक्षितों और गरीबों और अमीरों के बीच का अन्तर मिट जाता है। जब हम अपनी मातृभाषा में बात-चीत करने लग जाते हैं तब हम अपने लोगों को अपने मालूम होने लगते हैं। उनके साथ हमारा सहकारिता का भाव बढ़ जाता है। आजकल जो विचार और क्रिया में विच्छेद है वह मातृभाषा के समुचित आदर न होने के कारण ही है। विचार पढ़े-लिखे लोगों के हाथ में है जो प्राय: मातृभाषा से विमुख रहते हैं और क्रिया प्राय: मातृभाषा-भाषी अनपढ़ों के हाथ में है। इसी विचार और क्रिया के विच्छेद के कारण बहुत सी सामाजिक सुधार संबन्धिनी आयोजनाएँ निष्फल हो जाती हैं।

भारतवर्ष में जो मौलिकता का अभाव है उसका बहुत कुछ कारण भी यही है कि हमारी शिक्षा का माध्यम हमारी मातृभाषा नहीं है। हम विचार और किसी भाषा में करते हैं और शिक्षा दूसरी भाषा में प्राप्त करते हैं। इसलिए हमारी शिक्षा हमारे मानसिक

संस्थान का अंग नहीं बनने पाती । इसीलिए वर्तमान शिक्षा द्वारा प्राप्त ज्ञान फलता फूलता नहीं । उस ज्ञान का हम अपने देश-भाइयों को भी लाभ नहीं दे सकते । ज्ञान मनन से बढ़ता है और मनन के लिए पारस्परिक आदान-प्रदान आवश्यक है । यह आदान-प्रदान और विचार-विनिमय जितना व्यापक मातृभाषा द्वारा हो सकता है उतना दूसरी भाषा द्वारा नहीं ।

मातृभाषा माता के दूध के समान पवित्र है । माता के समान स्नेहमयी है और माता के समान ही हमारी गुरु है ।

मातृभाषा का व्यवहार ज्ञान के विस्तार तथा उसमें मौलिकता उत्पन्न करने में एवं जातीय जीवन की वृद्धि में सबसे अधिक सहायक होता है । मातृभाषा की उन्नति सब प्रकार की उन्नति का मूल है, क्योंकि भाषा की उन्नति के साथ विचार में स्पष्टता आती है और विचार की वृद्धि होती है । विचार ही सारी क्रियाओं का मूल स्रोत है । यदि विचार में शक्ति और स्पष्टता है, तो हमारी क्रियाओं का प्रवाह अकुंठित रूप से बहता रहेगा और हम उत्तरोत्तर उन्नति करते जाएँगे ।

---

१६. राष्ट्र-निर्माण के लिए सार्वजनिक भाषा की आवश्यकता

एक सम्मिलित राजनीतिक हित से बँधे हुए किसी देश के सुव्यवस्थित और संगठित जन-समुदाय को राष्ट्र कहते हैं।

राष्ट्र के लिए तीन बातें आवश्यक हैं—

१. देश अर्थात् प्राकृतिक सीमाओं से घिरा हुआ एक भूभाग। देश की जल-वायु, रहन-सहन, भाषा और संस्कृति जहाँ तक हो सके एक-सी हो।

२. उस देश में रहने वाले लोग नियम और व्यवस्था से रहते हों और उन में किसी प्रकार का संगठन भी हो।

३. वे लोग एक राजनीतिक हित से बँधे हों।

जहाँ ये तीन आवश्यक बातें मौजूद हों वहाँ एक देश के भिन्न भिन्न प्रान्तों, भिन्न भिन्न जातियों, और भिन्न भिन्न मतावलंबियों के सम्मिलन से भी एक राष्ट्र बन सकता है। जैसे कि भारतवर्ष जैसे विस्तृत देश में कितने ही प्रान्त हैं, कितनी भिन्न-भिन्न जातियाँ हैं, कितने मत हैं, परन्तु वे सब एक भारतीय राष्ट्र के अंग हैं। राष्ट्र के भिन्न-भिन्न अंगों में, भिन्न-भिन्न प्रान्तों में, विभिन्न भाषाओं का प्रचार हो सकता है, जैसे पंजाब में पंजाबी, बंगाल

में बँगला, गुजरात में गुजराती। ऐसे ही भिन्न-भिन्न मतावलंवी भी भिन्न-भिन्न भापाओं को अपना सकते हैं; जैसे—हिन्दू हिन्दी को और मुसलमान उर्दू को। परन्तु समूचे राष्ट्र के लिए एक राष्ट्र-भाषा की, एक सार्वजनिक भापा की आवश्यकता है जो समूचे राष्ट्र के राष्ट्रीय कामों में काम आ सके, जो समूचे राष्ट्र को एक सूत्र में बाँध सके, जिसके द्वारा समूचा राष्ट्र अपने एक-राष्ट्रीय हित को समझ सके। क्योंकि भापा के साथ संगठन, संस्कृति, व्यवस्था और एक-हित होने का प्रश्न लगा हुआ है।

संगठन के लिए विचारों का आदान-प्रदान-आवश्यक है। जब तक मनुष्य को उसकी भापा में बात न कही जाय, तब तक वह उसके हृदय में चुभती नहीं है, और जब तक कोई बात चुभे नहीं, तब तक मनुष्य उसके अनुकूल काम करने के लिए वैसी तत्परता से तैयार नहीं होता। एक भापा बिना सुधारक लोग पढ़े-बे-पढ़े, छोटे-बड़े, बालक-वृद्ध, मज़दूर और पूँजीपति के हृदय तक अपने संदेशों को नहीं पहुँचा सकते। सबके हृदय तक अपनी आवाज़ पहुँचाए बिना संगठन की आशा करना दुराशा मात्र है। एक भापा द्वारा हम केवल राष्ट्रीय भावों का प्रचार और विस्तार ही नहीं कर सकते, वरन् सबको एक भापा-भापी होने के दृढ़-सूत्र में भी बाँध सकते हैं। जो जन-समुदाय किसी एक सम्मिलित वस्तु का गौरव कर सकता है, उसके व्यक्तियों में परस्पर प्रेम-भाव की अधिक संभावना रहती है। भापा एक ऐसी चीज़ है, जिसके लिए भिन्न-भिन्न मत और संस्कृति के लोग सम्मिलित रूप से गौरव अनुभव कर सकते हैं। कोई मनुष्य चाहे अंगरेज़ी वेश-भूपा धारण किए हो,

किन्तु यदि वह आप से आप की भाषा में बोले तो उसके साथ आपका भेद-भाव ही कम नहीं हो जाता बल्कि आत्मीयता का भाव उत्पन्न हो जाता है।

एक-भाषा के साथ एक-जातीयता का भाव लगा हुआ है, यद्यपि राष्ट्र में एक-जातीयता आवश्यक नहीं। भिन्न भिन्न जाति के लोग एक राष्ट्र बना सकते हैं, यदि उनमें एक-राष्ट्रीय-भाव हो। इंगलैंड, जर्मनी आदि देशों का इतिहास बतलाता है कि किस प्रकार भिन्न-भिन्न जातियों के लोग भाषा के एक सूत्र में बँध कर एक राष्ट्र के अंग बन जाते हैं। राष्ट्र के लिए यह आवश्यक नहीं कि उसके बनाने वाले सब अंग उत्पत्ति से एक जाति के हों—यदि हों तो अच्छा है; किन्तु उनमें एक-राष्ट्रीयपन के भाव के लिए एक भाषा अत्यन्त आवश्यक है।

भाषा के साथ संस्कृति का भी प्रश्न लगा हुआ है। हम जिस भाषा का व्यवहार करते हैं, उसकी संस्कृति अर्थात् सभ्यता हम में आ जाती है। शब्दों में इतिहास भरा रहता है। एक भाषा होने से एक-सी संस्कृति बनी रहने और बढ़ने की संभावना रहती है, और सब बातों की भाँति संस्कृति और सभ्यता का भी मूल आधार विचारों में है। विचार और भाषा का अटूट सम्बन्ध है। यद्यपि यह कहा जाता है, कि भाषा चाहे बदलती रहे, किन्तु विचार एक रह सकते हैं, तथापि कुछ अंश में यह बात ठीक होते हुए भी पूर्णतया संभव नहीं। अनुवाद द्वारा विचार एक भाषा से दूसरी भाषा में अवतरित हो जाते हैं, किन्तु अवतरित होने में उनकी शक्ति जाती रहती है। एक भाषा के मुहावरे दूसरी भाषा में नहीं आ सकते, न वह शब्दों की ध्वनि रहती है और न उन शब्दों के साथ जो इति-

ह्रास लगा रहता है, वह रहता है। भाषा विचारों की पोशाक ही नहीं, वरन शरीर है। यद्यपि आत्मा प्रधान वस्तु है तथापि शरीर और आकृति भी मनुष्य के आत्मभाव में सम्मिलित रहते हैं। शरीर की बात तो जाने दीजिए, पोशाक तक का प्रभाव पड़ता है। दरबार की पोशाक से खेल में काम नहीं चलता; और खेल की पोशाक दरबार में काम नहीं देती।

भाषा की महत्ता पोशाक से बढ़कर है। यदि हम चाहते हैं कि सब लोग किसी प्रश्न पर एक रूप से विचार करें तो वे विचार एक भाषा में होने चाहिएँ। एक भाषा में विचार होने के कारण उनमें मत-भेद होने की संभावना कम रह जाती है। जिस भाषा के शरीर में पहली बार विचारों की उत्पत्ति हो, उसी भाषा के शरीर में सारे समाज के आगे वे आएँ, नहीं तो उनके पहचानने और प्रभाव में अन्तर पड़ जायगा। यदि आपकी व्यवस्थापिका सभा किसी विषय को किसी भाषा में निश्चित करती है, और वह साधारण जनता के सामने दूसरी भाषा में पेश किया जाता है, तो उसका प्रभाव घट जाता है। वे बासी भोजन की भाँति हमारे सम्मुख आते हैं। एक नियम और एक व्यवस्था के लिए भी एक भाषा की आश्यकता है। यदि व्यवस्था और नियम का एक ही भाषा द्वारा प्रचार किया जाय, तो जिस प्रकार सूखे ईंधन में एक साथ आग प्रवेश कर जाती है उसी प्रकार वे सारे समाज में प्रवेश कर जायँगे। वे उनके विचार का अंग बन जायँगे। जब कोई व्यवस्था ऊपरी तौर पर जमाई जाती है, तब वह चिरस्थायिनी नहीं होती और न उसमें व्यापकता आती है। जब कोई व्यवस्था जातीय

भावों और जातीय संस्कृति के साथ मिल जाती है, जब उसको बच्चा-बच्चा जानने लगता है, तभी वह दृढ़ होती है। इसके लिए भी एक-भाषा की आवश्यकता है।

यही बात एक-राष्ट्रीय हित पर भी लागू होती है। यद्यपि परिस्थिति एक हित को बना लेती है; तथापि वह ऐसा ही होता है जैसे गर्मी के कारण साँप, मोर, हिरण और बाघ का एक कंदरा में आश्रय ले लेना और फिर थोड़ी देर बाद अलग-अलग हो जाना। जब तक एक-राष्ट्रीय हित के साथ और बातों की एकता न हो, तब तक उस एक-हित की एक-सूत्रता भी चिरस्थायिनी और विश्व-व्यापिनी नहीं होती। एक-भाषा की एक-सूत्रता के साथ साथ और बहुत सी बातें आ जाती हैं और यदि नहीं भी आतीं तो कम से कम वह सूत्र द्विगुणित होकर मज़बूत हो जाता है।

परन्तु अब यह प्रश्न उठता है कि क्या कोई विदेशी भाषा किसी राष्ट्र की सार्वजनिक भाषा हो सकती है, और क्या सार्वजनिक भाषा प्रान्तीय भाषाओं की उन्नति में बाधक होगी? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि विदेशी भाषा राष्ट्र की सार्वजनिक भाषा नहीं हो सकती, क्यों कि उस भाषा के साथ विदेशी संस्कृति और विदेशी विचार ऐसे जुटे रहते हैं, कि उसे कोई स्वाभिमानी राष्ट्र अपना नहीं सकता, और वह राष्ट्रीय हित और राष्ट्रीय उन्नति में सहायक होने के स्थान पर उलटा बाधक ही होती है। दूसरे प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि प्रान्तीय कार्यों के लिए प्रान्तीय भाषाओं का ही उपयोग होगा। परन्तु राष्ट्रीय कार्यों के लिए राष्ट्र-भाषा अनिवार्य है और राष्ट्र-निर्माण के लिए जो

बातें आवश्यक हैं, उनकी पूर्ति के लिए एक राष्ट्र-भाषा की आवश्यकता है। उससे आत्मगौरव की वृद्धि होगी। लोगों में अपनेपन का भाव जाग्रत होगा। एक सम्मिलित हित के सम्मिलित अनुभव में सहायता मिलेगी। विचारों के प्रचार और प्रसार में सुविधा होगी। जन-समुदाय और नेताओं में, विचारकों और कार्य कर्त्ताओं में, पढ़े और अन-पढ़ लोगों में अन्तर घट जायगा। सब एक दूसरे की बात को यथावत् समझकर एक भ्रातृ-भाव में दीक्षित हो जायँगे। साहित्य, कला और विज्ञान की उन्नति होगी। आविष्कारकों का जन्म होगा। परस्पर सहकारिता की वृद्धि होने के कारण चारों ओर उन्नति के साधन उपस्थित हो जायँगे। इन सब बातों के होने से राष्ट्र-निर्माण सुलभ हो जायगा।

---

१७. क्या हिन्दी राष्ट्र-भाषा हो सकती है ?

राष्ट्रभाषा उस व्यापक और सार्वजनिक भाषा को कहते हैं जो सारे राष्ट्र में बोली और समझी जा सके और जिसके द्वारा सब साष्ट्रीय कार्य चल सकें। राष्ट्र-भाषा होने के लिए किसी भाषा में निम्नलिखित बातों की आवश्यकता है—

१—उस भाषा को देश में अधिकांश निवासी बोलते हों और उसमें भविष्य के लिए अधिक व्यापक होने की संभावना हो।

२—वह सरल हो।

३—उस भाषा के द्वारा धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवहार चल सकें।

४—वह भाषा देश में बहुत दिन से रही हो जिसके कारण वह सहज में देश से उठ न सके और उसमें आवश्यक संस्कार हो चुके हों।

५—वह देश की संस्कृति और सभ्यता की परिचायक हो।

अब यह देखना आवश्यक है कि हिन्दी इन आवश्यकताओं की कहाँ तक पूर्त्ति करती है ? हिन्दी भाषा के साथ नागरी लिपि का भी प्रश्न लगा हुआ है क्योंकि बहुत से लोग हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी भाषा को तो राष्ट्र-भापा का स्थान देने के लिए तय्यार हैं किन्तु नागरी लिपि के स्थान में रोमन अथवा उर्दू लिपि चाहते हैं।

१—प्रथम आवश्यकता के संबंध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि हिन्दी भाषा आधे से अधिक भारतवर्ष में समझी जाती है।

हिन्दी भाषा प्रायः उन्हीं प्रान्तों में नहीं समझी जाती जिन प्रांतों की भाषाओं की उत्पत्ति संस्कृति से नहीं हुई। ३० करोड़ में प्रायः २१ करोड़ भारतवासी उन भाषाओं को बोलते हैं जिनकी उत्पत्ति संस्कृत से हुई है। शेष ९ करोड़ में साढ़े पाँच करोड़ द्राविड़ भाषाएँ बोलते हैं और साढ़े तीन करोड़ विदेशी भाषाएँ बोलते हैं। संस्कृत से संबंध रखने वाली भाषाओं की १७ शाखाएँ हैं। उनमें से हिन्दी, पंजाबी, सिन्धी गुजराती, मराठी, बँगला और उड़िया ये सात मुख्य हैं। संस्कृत से संबंध रखने वाली भाषाओं में बहुत से तत्सम शब्द एक समान ही हैं। यद्यपि विभिन्न प्रान्तों में उनका उच्चारण कुछ भिन्न हो जाता है, तथापि उनके लिखने में एक ही से वर्णों का व्यवहार किया जाता है। यदि ये सब प्रांतीय भाषाएँ देवनागर अक्षरों का व्यवहार करें तो ये शब्द कम से कम हिन्दुओं के घर में सहज में समझे जा सकते हैं। संस्कृत से निकले हुए तद्भव शब्दों में भेद होते हुए भी एक पारिवारिक समानता सी होती है, जो सहज ही में प्रकट हो जाती है। संस्कृत से निकली हुई भाषाओं में गिनती, आना-जाना आदि बहुत सी क्रियाओं के परिवर्तित रूप और बहुत सी संज्ञाएँ प्रायः समान हैं। इन सब प्रांतीय भाषाओं में हिन्दी ही सब से अधिक व्यापक होने के कारण राष्ट्रभाषा होने की क्षमता रखती है। नागरी लिपि भी संस्कृत भाषा की प्रमाणित लिपि होने के कारण हिन्दुओं में बहुत शीघ्र

व्यापक हो सकती है। शायद सिन्धी को छोड़ कर, जो उर्दू में लिखी जाती है, संस्कृत से सम्बन्ध रखने वाली प्राय: सभी भारतीय भाषाओं की वर्णमाला एक-सी है; केवल अक्षरों के आकार में भेद है। नागरी अक्षरों का आकार सब से सुगम है। इस हिसाव से कम से कम हिन्दुओं में नागरी लिपि और हिन्दी भाषा की व्यापकता बढ़ना बहुत आसान है।

अब रहा मुसलमानों का प्रश्न। उनकी भाषा तो हिन्दी से मिलती ही है। उर्दू भाषा की ज़मीन तो हिन्दी की ही है, उस में फ़ारसी अरबी के शब्दों के बाहुल्य के कारण उसके बेल-बूटे कुछ भिन्न हो गए हैं। उच्च हिन्दी में से संस्कृत शब्दों का बाहुल्य कम कर दिया जाय और इसी प्रकार उच्च उर्दू में फ़ारसी और अरबी शब्दों की वहुतायत न हो तो हिन्दुओं और मुसलमानों की भाषाओं में और भी समानता हो जायगी। दोनों भाषाएँ एक ही हिन्दुस्तानी भाषा हो जायँगी। अब भी वे एक दूसरे की भाषाओं को भली प्रकार समझ लेते हैं।

एक प्रकार से मुसलमान लोग तो हिन्दी भाषा के व्यापक बनाने में सहायक हुए हैं। भिन्न-भिन्न प्रान्तों के अधिकांश मुसलमान प्रान्तीय भाषा के साथ उर्दू भाषा को जानते हैं और वे हिन्दी समझ सकते हैं। उनके लिए नागरी लिपि का प्रश्न रह जाता है। एक-जातीयता के ख़याल से उनके लिए नागरी लिपि सीखना कठिन नहीं है। देशी राज्यों में मुसलमान लोग नागरी लिपि का बड़ी आसानी से व्यवहार करने लग जाते हैं। मुसलमानी शासन के समय में मुसलमानों ने हिन्दी भाषा को अच्छी तरह से अपनाया

था। मुसलमानों ने जो हिन्दी भाषा की सेवाएँ की हैं उनको कौन हिन्दू भूल सकता है ? जायसी, रसखान, रहीम आदि कवियों का नाम प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी के मुख से आदर और प्रशंसा के साथ निकलता है। एक भावुक कवि तो एक एक मुसलमान कवि पर सौ सौ हिन्दू वार डालने के लिए तैयार थे। आजकल भी कई मुसलमान महाशय हिन्दी के अच्छे लेखक हैं। दोनों ओर से थोड़ी उदारता की आवश्यकता है। हिन्दी और नागरी लिपि मुसलमानों में भी अधिक व्यापक हो सकती है। इस सब विवेचना का सार यह है कि इस समय भी हिन्दी सब प्रान्तीय भाषाओं से अधिक व्यापक है और भविष्य में उसकी व्यापकता अधिक होने की संभावना है।

२—सरलता का प्रश्न व्यापकता के साथ लगा हुआ है। व्यापकता उसकी सरलता के प्रमाणों में से एक है। हिन्दी भाषा को विदेशी लोग भी सहज में सीख लेते हैं। यदि हिन्दी भाषा में कुछ कठिनाई है तो लिंग-भेद की। वह उर्दू में भी एक-सी है। यह कठिनाई दुरूह नहीं। पहले तो साधारण व्यावहार के लिए लिंग-भेद इतना आवश्यक नहीं और व्यवहार के साथ लिंग-भेद का सहज में ही अभ्यास हो जाता है। नागरी-लिपि भी सबसे सहल है। यद्यपि उसमें वर्णों का बाहुल्य है, तथापि वह नियमानुकूल होने के कारण सुलभ है। एक अक्षर से एक ही आवाज़ निकलती है और एक आवाज़ के लिए एक ही अक्षर है। उसमें 'सीन', 'स्वाद', 'तोय', 'ते', का भेद नहीं, 'हे' भी दो प्रकार की नहीं। व्यंजन के बोलने में जैसी आवाज़ है वैसी ही लिखने में रहती है, 'एफ' और 'एल' का हिसाब नहीं। उसमें यह भी नहीं कि उच्चारण में किसी व्यंजन

के साथ एक स्वर लगाया जाय और किसी व्यंजन के साथ दूसरा; जैसे 'के' में तो 'ए' और 'डी में 'ई' लगता है । उसमें सब व्यंजनों के साथ 'अ' ही लगता है । 'जीम' 'लाम', 'दाल', 'मीम' की भाँति किसी व्यंजन के साथ फिजूल व्यंजन नहीं लगाए जाते । अंगरेजी की 'सी' और 'जी' की भाँति एक व्यंजन की दो ध्वनियाँ नहीं है । वर्णों का क्रम भी वैज्ञानिक है । कण्ठस्थ, तालव्य, मूर्धन्य, दन्तस्थ और ओष्ठ्य सब स्वाभाविक क्रम से आते हैं । ऐसी सरल लिपि को छोड़ कर दूसरी उर्दू या रोमन लिपि को अपनाना युक्ति-संगत नहीं । इसमें थोड़ी आवाज़ों की कमी है, जैसे व्यंजनों में ज़, फ़ और स्वरों में कॉलेज का 'कॉ' । इनके लिए नए चिह्न बन सकते हैं और अधिकांश रूप में बन भी गए हैं ।

३—धर्म, समाज, दर्शन, विज्ञान, राजनीति सभी क्षेत्रों में हिन्दी की व्यावहारिक योग्यता प्रमाणित हो चुकी है । देश में जाग्रति उत्पन्न करने में अंगरेज़ी भाषा के पश्चात् हिन्दी का ही नंबर आता है और एक दृष्टि से हिन्दी का स्थान ऊँचा है, क्योंकि साधारण जनता में हिन्दी भाषा द्वारा ही सामाजिक और राजनीतिक भावों का प्रचार हुआ है । देशी राज्यों में हिन्दी द्वारा अदालती काम काज भी होते हैं । अभी कुछ शब्दों की कमी अवश्य है; किन्तु वह कमी क्रमशः दूर होती जा रही है । कुछ राज्यों में तो अदालती काम-काज में भी हिन्दी शब्दों का प्रयोग होता है । मुद्दई और मुद्दालह आदि उर्दू के प्रचलित शब्दों का हिन्दी में व्यवहार होना हानिकारक नहीं, क्योंकि जो लोग हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाना चाहते हैं वे उसको संस्कृत के शब्दों ही से नहीं बाँधना चाहते ।

हाँ लिपि का प्रश्न अवश्य प्रधानता रखता है और नागरी लिपि सब प्रकार के कार्यों के लिए उपयुक्त है। हिन्दी के टाइपराइटर बन गए हैं—टाइपराटर ही नहीं लीनोटाइप भी बन गए हैं, जिसके प्रचार से दैनिक अखबारों को बड़ी सहायता मिलेगी। हिन्दी में संक्षिप्त लिपि का प्रचलन भी हो रहा है।

४—हिन्दी जिस प्रकार देश में व्यापक है उसी प्रकार काल की प्राचीनता में भी आगे बढ़ी हुई है। हिन्दी का जन्म सन् ७०० के क़रीब का है। यही समय अंगरेज़ी के जन्म का है। इसमें साहित्य का खूब विस्तार हो चुका है, और होता जा रहा है। इसके साहित्य में मुसलमान ईसाई सभी ने योग दिया है। यह भाषा देश से इसी प्रकार नहीं उठ सकती जिस प्रकार इंगलिस्तान से अंगरेज़ी। इसमें प्रायः सभी आवश्यक परिवर्तन हो चुके हैं। शब्दों की जैसी तोड़ मरोड़ होनी थी सो हो चुकी। शब्द समय के प्रवाह में घुट-मँज गए हैं। उनमें विशेष-शक्ति का समावेश हो गया है, उनका इतिहास से सम्बन्ध भी स्थापित हो चुका है। इसकी भित्ति दृढ़ है, इसके आधार पर व्यापक राष्ट्र-भाषा का ऐसा भवन बनाया जा सकता है जो चिरस्थायी होगा।

५—हम ऊपर दिखा चुके हैं कि प्रान्तीय भाषाओं में सब से अधिक प्रचलित हिन्दी है। अतः प्रान्तीय भाषाओं में से एकमात्र हिन्दी ही राष्ट्रभाषा होने की क्षमता रखती है, यह तो निश्चित ही है, परन्तु कई सज्जन आजकल की राजभाषा अंगरेज़ी को, अथवा कई कट्टर मुसलमान उर्दू को भारत की राष्ट्र-भाषा और रोमन अथवा अरबी-लिपि को भारत की राष्ट्र-लिपि बनना चाहते

। उनको ध्यान रखना चाहिए कि अंगरेज़ी और उर्दू, ऐसे ही रोमन तथा अरबी लिपि भारतीय संस्कृति, भारतीय सभ्यता की परिचायक नहीं हो सकतीं। वे अपनी दंतकथाएँ, तथा भावुक साहित्य विदेशों से लेती हैं। भारतीय पौराणिक कथाओं और भारतीय संस्कृति से, जिसमें भारतीय पैदा होते और साँस लेते हैं, इन भाषाओं और लिपियों को कोई सरोकार नहीं, अतः ये राष्ट्र-भाषा या राष्ट्रलिपि होने की क्षमता नहीं रखतीं।

राष्ट्र-भाषा होने के लिए हिन्दी भाषा की योग्यता सभी प्रान्तीय नेताओं ने स्वीकार की है। दक्षिण में भी हिन्दी के प्रचार का काम जोरों पर चल रहा है। यह भाषा उच्च-शिक्षा का माध्यम बन रही है। इसके द्वारा शिक्षा प्राप्त कर लोग हिन्दी में राजनीतिक, सामाजिक, दार्शनिक गवेषणा का काम कर सकेंगे। हिन्दी के राष्ट्र-भाषा होने से देश की प्राचीन संस्कृति की रक्षा होते हुए प्रान्तों में विचारों और भावों का आदान-प्रदान बढ़ जायगा और सब राष्ट्र-भाषा के एक सूत्र में बँधकर देश की उन्नति में सहायक होंगे।

---

१८. हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी

आजकल राष्ट्र-भाषा की समस्या बड़ी जटिल हो रही है; कोई हिन्दी के पक्ष में है तो कोई उर्दू के हिमायती हैं और कोई हिन्दुस्तानी का राग गाते हैं। किन्तु हिन्दी, उर्दू तथा हिन्दुस्तानी तीनों ही भाषाओं का मूलाधार एक ही है, अथवा यह कहा जा सकता है कि तीनों भाषाएँ एक ही मूल भाषा के भिन्न-भिन्न रूप हैं। ऐसा होते हुए भी गत सौ-सवासौ वर्षों से हिन्दी और उर्दू का विरोध बढ़ता ही जाता है। इन भाषाओं के साथ भी सांप्रदायिकता का भाव जोड़ा जा रहा है। हिन्दी हिन्दुओं की भाषा कहलाने लगी है, और उर्दू मुसलमानों की; तथा भारत सरकार और राष्ट्रीय मनोवृत्ति के लोग जो सांप्रदायिकता के चक्कर से अपने को दूर रखना चाहते हैं, वे हिन्दुस्तानी के पैरोकार बन रहे हैं। इन तीनों भाषाओं में क्या अंतर है, वह अंतर कैसे प्रारंभ हुआ, क्या इनके पारस्परिक विरोध में कुछ तथ्य है अथवा वह काल्पनिक है, वह विरोध दूर हो सकता है या नहीं, हो सकता है तो किस तरह और इन तीनों में से कौन सी भाषा भारत की राष्ट्र-भाषा हो सकेगी इन प्रश्नों की हमें यहाँ विवेचना करनी है।

शब्दार्थ की दृष्टि से 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग हिन्द या भारत में बोली जाने वाली किसी भी आर्य, द्राविड़ अथवा अन्य कुल की भाषा के लिए हो सकता है। किन्तु आजकल इसका व्यवहार

मुख्यतया नागरी लिपि में लिखी जाने वाली उत्तर भारत के मध्य-भाग के हिंदुओं की वर्त्तमान साहित्यिक भाषा के अर्थ में तथा व्यापक रूप से इसी भूमि-भाग की बोलियों और उनसे संबन्ध रखने वाले प्राचीन साहित्यिक रूपों के अर्थ में होता है।

उर्दू शब्द का मूल अर्थ है लश्कर या छावनी का बाज़ार। अरबी फ़ारसी मिश्रित बाज़ार में बोली जाने वाली खड़ी बोली के जिस रूप का प्रयोग उर्दू-ए-मुअल्ला 'शाही-फौजी बाजारों' में होता था, उसे उर्दू-हिन्दी कहा जाता था। धीरे-धीरे उसे केवल उर्दू ही कहा जाने लगा, और उसमें पर्याप्त साहित्य निर्मित हुआ। आज-कल उर्दू से तात्पर्य आधुनिक साहित्यिक हिन्दी के उस रूप का लिया जाता है, जिसमें अरबी फारसी के शब्द अधिक होते हैं और जो फारसी लिपि में लिखी जाती है।

आधुनिक साहित्यिक हिन्दी या उर्दू का बोलचाल का वह, रूप हिन्दुस्तानी कहलाता है जिसमें न संस्कृत शब्दों का आधिक्य हो और न अरबी फारसी शब्दों की भरमार।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दुस्तानी तो हिन्दी और उर्दू भाषाओं का मध्य मार्ग है। उर्दू तथा हिंदी दोनों साहित्यिक भाषाओं का यद्यपि एक ही मूलाधार है, दोनों में जाना, खाना, गाना आदि एक ही क्रियाएँ हैं, कारक और विभक्तियाँ भी एक ही हैं तथापि साहित्यिक वातावरण, शब्द-समूह तथा लिपि में दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। हिन्दी उन सब बातों के लिए भारत की प्राचीन संस्कृति तथा उसके वर्तमान रूप की ओर देखती है, नये शब्दों के लिए अपनी नानी संस्कृत के अक्षय-

भंडार को छानती है, पर उर्दू भारत में उत्पन्न होने और पनपने पर भी फारस और अरब की सभ्यता और साहित्य से जीवन-श्वास ग्रहण करती है और नये शब्दों के लिए फारसी और अरबी लुगात की ओर ताकती है। इस प्रकार दो भिन्न-भिन्न संस्कृतियों और दो भिन्न-भिन्न संप्रदायों ने अपना-अपना रंग चढ़ाकर एक ही खड़ी बोली के दो भिन्न-भिन्न रूप गढ़ दिये। विशुद्धतावादी, संस्कृत तत्सम शब्दों के पक्षपाती पंडितों तथा उर्दू-ए-मुअल्ला के हामी मुल्लाओं और मौलवियों की कलम ने इस खाई को यहाँ तक चौड़ा कर दिया है कि नीचे लिखे हिन्दी और उर्दू के पद्य और गद्य में सिवाय 'से', 'है', 'की', या 'थी' आदि के और कुछ मेल ही नहीं दिखाई देता। अब जरा संस्कृत-गर्भित हिन्दी और फारसी अरबी की खिचड़ी उर्दू के कुछ नमूने देखिए—

"अतिस-पुष्प-अलंकृत-कारिणी
सुछवि नील-सरोरुह-वर्द्धिनी
नवल-सुन्दर श्याम-शरीर की
सजल-नीरद सी कल-कान्ति थी"

× × × ×

"मेरे दूदे (धुआँ) आह से याँ तक ज़माँ है सियाह
आफतावे-आसमाँ ज़ंगी (काले हब्शी) के मुँह का खाल (तिल) है"

× × × ×

"वहाँ जिस समय सुकवि सुपंडितों के मस्तिष्क सुमेरु के सोते के अदृश्य प्रवाह सम प्रगल्भ-प्रतिभास्रोत से समुत्पन्न शब्द कल्पना-कलित अभिनवभाव-माधुरी भरी छलकती अति

मधुर रसीली स्रोतःस्वती उस हंसवाहिनी हिन्दी सरस्वती की कवि की सुवर्ण-विन्यास-समुत्सुक-रस-रसनारूपी सुचमत्कारी उत्स से कलरव-कल-कलित अति सुललित प्रवल प्रवाह सा उमड़ा चला आता।"

"इब्तदाए-सिन सवा (बचपन) से ता अवायले-रीआन (शुरू जवानी) और अवायले-रीआन से अलल-आन (अब तक) इश्तियाके माला-युताक़ (ताकत से बाहर) तक़बील (चुम्बन) उतवए-आलि (आपकी बड़ी चौखट) न बहद्द (इस हद पर न था) था, कि सिलके (चढ़ी) तहरीरो-तक़रीर में मुन्तज़िम हो सके, लिहाज़ा बेवास्ता और बौर वसीला हाज़िर हुआ हूँ।"

हिन्दी-उर्दू के इस झगड़े या बढ़ते भेद का सबसे बड़ा कारण हिन्दी उर्दू का नाम-भेद है। राम और रहीम के झगड़े ने जिस तरह हमें आपस में बाँट दिया है, उसी तरह हिन्दी, उर्दू के नाम-भेद ने भी हमारे बीच में दीवार खड़ी कर दी है। अनेक शताब्दियों तक खुसरो, आतिश आदि कवियों ने उर्दू भाषा के लिए 'हिन्दी' या 'हिंदवी' नाम ही प्रयुक्त किया। उनकी भाषा में अरबी, फ़ारसी के शब्दों का पर्याप्त मिश्रण था, पर उन्होंने उसको दूसरा नाम देने की आवश्यकता न समझी। मद्रास प्रान्त के एलोर निवासी बाक़र आगाह (जन्म ११५७ हिजरी, लगभग १७४८ ई०) ने अपने उर्दू दीवान का नाम "दीवाने हिंदी" रखा था। इस मिश्रित भाषा को पहले-पहल दक्खिन वालों ने रेख्ता कहना प्रारंभ किया। पर रेख्ता असल में

पद्य में प्रयुक्त होने वाली मिश्रित भाषा का नाम था। इस भाषा को उर्दू नाम तो बहुत पीछे दिया गया। उर्दू नाम पड़ने के बाद ही इस पर सांप्रदायिकता का रंग चढ़ने लगा। उर्दू में न केवल अरबी, फ़ारसी के कठिन शब्द ही भरे जाने लगे, अपितु उसका कथा-साहित्य एवं उसका साहित्यिक आधार यहाँ तक कि रस्मोरिवाज और दृश्य तथा ऋतुवर्णन भी फारसी से लिया जाने लगा। शीरीं-फरहाद, लैला-मजनू आदर्श प्रेमी बने। धन्वंतरि का स्थान लुक़मान तथा भीम का स्थान रुस्तम ने लिया। कारूँ ने कुबेर का रूप धारण किया। हातिम शिवि और दधीचि के पर्याय बने। पक्षियों में बुलबुल, फूलों में लाला, सौसन और नरगिस, नदियों में दजला और फ़ुरात और पहाड़ों में तूर की गणना होने लगी। कोयल, कमल, गंगा, यमुना, हिमालय का उर्दू-साहित्य में कोई स्थान न था। उर्दू का व्याकरण बनाने वालों ने उसका व्याकरण बिलकुल अरबी ढंग पर बना दिया। 'उर्दू' पत्र के सुयोग्य संपादक मौलाना अब्दुल-हक़ के कथानुसार वे यह बात भूल गये कि उर्दू ख़ालिस हिन्दी ज़बान है, और इसका सीधा सम्बन्ध आर्य-भाषाओं से है; इसके विरुद्ध अरबी भाषा का ताल्लुक सेमेटिक (सामी) अनार्य भाषाओं के परिवार से है। इसलिए उर्दू का व्याकरण लिखने में अरबी ज़बान का अनुकरण किसी तरह जायज़ न था। व्याकरण के अतिरिक्त उर्दू का छन्द-शास्त्र भी विदेशी नियमों पर चलने लगा। फ़ाइलातुन फ़ाइलातुन फाइलन का वज़न खोजा जाने लगा। उर्दू और हिन्दी के लिपि-भेद ने तो इस भेद की आग को प्रदीप्त करने में घी का काम किया। हालाँकि बँगला, गुजराती और विशेषतः मराठी में तो

अत्यधिक अरबी और फारसी के शब्द हैं, पर वहाँ इस तरह का वैमनस्य नहीं बढ़ा क्योंकि वहाँ यह प्रश्न न था। यदि यह लिपि-भेद का झगड़ा हिन्दी, उर्दू में भी न आता तो भाषा में और उसके कारण हिंदू-मुसलमान जातियों में भी इतना भयंकर और अनिष्टकारी भेद-भाव कभी न उत्पन्न होता। हिन्दी उर्दू एक थीं, एक ही रहतीं। इस प्रकार विदेशी शब्दों की भरमार कर विदेशी कथा-साहित्य, विदेशी दृश्य-वर्णन, विदेशी व्याकरण, पिंगल और लिपि तथा सांप्रदायिकता का चोला पहना कर उर्दू को फारसी अरबी की तरह सर्वथा विदेशी तथा मुसलमानी भाषा का रूप देना प्रारम्भ किया गया और हिन्दी संस्कृत शब्दों की गणना मतरूकात (त्याज्य) में की जाने लगी। लखनऊ वाले देहली वालों से बाजी ले जाने के लिए उर्दू को फारसी और अरबी जामा पहनाने में चार कदम आगे बढ़ गये।

उर्दू के इन मुस्लिम शायरों की बात तो जाने दीजिए, काश्मीरी ब्राह्मण और दूसरे कट्टर हिन्दू भी ज़बान को उर्दू-ए-मुअल्ला बनाने की धुन में इसी पन्थ का अनुकरण करने लगे। जिस प्रकार हिन्दी-साहित्य-प्रेम ने रहीम जैसे मुसलमान कवियों से—

> धूर उड़ावत सीस पर कहु रहीम केहि काज,
> जिहि रज मुनि-पत्नी तरी सो ढूँढत गजराज,

कहलाया था उसी प्रकार उर्दू के शौक ने इन हिन्दू शायरों को भी उसी रंग में रँग दिया, जिसमें उर्दू के अनेक कवि रँगे हुए थे।

विदेशी रंग में रँगे जाने की उर्दू की इस प्रवृत्ति को देख कर हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति के प्रेमियों ने उर्दू के विरुद्ध जहाद प्रारंभ किया और उनकी धर्म-भावना ने उन्हें उर्दू का बहिष्कार

करने को बाधित कर दिया। धर्म की तरह भाषा का भी बँटवारा हो गया। इस भाषा-भेद को देखकर प्रसिद्ध विद्वान गार्सां द' तासी ने अपने पाँचवें व्याख्यान (सन् १८५४ ई०) में घोषित किया था—"हिंदुस्तान की यह ज़बान जिसे खास तौर पर हिंदुस्तान की ज़बान कहा जाता है हिन्दी और उर्दू बोलियों में तक़सीम हो गई जिसकी बिना (नींव) मज़हब पर है। क्योंकि आमतौर पर यों भी कहा जाता है कि हिंदी हिंदुओं की ज़बान है और उर्दू मुसल्मानों की। यह वाक़या इस क़दर सही है कि जिन हिंदुओं ने उर्दू में इन्शादराज़ी की है उन्होंने न सिर्फ मुसल्मानों के तर्जे तहरीर की नकल की है, बल्कि इस्लामी खयालात को भी यहाँ तक जज़ब किया है कि उनके अशआर पढ़ते वक्त बमुश्किल इस अमर का यक़ीन होता है कि यह किसी हिन्दू के लिखे हुए हैं।"

इसी भाषा-विभिन्नता की घोषणा श्री राजा लक्ष्मणसिंह ने आज से अनेक वर्ष पूर्व इन शब्दों में की थी—"हमारे मत में हिन्दी उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी हैं। हिन्दी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और फारसी पढ़े हुए हिन्दुओं की बोलचाल है।" उर्दू वालों ने संस्कृत और हिन्दी के शब्दों को गँवारु कहकर मतरूकात (त्याज्य) की श्रेणी में शामिल किया था तो हिन्दी वालों ने अरबी फारसी के उन शब्दों को भी म्लेछ कह कर बहिष्कार करना प्रारंभ किया जो सदियों से इस भाषा में प्रचलित रहकर इस भाषा के अंग बन चुके थे। यहाँ तक कि हिन्दी हिन्दू और हिंदुस्तान के स्थान पर आर्य भाषा, आर्य और आर्या-

वर्त शब्दों का कइयों ने प्रयोग प्रारंभ किया क्योंकि हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान शब्द मुसलमानों की देन समझे जाते थे।

इस प्रकार पंडितों और मौलवियों का विरोध चलता रहा। अंग्रेज़ी राज्य में बढ़ती सांप्रदायिकता और सांप्रदायिक द्वेष इस विरोधाग्नि को भड़काने में सहायता देते रहे। पंडितों ने यह भूलकर कि हिन्दी संस्कृत की दौहित्री होते हुए भी अपनी निजी सत्ता रखती है, हिन्दी को संस्कृतमय बना दिया, और मौलवियों ने यह भूलकर कि उर्दू हिन्दुस्तानी ज़बान है, उसमें फ़ारसी और अरबी के शब्द भरकर उसे विदेशी जामा पहना दिया। पर ९० फीसदी साधारण जनता को इस झगड़े से कोई सरोकार नहीं है। ग्रामीण क़ादिर मियाँ और बिसेसर साहू 'काबिल-ज़रायत' या 'कृषियोग्य' न कहकर 'जुताऊ' ही कहते हैं, 'इन्तिकाम' और 'प्रत्यपकार' दोनों ही शब्दों से वे अपरिचित हैं, वे तो ठेठ हिन्दी शब्द 'बदला' का ही प्रयोग करते हैं। ग़ालिब और मीर, मतिराम और पद्माकर की कविता का एक हर्फ़ भी समझना उनके लिए कठिन है, वे तो कबीर, तुलसी और गिरिधर की सीधी सादी कविता पर ही लट्टू हैं। जिस तरह 'हिन्दू धर्म खतरे में' या 'मुस्लिम धर्म खतरे में' की आवाज़ें कुछ स्वार्थी लोगों में सीमित हैं, उसी तरह यह भाषा-भेद भी पण्डितों और मौलवियों तक ही सीमित है। वे अपनी इबारत-आराँई या पांडित्य-प्रदर्शन के लिए ही भेद पैदा करते हैं, पर सर्व-साधारण जनता की बोली तो एक ही है चाहे उसे हिन्दी कहिए, हिन्दुस्तानी अथवा उर्दू, वही भारत की राष्ट्रभाषा होगी। इसी कारण यह कहना पड़ता है कि हिन्दी उर्दू के विरोध

में कुछ तथ्य नहीं, और यदि मौलाना और पंडित उसमें व्यर्थ ही अरबी, फारसी या संस्कृत शब्दों की भरमार न करें और थोड़ी सहिष्णुता और उदारता से काम लें तो यह भेद स्वयं ही शान्त हो सकता है।

विशुद्धतावादी संस्कृत के पक्षपाती पंडितों को याद रखना चाहिए, कि एक जीवित जाति और जीवित भाषा में हज़म करने की पर्याप्त शक्ति होती है। इतिहास साक्षी है, और आर्य-गौरव की दुहाई देने वाले मानते हैं कि जिस समय आर्य-जाति जीवित थी—बलशाली थी, उस समय उसने भारत पर आक्रमण करने वाली हून, कुशन और यूची आदि अनेक जातियों को अपने में विलीन कर लिया था। वर्तमान अंग्रेज़ी कितनी भाषाओं का सम्मिश्रण है? आज हिन्दी भी एक जीवित भाषा है। उसने अनेक विदेशी शब्दों को हज़म कर लिया है। वे शब्द बरसों से उसके अंग बन चुके हैं। बाग, बाकी, अखबार, अदालत, अमीर, गरीब, अर्जी, इमारत, इम्तहान, कर्ज़, कुर्सी, खराब, बाज़ार, अंगूर, अनार, उस्तरा, कबूतर, कमर, कमीना, किनारा, खरगोश, खानसामा, गंदा, गर्दन, गरम, गवाही, चरखा, चालाक, मैदा, कलम, कलई, जल्दी, तमाशा, तंदूर, तख्त, जोश, गज, जवाब, जहाज, आचार, चपरासी, चमचा, मुफ्त, मुनीम, मुरब्बा, आदि अनेक अरबी फारसी शब्द ऐसे हैं, कि जब तक कोष उठा कर उनका उद्गम न देखा जाय, तब तक यह पता नहीं लग सकता कि वे शब्द विदेशी हैं या हिन्दी की निजी संपत्ति हैं। ग्रामीण और शहरी सब उनका प्रयोग करते हैं। उन शब्दों को निकाल बाहर

करना अपनी भाषा की खुदकुशी करना है। साधारण बोल-चाल में अनार के स्थान पर दाड़िम, कुर्सी के स्थान पर मञ्चिका और बाज़ार के स्थान पर अयण, उस्तरा के स्थान पर क्षुर आदि शब्दों के प्रयोग करने वालों की भाषा को समझने वाले विरले ही होंगे। आचार, मुरब्बा, मैदा आदि के स्थान में संस्कृत कोष से ढूँढ़कर नये शब्द निकालना या तद्धित और कृदन्त प्रत्यय जोड़कर नये शब्दों को गढ़ना व्यर्थ समय बरबाद करना है। यदि उनको विशुद्धता का इतना पक्षपात है, तो साइकल, रेल, मोटर, टेलीफोन आदि नये आने वाले अंग्रेज़ी शब्दों के लिए 'नो एडमिशन' का साइनबोर्ड लगाना होगा, और यदि ऐसा नहीं करेंगे तो इन पदार्थों के लिए नये शब्द गढ़ने होंगे, अथवा इन पदार्थों का ही बहिष्कार करना होगा। कई सांप्रदायिक मनोवृत्ति के लोग इन अंग्रेज़ी शब्दों को अपनाने को तो तैयार हो जाते हैं, पर सैकड़ों बरसों से बसे हुए और भारतीय जीवन में रमे हुए मुसलमान भाइयों द्वारा दिये गये शब्दों के विरुद्ध जहाद करना अपना धर्म समझते हैं, उनकी यह प्रवृत्ति क्या उनकी गुलाम मनोवृत्ति का इज़हार नहीं करती! उन्हें ध्यान रखना चाहिए कि जनता और उनके प्रतिनिधि कवि और लेखक उनके फतवे की सदा ही अवहेलना करते रहे हैं। हिन्दू जनता के प्रतिनिधि कवि सूर, तुलसी, मीरा और बिहारी ने मसाहत, मुहकम, जियान, गरीब-निवाज, उमरदराज, पाइमाल, तहस-नहस, बाँदी, कौल, खानाजाद, पायंदाज़, इजाफा आदि अनेक विदेशी शब्दों का प्रयोग किया है। महाकवि भूषण जैसे जातीय कवि ने तो विदेशी शब्दों को

अपनाने में हद ही कर दी है। भूषण समझते थे कि तत्कालीन कोमलकांत ब्रजभाषा उनके ओजयुक्त उग्र भावों को वहन करने में समर्थ न थी, अतः उन्होंने भाषा में ओज, सजीवता और व्यापकता लाने के लिए विशुद्धता के झीने परदे को दूर कर कैसी विचित्र ओजपूर्ण चाशनी तैयार की, जिसमें संस्कृत, देशज और विदेशी शब्दों का अनूठा मेल है—"ता दिन अखिल खलभलैं खल-खलक में जा दिन शिवाजी गाजी नेक करखत हैं" या "जिनकी गरज सुनि दिग्गज बेआव होत, मद ही के आव गरकाव होत गिरि है।" आधुनिक काल के गद्य-लेखकों में से भी जनता ने मुंशी प्रेमचंद आदि ऐसे लेखकों की शैली को ही अधिक सराहा है जिन्होंने विशुद्धतावाद की उपेक्षा कर सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा को अपनाया है।

ऐसे ही जो मौलवी हिन्दी के शब्दों को मतरूकात की श्रेणी में शुमार कर उर्दू को फारसी और अरबी का रूप देते हैं, उन्हें "वज़े इस्तलाहात" के विद्वान् लेखक सलीम साहब के नीचे लिखे उद्धरण पर ग़ौर करना चाहिए।

"हमारे नज़दीक यह खयाल सख्त गलती पर मबनी (अवलंबित) है। हिन्दी हमारी महबूब ज़बान (प्यारी भाषा) उर्दू के लिए जिसको हम दिन-रात घरों में, बाज़ारों में, महफिलों में, मदरसों और कारखानों में और हर मुकाम में और हर हालत में बोलते हैं, और इसी को हमेशा लिखते और पढ़ते हैं, बमंज़िले-ज़मीन के हैं (आधार-भूमि के सामान है)। इसी ज़मीन पर फारसी और अरबी के पौदे लगाये गये हैं। इसी तख्ते पर गैर ज़बानों ने

आकर गुलकारी की है। अगर यह ज़मीन (यानी हिंदी) निकाल दी जाय तो फिर उर्दू ज़बान का नामोनिशान भी बाकी न रहेगा। हिंदी को हम अपनी ज़बान के लिए उम्मुल्लिसान (भाषा की जननी) और हयूलाये अव्वल (मूल तत्त्व) कह सकते हैं। इस के बगैर हमारी ज़बान की कोई हस्ती नहीं। इसकी मदद के बगैर हम एक जुमला (वाक्य) भी नहीं बोल सकते। जो लोग हिंदी से मुहब्बत नहीं रखते वह उर्दू ज़बान के हामी नहीं, फारसी अरबी या किसी दूसरे ज़बान के हामी हों तो हों। क्या वह हिंदी अस्मा ओ अफ़आल (संज्ञा और क्रिया-पद) जिनको हम रात दिन चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते और सोते-जागते इस्तेमाल करते हैं, मुब्तज़ल और बाज़ारी हो सकते हैं।" ये मौलाना लोग अपनी ज़बान को 'उर्दू-ए-मुअल्ला' बनाने की धुन में जितने अधिक विदेशी शब्द भरते है, उतना ही उनकी ज़बान जनता से दूर होती जाती है। यदि ये कारीगर को 'अहले हरफ़,' ईंट को 'खिश्त', कुटी छनी को 'कोफ्त-बेख्त:', खेती को 'ज़रायत' और घरवाली को 'अहलिया' कहेंगे, तो शायद सर्व-साधारण मुसलमान तक के लिए उनकी ज़बान को समझना कठिन हो जायगा। इसी प्रकार रेडियो वालों का सीधे-सादे गेहूँ शब्द के लिए गन्दम कहना कुछ बेतुका सा लगता है। इसी प्रकार उर्दू को अरबी व्याकरण के अनुसार चला कर उसे और अधिक दुर्बोध बनाना भी बहुत हानिकर है। औरत का बहुवचन 'औरतें' तो समझ में आता है, पर 'मस्तूरात' को कोई कोई समझेगा। किताब का बहुवचन किताबें, अमीर का अमीर, वज़ीर का वज़ीर

तथा दवा का दवाएँ तो हो सकता है, पर कुतुब, उमरा, वुज़रा और अदवियात का अर्थ साधारण आदमी के लिए समझना टेढ़ी खीर हो जायगा। इम्तिहान और अदब तो लोग समझ लेंगे, पर मुम्तहन, मुम्तहिन; मुअद्दब और मुअद्दिब का भेद कितने जानते हैं। सारांश यह कि उर्दू हिन्दी ज़बान है उसमें हिन्दी के शब्दों की अधिकता है। बाहरी शब्द तो हिन्दी शब्दों का पाँचवाँ हिस्सा कठिनता से होंगे, फिर उसमें प्रयुक्त होने वाले शब्दों का प्रयोग हिन्दी-व्याकरण के अनुसार होना चाहिए।

उर्दू और हिन्दी के भेद के जो अन्य प्रमुख कारण कहे जा सकते हैं, वह यह कि उर्दू भारत में पनपने पर भी फ़ारस और अरब की सभ्यता और साहित्य से जीवनश्वास ग्रहण करती है। उर्दू के कवियों का भारत में बैठे बैठे उन प्राकृतिक दृश्यों के स्वप्न देखना जिन्हें जीवन भर देखने का उन्हें कभी मौका ही नहीं मिला तथा हिमालय और गंगा आदि के स्थान पर तूर और दजला का चित्रण करना, शस्यश्यामला भारत-माता के स्थान पर अरब के रेगिस्तान के गीत गाना कितना अस्वाभाविक और कृत्रिम है। जिस दिन स्वर्गीय इकबाल ने 'हिन्दी हैं, हम वतन हैं, हिन्दोस्ताँ हमारा' की असलियत को महसूस कर 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा, हम बुलबुले हैं उसकी वह गुलसिताँ हमारा' वाला अमर गीत लिखा था उस दिन उनकी भाषा पर कितना हिन्दुस्तानी रंग चढ़ गया था! जनता ने स्वर्गीय इकबाल के शायद इसी गीत का सबसे ज्यादा स्वागत किया होगा, क्योंकि उसके भाव और भाषा हिन्दुस्तानी थे। मियाँ नजीर का 'सब

ठाठ पड़ा रह जायगा जब लाद चलेगा बनजारा' कितना लोक-प्रिय हुआ! ऐसी रचनाओं को सर्वसाधारण समझ सकते थे, इन में उर्दू-ए-मुअल्ला की बजाय ऐसी ही बोल-चाल की हिन्दुस्तानी का प्रयोग किया गया था जिसमें उर्दू-हिन्दी का भेद न था।

कुछ दिन पूर्व उर्दू-दिवस मनाते हुए पंजाब के प्रधान मंत्री सर सिकंदरहयात खाँ तथा प्रसिद्ध विद्वान और उर्दू-भक्त सर तेज बहादुर सप्रू ने फरमाया था कि उर्दू ही भारत की राष्ट्रभाषा है, इसी को हम पिछले कई सौ सालों से बोलते आये हैं। पर साथ ही उन्होंने उर्दू वालों को यह नसीहत दी थी कि उसमें व्यर्थ विदेशी शब्दों की भरमार न की जाय। पर सर सिकंदर और सर सप्रू यह भूल जाते हैं कि जहाँ तक मौखिक या व्यावहारिक बोली का प्रश्न है यदि उर्दू में विदेशी शब्द न भरे जाँय तो उसमें और हिन्दी में कोई भेद नहीं रह जाता, वे एक ही ज़बान हैं, फिर तो केवल नाम का झगड़ा मात्र है। जिसे वे उर्दू कहते हैं उसे ही देशपूज्य महात्मा गांधी के सभापतित्व में हिन्दी साहित्य-सम्मेलन ने निम्न-लिखित प्रस्ताव के अनुसार राष्ट्र-भाषा हिन्दी करार दिया था—"इस सम्मेलन को मालूम हुआ है कि राष्ट्रभाषा के स्वरूप के संबंध में हिंदुस्तान के भिन्न-भिन्न प्रांतों में कुछ गलतफहमी फैली हुई है, और लोग उसके लिए अलग-अलग राय रखते हैं। इसलिए का यह सम्मेलन घोषित करता है कि राष्ट्रभाषा की दृष्टि से हिंदी वह स्वरूप मान्य समझा जाय जो हिंदू मुसलमान आदि सब धर्मों के ग्रामीण और नागरिक व्यवहार करते हैं, जिसमें रूढ़ सर्व-सुलभ अरबी, फारसी अंगरेज़ी शब्दों या मुहावरों का

बहिष्कार न हो और जो नागरी या उर्दू लिपि में लिखी जाती हो।'

इस प्रकार व्यावहारिक बोलचाल में उर्दू और हिन्दी का कोई अंतर नहीं रहता। पर लिखित और साहित्यिक भाषा में कुछ अंतर अवश्य रहेगा। जिस भेद का मिटना अभी कठिन है। इनमें सबसे बड़ा प्रश्न लिपि का है। आर्य और द्राविड़ सब भारतीय भाषाओं की वर्णमाला प्रायः एक ही है, लिपि चाहे दूसरी हो, किन्तु उर्दू की उनसे सर्वथा भिन्न है। उसका उनसे कुछ संबंध नहीं और उर्दू लिपि बहुत अपूर्ण है। आर्य भाषाओं के या अन्य भाषाओं के शब्दों की जो दुर्गति उस लिपि में होती है उसका तो कहना ही क्या। 'उर्दू' लिपि के झंझट और भ्रामकता से तंग आकर 'उर्दू' मासिक पत्र के सुयोग्य संपादक मौलाना अब्दुलहक ने अपने पत्र के जुलाई सन् १९३९ के अंक में फरमाया था— 'मुझे अक्सर उर्दू किताबों के मुताले (अध्ययन) का इत्तिफ़ाक होता है। पुराने अलफाज़ के सही पढ़ने और सही तलफ़्फ़ुज़ के दरयाफ्त करने में बड़ी दिक्कत होती है। अगर तालीनी (लैटिन) या नागरी हरूफ में यह तहरीरें होतीं तो इतनी दिक्कत न होती।" इसी झंझट के कारण स्वतंत्र टर्की ने इस लिपि का बहिष्कार कर दिया है, परन्तु सांप्रदायिकता की जंजीरों में जकड़े हुए भारत में फिल-हाल यह कठिन जान पड़ता है। टर्की यूरोप में है इसलिए वहाँ रोमन लिपि अपनाई गई। किन्तु भारतवर्ष में सार्वजनिक हित के लिए नागरी लिपि को ही अपनाना श्रेयस्कर होगा।

जब गुजरात और बंगाल के मुसलमान गुजराती और बंगाली

लिपि को अपनाते हैं तो राष्ट्रीयता के नाते उर्दू या हिंदी-भाषी मुसलमानों को देवनागरी लिपि के अपनाने में भी कोई आपत्ति न होना चाहिए। वे धार्मिक कार्यों में अरबी लिपि का भले ही व्यवहार करें किन्तु सार्वजनिक कार्यों में यदि देवनागरी लिपि का प्रयोग किया करें तो काम में आसानी होगी और देश में एकता बढ़ेगी।

गंभीर साहित्य की भाषाओं में स्वभावतः कुछ भेद हो जाता है। साधारण मनोरंजन साहित्य में बोलचाल की भाषा का अधिकतर प्रयोग होता है। पर गंभीर वैज्ञानिक साहित्य में यह होना कुछ कठिन है। उसमें उर्दू और हिन्दी का भेद स्पष्ट बना रहेगा। पर इससे घबराना नहीं चाहिए क्योंकि साहित्यिक भाषा और बोलचाल की व्यावहारिक भाषा में सदा ही अंतर रहा है।

हिन्दी उर्दू के साहित्यिक-भेद में परिभाषाओं के कारण भी बड़ा भेद हो रहा है। हिन्दी तथा भारत की अन्य सब आर्य और द्राविड़ भाषाएँ अपना परिभाषा-सहित्य संस्कृत से लेती हैं। पर उर्दू अपना परिभाषा-साहित्य अरबी फ़ारसी से लेती है। भारत की अन्य समृद्ध प्रान्तीय भाषाओं के साथ उर्दू की घनिष्ठता स्थापित करने के लिए उर्दू को भी वही नई परिभाषाएँ स्वीकृत करना चाहिएँ जो बंगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं में ग्रहण की जाती हैं। और जब हिन्दी और उर्दू का मूलाधार एक ही है तो यह परिभाषा-भेद की दीवार खड़ी करना अच्छा नहीं लगता।

जो कुछ भी हो इन छोटे-मोटे साहित्यिक भेदों को छोड़कर कम से कम ६६ फीसदी हिन्दी भाषा-भाषियों की बोली एक ही है, जिसे हिन्दी कहिए या हिन्दुस्तानी, और उसमें और उर्दू में

वहिष्कार न हो और जो नागरी या उर्दू लिपि में लिखी जाती हो।'

इस प्रकार व्यावहारिक बोलचाल में उर्दू और हिन्दी का कोई अंतर नहीं रहता। पर लिखित और साहित्यिक भाषा में कुछ अंतर अवश्य रहेगा। जिस भेद का मिटना अभी कठिन है। इनमें सबसे बड़ा प्रश्न लिपि का है। आर्य और द्राविड़ सब भारतीय भाषाओं की वर्णमाला प्रायः एक ही है, लिपि चाहे दूसरी हो, किन्तु उर्दू की उनसे सर्वथा भिन्न है। उसका उनसे कुछ संबंध नहीं और उर्दू लिपि बहुत अपूर्ण है। आर्य भाषाओं के या अन्य भाषाओं के शब्दों की जो दुर्गति उस लिपि में होती है उसका तो कहना ही क्या। 'उर्दू' लिपि के झंझट और भ्रामकता से तंग आकर 'उर्दू' मासिक पत्र के सुयोग्य संपादक मौलाना अब्दुलहक ने अपने पत्र के जुलाई सन् १९३९ के अंक में फरमाया था— 'मुझे अक्सर उर्दू किताबों के मुताले (अध्ययन) का इत्तिफ़ाक होता है। पुराने अलफाज़ के सही पढ़ने और सही तलफ़्फ़ुज़ के दरयाफ्त करने में बड़ी दिक्कत होती है। अगर तालीनी (लैटिन) या नागरी हरूफ में यह तहरीरें होतीं तो इतनी दिक्कत न होती।" इसी झंझट के कारण स्वतंत्र टर्की ने इस लिपि का वहिष्कार कर दिया है, परन्तु सांप्रदायिकता की जंजीरों में जकड़े हुए भारत में फिल-हाल यह कठिन जान पड़ता है। टर्की यूरोप में है इसलिए वहाँ रोमन लिपि अपनाई गई। किन्तु भारतवर्ष में सार्वजनिक हित के लिए नागरी लिपि को ही अपनाना श्रेयस्कर होगा।

जब गुजरात और बंगाल के मुसलमान गुजराती और बंगाली

लिपि को अपनाते हैं तो राष्ट्रीयता के नाते उर्दू या हिंदी-भाषी मुसलमानों को देवनागरी लिपि के अपनाने में भी कोई आपत्ति न होना चाहिए। वे धार्मिक कार्यों में अरबी लिपि का भले ही व्यवहार करें किन्तु सार्वजनिक कार्यों में यदि देवनागरी लिपि का प्रयोग किया करें तो काम में आसानी होगी और देश में एकता बढ़ेगी।

गंभीर साहित्य की भाषाओं में स्वभावतः कुछ भेद हो जाता है। साधारण मनोरंजन साहित्य में बोलचाल की भाषा का अधिकतर प्रयोग होता है। पर गंभीर वैज्ञानिक साहित्य में यह होना कुछ कठिन है। उसमें उर्दू और हिन्दी का भेद स्पष्ट बना रहेगा। पर इससे घबराना नहीं चाहिए क्योंकि साहित्यिक भाषा और बोलचाल की व्यावहारिक भाषा में सदा ही अंतर रहा है।

हिन्दी उर्दू के साहित्यिक-भेद में परिभाषाओं के कारण भी बड़ा भेद हो रहा है। हिन्दी तथा भारत की अन्य सब आर्य और द्राविड़ भाषाएँ अपना परिभाषा-सहित्य संस्कृत से लेती हैं। पर उर्दू अपना परिभाषा-साहित्य अरबी फ़ारसी से लेती है। भारत की अन्य समृद्ध प्रान्तीय भाषाओं के साथ उर्दू की घनिष्ठता स्थापित करने के लिए उर्दू को भी वही नई परिभाषाएँ स्वीकृत करना चाहिएँ जो बंगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं में ग्रहण की जाती हैं। और जब हिन्दी और उर्दू का मूलाधार एक ही है तो यह परिभाषा-भेद की दीवार खड़ी करना अच्छा नहीं लगता।

जो कुछ भी हो इन छोटे-मोटे साहित्यिक भेदों को छोड़कर कम से कम ६६ फीसदी हिन्दी भाषा-भाषियों की बोली एक ही है, जिसे हिन्दी कहिए या हिन्दुस्तानी, और उसमें और उर्दू में

कोई भेद नहीं है, यही हिन्दी और उर्दू की आधार-भाषा है इसी पर सब लोग अपने अपने बेल-बूटे चढ़ाते हैं। भारत के अहिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्त भी उसे समझ लेते हैं। अतएव यही भारत की राष्ट्र-भाषा है। प्रश्न थोड़ी उदारता और सहृदयता का है। हमको आसानी और सुभीता देखना चाहिए न कि अपनी टेक रखने की बात। यदि सांप्रदायिक लोग अपनी अपनी टेक रखने पर जमे रहते हैं तो चाहे संप्रदाय का लाभ हो किन्तु उससे बड़ी चीज यानी देश का नुकसान होगा।

---

१६. हिंदी भाषा और साहित्य पर विदेशी प्रभाव

जब दो जातियाँ परस्पर संपर्क में आती हैं तब दोनों की भाषा, भावों, विचारों तथा रीति-नीति का विनिमय ऐसी विलक्षण रीति से होने लगता है कि उन जातियों की भाषा, सभ्यता तथा संस्कृति में बड़े-बड़े परिवर्तन हो जाते हैं। कभी-कभी तो विजयी जातियाँ शक्तिमती होती हुई भी अपनी अल्पसंख्या अथवा बर्बरता के कारण विजित जातियों की बहुसंख्या में विलीन हो जाती हैं, और अपना संपूर्ण अस्तित्व खोकर विजित जाति की सभ्यता आदि ग्रहण कर लेती हैं। भारत पर आक्रमण करने वाली हूण, कुशान और यूची आदि अनेक जातियों की ऐसी ही अवस्था हुई थी पर साधारणतया विजयी जातियों को विजित जातियों के ऊपर अपनी सभ्यता लादने में अधिक सफलता मिलती है। जिसके हाथ में सत्ता है, जिसके पास धन-बल है, वही गुण-संपन्न समझा जाता है। विजेता प्रायः अपनी विजय को स्थायी बनाने के लिए भी विजित जातियों की संस्कृति और भाषा की हत्या किया करते हैं, तथा विजित जाति के कई लोग विजेताओं के कृपा-पात्र होने के लिए हर एक वस्तु में उनका अनुकरण करना प्रारंभ करते हैं। अतएव विजित जातियों की भाषा और संस्कृति पर विजेताओं की भाषा और संस्कृति का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है।

हिन्दी भाषा की उत्पत्ति जब से हुई तब से दो प्रकार की विदेशी जातियाँ भारत में आईं—(१) उत्तर पश्चिम से आने वाली मुसलमान जातियाँ (२) समुद्रमार्ग से आने वाली यूरोपीय जातियाँ। अतएव हिन्दी पर विदेशी भाषाओं का जो प्रभाव पड़ा, उसे दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—मुसलमानी प्रभाव, तथा यूरोपीय प्रभाव। मुसलमान तथा अंगरेज़ दोनों के शासक होने के कारण प्रायः एक ही ढंग का शब्द-समूह इनकी भाषाओं से हिन्दी में आया है। वह शब्द-समूह या तो विदेशी संस्थाओं, जैसे कचहरी, फौज, स्कूल, धर्म आदि से संबंध रखता है अथवा विदेशी प्रभाव के कारण आई हुई नई वस्तुओं के नाम हैं, जैसे नये पहनावे, खाने, यंत्र तथा खेल आदि के नाम।

हिंदी भाषा पर मुसलमानी प्रभाव

ईसा की आठवीं शताब्दी से भारत पर पश्चिमी द्वार से मुसलमानों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे। और १००० ई० के लगभग जब अपभ्रंश भाषा से जुदा होकर हिन्दी अपनी अलग सत्ता बनाने लगी थी, उस समय पंजाब के बहुत से भाग पर फारसी बोलने वाले तुर्कों ने अपना कब्ज़ा कर लिया था। तभी से मुसलमानों का संपर्क प्रारंभ हुआ और हम देखते हैं कि थोड़े ही काल में अनेक विदेशी शब्द हिन्दी में प्रयुक्त होने लगे। यहाँ तक कि हिन्दी के सर्व प्रथम महाकाव्य कहाने वाले 'पृथ्वीराजरासो' में अनेक विदेशी शब्द मिलते हैं। ई० ११९३ से भारत का शासन-सूत्र मुसलमानों के हाथ में चला जाता है, और उसके बाद लगभग ६०० वर्षों तक हिन्दी-भाषा-भाषी जनता पर

विशेषतया उस प्रान्त पर जो हिन्दी का उत्पत्ति-स्थान कहा जा सकता है, मुसलमानों के भिन्न-भिन्न राजवंशों का राज्य रहा। अत: इस समय सैकड़ों विदेशी शब्द गाँवों की बोली तक में घुस आये। इन मुसलमान शासकों के राज्य की सीमा ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती थी, त्यों-त्यों हिन्दी का प्रचार भी बढ़ता जाता था, पर उस हिन्दी में विदेशी शब्दों का पर्याप्त समावेश होता गया। इसके अतिरिक्त खुसरो, कबीर, रहीम आदि अनेक मुसलमानों ने हिन्दी में कविता की। उनकी कविता में स्वभावत: कुछ विदेशी शब्द आ जाते थे। कबीर ने जहाँ "है कोई दिल दरवेश तेरा" आदि सूफी सिद्धान्तों से मिश्रित गीत लिखे हैं, वहाँ हिर्स (लालसा), नफ़्स (कामवासना), अज़ाब सवाब (पाप-पुण्य) महबूब (प्रेम-पात्र) तथा हाहूत, लाहूत, मलकूत आदि जैसे कठिन विदेशी शब्दों का भी प्रयोग किया है। ऐसे ही कवयित्री ताज का निम्नलिखित पद्य इस बात को और भी स्पष्ट करता है कि हिन्दी कविता में विदेशी शब्दों की कितनी प्रचुरता हो गई थी—

सुनौ दिलजानी मेरे दिल की कहानी तुम
दस्त ही बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं।
देव-पूजा ठानी मैं नमाज हू भुलानी तजे
कलमा कुरान सारे गुनन गहूँगी मैं।
स्यामला सलोना सिरताज सिर कुल्ले दिये
तेरे नेह दाग मैं निदाघ हो दहूँगी मैं।
नन्द के कुमार कुरबान ताँड़ी सूरत पै
ताँड़ नाल प्यारे हिन्दुवानी हो रहूँगी मैं।

ये विदेशी शब्द केवल मुसलमान कवियों की कविता में ही नहीं पाये जाते अपितु श्रुति-सम्मत हरिभक्ति-पथ के प्रदर्शक रामधन तुलसी जैसे महाकवि की विशुद्ध हिन्दी की कविता भी इन विदेशी शब्दों के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकी। 'उमरदराजी' 'गरीब-निवाज', 'गनी गरीब', 'पायमाल' आदि अनेक शब्द उसमें पाये जाते हैं। 'संतन कहा सीकरी सों काम' कह कर मुसलमान बादशाहों के निमंत्रण को अस्वीकार करने वाले अष्टछाप के कवियों में प्रमुख सूरदास की कविता में भी 'मसाहत', 'मुहकम', 'ज़ियान' आदि विदेशी शब्द दृष्टिगोचर होते हैं। उसके बाद रीतिकाल के विलासी कवियों ने तो राजाओं की विलास-सामग्री का वर्णन करने के लिए अनेक विदेशी शब्द अपनाये। कविवर पद्माकर की निम्नलिखित पंक्तियों पर गौर कीजिए—

गुलगुली गिलमैं गलीचा हैं गुनी जन हैं,
चाँदनी है चिक है चिरागन की माला हैं।
कहैं पद्माकर त्यों गजक गिजा है सजी
सेज है सुराही है, सुरा है और प्याला हैं।

वकौल स्वर्गीय पं० पद्मसिंहजी शर्मा के 'भाषा के परखैया' बिहारी की कविता में शबीह, चश्मा, गरूर, फानूस, पायंदाज़, आदि विदेशी शब्दों की भरमार दिखाई जा सकती है। हिन्दुओं के प्रतिनिधि कवि भूषण के भीम-गर्जन में तो तसबीह, नकीब, कौल, जसन, तुजुक, खवीस, जरबाफ, खलक, कलक, दराज, गनीम, औसान आदि अनेक विदेशी शब्द रसानुकूल ऐसे फिट बैठ गये हैं कि उनको जुदा ही नहीं किया जा सकता। और तो

और हिन्दी को हिन्दी नाम और हमारी मातृभूमि को हिन्दुस्तान नाम भी तो विदेशी भाषा से ही प्राप्त हुए। आधुनिक काल में हिन्दी-गद्य में इन विदेशी शब्दों की इतनी प्रचुरता होगई है कि आज इन विदेशी शब्दों से मिश्रित भाषा को कई सज्जन हिन्दी कहने से कतराते हैं, वे उसे 'उर्दू' नाम देकर हिन्दी से जुदा ही कर देते हैं।

मुसलमानीकाल में जो विदेशी शब्द हिन्दी में आये वे फारसी, अरबी, तुर्की तथा पश्तो से आये कहे जा सकते हैं। हिन्दी में प्रचलित इन विदेशी शब्दों में सबसे अधिक संख्या फ़ारसी शब्दों की है, क्योंकि समस्त मुसलमान शासकों ने चाहे वे किसी भी नस्ल के क्यों न हों फ़ारसी को ही दरबारी तथा साहित्यिक भाषा की तरह अपना रक्खा था। अरबी तथा तुर्की आदि के जो शब्द हिन्दी में मिलते हैं वे फारसी से होकर ही हिन्दी में आये हैं।

यूरोपीय भाषाओं का हिन्दी पर प्रभाव

यूरोपीय जातियाँ १५०० ई० के लगभग से भारत में आनी प्रारंभ होगई थीं, पर १८०० ई० तक उनका कार्य क्षेत्र समुद्र-तटवर्ती प्रदेश में ही रहा, हिन्दी-भाषा-भाषी प्रदेश से उनका विशेष संपर्क नहीं हुआ, अतएव प्राचीन हिन्दी पद्य में यूरोपीय शब्द शायद ढूँढने पर भी न मिलें। परन्तु १८०० ई० के लगभग भारत का भाग्य पलटने लगा। भारत का शासन-सूत्र ६०० वर्षों से भारत पर शासन करने वाली मुसलमान जातियों के हाथ से निकलने लगा, उसके स्थान पर भारत का मानचित्र लाल रंग से रँगा जाने लगा, और कुछ दिन बाद से

अंगरेज़ी राज-भाषा ही नहीं हुई, अपितु हमारी शिक्षा-दीक्षा की भी भाषा होगई। कई स्थानों पर छोटे-छोटे अबोध बच्चों की शिक्षा का प्रारंभ तक अंगरेज़ी में होने लगा। अंगरेज़ी पढ़ा-लिखा व्यक्ति ही शिक्षित समझा जाने लगा और जो जितनी अच्छी अंगरेजी बोले वह उतना ही अधिक शिक्षित माना जाने लगा। फलतः गत सवा सौ वर्षों में हिन्दी के शब्द समूह पर अंगरेजी भाषा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। पढ़े-लिखों की भाषा का तो कहा ही क्या जाय, वह तो आधी तीतर आधी बटेर हो गई है। कितने ही अंगरेजी-पढ़े व्यक्ति तो इस प्रकार की भाषा बोलते हुए मिलते हैं—मैं इस प्वायंट (point) पर यील्ड (yield) नहीं कर सकता, मेरा तो कन्विक्शन (conviction) है कि मेरी स्टेटमेंट (statement) ट्रुथ (truth) पर बेस्ड (based) है; पर अनपढ़ लोगों और सुदूर देहात की भाषा में भी अनेक अंगरेज़ी शब्द आज घर कर चुके हैं। वे हमारी भाषा के ही अंग बन गये हैं। अस्पताल, अफसर, अप्रैल, अगस्त, आफिस, आर्डर, इंच, इनकमटैक्स, एजेंट, इन्स्पैक्टर, कलक्टर, कमिश्नर, कंपनी, कमेटी, कापी, कांग्रेस, कालिज, कोलतार, कोइला, कोट, कौंसिल, गजट, गार्ड, गिलास, चाक, चेअरमैन, जज, जंपर, जेल, ट्रंक, टिकिट, टेलीफोन, डबल, डिस्ट्रिक्टबोर्ड, ड्रिल, थर्ड, थर्मामीटर, दर्जन, दराज, नकटाई, नोट, नंबर, निकर, नोटिस, पैसंजर, पल्टन, प्लस्तर, पुलटिस, पुलिस, प्रेस, प्लेटफार्म, पैसा, प्रेसीडेंट, फ़र्मा, फर्स्ट, फिटन, फरलाँग, फारम, फीस, फुटबाल, फोटो, बैंक, बनियाइन, बुरुश, बूट, बैरंग, बोर्डिंग, मशीन, मैजिस्ट्रेट मास्टर, मैनेजर, मेंबर, मानीटर, मिनट, मिल, रजिस्टर, रेट, रेल'

लैंप, लाइसैंस, लेक्चर, वारंट, वालंटियर, वोट, वायसराय, समन, संतरी, सरकस, सर्टिफिकेट, सूटकेस, सैशन, सैकंड, सोडावाटर, सीमेंट, हारमोनियम, होटल, होल्डर आदि अनेक अंगरेज़ी शब्द ऐसे हैं, जो आपको शहर और गाँव सब जगह एक से सुनाई देंगे। अंगरेज़ी के इलावा पुर्त्तगाली तथा फ्रांसीसी भाषा से कप्तान, कमीज़, गोभी, गोदाम, तौलिया, मेज़, बिसकुट, बोतल, कारतूस, कूपन आदि अनेक शब्द हिन्दी में आगये हैं।

यहाँ तक तो हुआ हिन्दी भाषा पर विदेशी प्रभाव, अथवा हिन्दी भाषा में विदेशी शब्दों के प्रवेश का वर्णन। अब हमें यह देखना है कि हिन्दी साहित्य पर विदेशी प्रभाव कहाँ तक और क्या पड़ा। इस प्रश्न के उत्तर में हमें यही कहना पड़ता है कि हिन्दी साहित्य पर मुसलमानी काल में विदेशी प्रभाव 'न' के बराबर रहा। कारण यह कि भारतवर्ष पर मुसलमानों की विजय के अनंतर जब हिन्दू और मुसलमान सभ्यताओं का संयोग हुआ तब हिन्दू अपनी प्राचीन तथा उच्च सभ्यता के कारण दृढ़ बने रहे और मुसल-मानों के नवीन धार्मिक उत्साह तथा विजयगर्व ने उन्हें हिन्दुओं में मिल जाने से रोके रक्खा। अतः इस क्षेत्र में दोनों जातियों का आदान-प्रदान बहुत कम हुआ। तब भी संतकवियों की निर्गुण उपासना में भारतीय अद्वैतवाद का आधार होते हुए भी मुसलमानी एकेश्वरवाद या खुदावाद की छाया अवश्य दिखाई देती है। इसी प्रकार प्रेममार्गी सूफी कवियों का भावनाजन्य रहस्यवाद सूफीमत की उपज कहा जा सकता है। खड़ी बोली के प्रारंभकाल में फारसी छन्द-शास्त्र पर अवलंबित उर्दू बहरों का भी अनुकरण

किया गया था। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय की 'बोलचाल' में इसके अच्छे उदाहरण मिलते हैं। वर्त्तमान हिन्दी कविता के दुःखवाद के संबंध में विदेशी प्रभाव 'न' के बराबर रहा। यह अवश्य मानना पड़ेगा कि उसमें उर्दू कवियों के रोने पीटने का क्षीण प्रभाव परिलक्षित है, तथा आधुनिक काल की हिन्दी कविता में 'हालावाद' भी उमर खैयाम की रुबाइयात के अँगरेज़ी अनुवादों से प्रभावित है, पर ये सब प्रभाव हिन्दी साहित्य पर अप्रत्यक्ष विदेशी प्रभाव कहे जा सकते हैं।

मुसलमानी शासन की अपेक्षा अँग्रेज़ी शासनकाल में मानसिक विकास का अच्छा अवसर मिला, अतएव अँगरेज़ी साहित्य का हिन्दी साहित्य पर अत्यधिक क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ा है। जिस प्रकार गत डेढ़ सौ वर्षों में भारतीय मनोवृत्ति, भारतीय दृष्टिकोण, भारतीय रहन-सहन, भारतीय विचार-धारा में क्रान्ति हो गई है, उसी प्रकार समस्त भारतीय साहित्य में भी क्रान्ति हो गई है। फलतः हिन्दी साहित्य भी उस क्रान्ति से अछूता नहीं बचा। गद्य, आख्यायिका, उपन्यास, नाटक, समालोचना, निबंध, पत्रलेखन, विज्ञान, इतिहास, अर्थशास्त्र और पद्य, सब में हिन्दी साहित्य का रूप ही बदल गया है। भारत में अंग्रेज़ों के राज्य-स्थापन के साथ पाश्चात्य सांसारिकता के भाव घर करने लगे। फलतः हिन्दी में सदियों से चली आती पद्यात्मक प्रवृत्ति का स्थान गद्यात्मक प्रवृत्ति ने ले लिया। जहाँ १९वीं शताब्दी से पहले हिन्दी साहित्य में गद्य का कोई विशेष स्थान नहीं था, गद्य की एक शैली तक निश्चित न थी, वहाँ एक ही शताब्दी में हिन्दी

गद्य का रूप पर्याप्त परिष्कृत हो गया, शैली के परिमार्जन के अतिरिक्त भाव-प्रदर्शन की अनेक प्रौढ़ शैलियों का विकास भी हुआ और हिन्दी गद्य में प्रकट किये जाने वाले भावों तथा विचारों में भी परिवर्त्तन हुआ। देश-भक्ति, राष्ट्रीयता, समाज-सुधार आदि विषयों पर हिन्दी गद्य में अधिक साहित्य लिखा जाने लगा। हिन्दी में पाश्चात्य विज्ञान, समाज-शास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि विषयों की भूख बढ़ी। अंगरेज़ी उच्च शिक्षा-प्राप्त व्यक्तियों में से कुछ व्यक्तियों ने नये विषयों पर कलम भी उठाई। इन नये भावों तथा नये विषयों को प्रकट करने के लिए भाषा में नये शब्दों तथा नये मुहावरों का प्रचलन हुआ। इस तरह हिन्दी गद्य पर पर्याप्त विदेशी प्रभाव पड़ा।

कहानी जिसे आजकल गल्प नाम से पुकारा जाता है, तथा आजकल के उपन्यास तथा एकांकी नाटक तो विदेशी प्रभाव की ही उपज हैं। यद्यपि एकांकी नाटकों का प्राचीन संस्कृत में अभाव न था तथापि वर्तमान काल में उनका प्रचार अँग्रेज़ी साहित्य से ही बढ़ा। विदेशी प्रभाव के कारण उपन्यासों और नाटकों में घटनाओं की अस्वाभाविकता का अभाव होने लगा, तथा चरित्र-चित्रण की स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिक प्रकृति पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। यद्यपि किन्हीं अंशों में हिन्दी इनके लिए बँगला की ऋणी कही जाती है, पर बंगाल में भी ये विदेश से आये हैं, वहाँ इनका प्रचार पहले होने का केवल मात्र कारण यह है कि बंगाल में अंग्रेज़ों का शासन सबसे पहले स्थापित हुआ और बंगाली लोग ही पहले उनके संपर्क में आये।

नाटकों की दृष्टि से प्राचीन भारतीय साहित्य बहुत उन्नत था, परन्तु हिन्दी में नाटक-रचना का प्रायः अभाव था। विदेशी प्रभाव के कारण नाटकों का पुनर्जन्म नवीन शैली पर हुआ, इस परिवर्त्तन में बँगला भाषा ने माध्यम का काम किया। आधुनिक हिन्दी नाटकों में पद्यों की कमी होना, सूत्रधार आदि का अभाव होना, लंबे-लंबे रंगमंच के संकेत लिखा जाना तथा चरित्र-चित्रण पर अत्यधिक बल दिया जाना पाश्चात्य प्रभाव के ही कारण है। इन सब के अतिरिक्त सबसे बड़ा परिवर्त्तन 'मधुरेण समापयेत्' के सिद्धान्त का परित्याग कर नाटक या कहानी का दुःखान्त होना है। आज-कल तो दुःखान्त नाटक ही अधिक पसंद किये जा रहे हैं। कम से कम नाटक का अंत सुखान्त दिखाने के लिए वास्तविक कहानी को तोड़ा-मरोड़ा नहीं जाता।

अब प्रश्न यह है कि विदेश का इतना ऋण-भार हिन्दी के लिए कहाँ तक गौरव की वस्तु है। संसार में परस्पर आदान-प्रदान सजीवता का चिह्न है। जहाँ आदान-प्रदान का अभाव है, वहाँ जीवन का भी अभाव है। ऋणी होना अर्थात् दूसरों से कुछ लेना लज्जा की बात नहीं, किन्तु विदेशी पूँजी को वैसा का वैसा ही रखना निर्जीवता है। निर्जीवता ही नहीं वरन् कृतघ्नता भी है। अब यह देखना चाहिए कि ग्रहण की हुई चीज़ को पचाने तथा उसको अपनी संस्कृति के अनुकूल बनाने की शक्ति हिन्दी में है या नहीं? अंधानुकरण वास्तव में निन्दनीय है। पश्चिम के वातावरण को चित्रित करने वाली कविता भी देशी वातावरण में ठीक नहीं बैठ सकती; उसको देशी रूप देना पड़ेगा। मुहावरों का शब्दानुवाद भी

कहीं-कहीं हास्यास्पद हो जाता है; क्योंकि पूर्वी और पश्चिमी वातावरण में भेद है । ठंडे देशों में ठंड उदासीनता की द्योतक है और गर्मी प्रेम की। हिन्दी में छाती जुड़ाना प्रेम और शान्ति का चिह्न है। भारतवर्ष के मुहावरे हत्या पर निर्भर नहीं। 'Killing two birds with one stone' के स्थान पर चाहे 'ढेले में दो पक्षी' कह लिया जाय किन्तु जितना आनन्द 'एक पंथ दो काज में' मिलता है उतना उसमें नहीं । 'Breaking the ice' के स्थान में यदि 'बरफ तोड़ना' कहा जाय तो अनभिज्ञता का परिचय देना होगा। इसके लिए 'मौन भंग करना' ही ठीक होगा। सब स्थानों में इतना भेद भी नहीं है; भाग लेना, नया अध्याय खोलना, शून्य दृष्टि, दृष्टिकोण आदि मुहावरे हमारी भाषा में खप भी गये हैं। मानव प्रकृति में बहुत कुछ साम्य भी है। कुछ भाव तो विना अनुकरण के भी मिल जाते हैं । महात्मा सूरदास ने अंगरेज़ी के मुहावरे 'Crying in the wilderness' को बिना जाने ही गोपियों के मुख से 'कानन को रोइबौ' कहलाया है। हमें विदेशी प्रकृतियों से प्रभावित होते हुए देखने की आवश्यकता रहती है कि कौन सी प्रकृति हमारे अनुकूल पड़ती है और कौन सी प्रतिकूल । इसका विचार न करना ही अन्धानुकरण कहलाता है । हमें इस बात का गर्व है कि हिन्दी-लेखकों ने अन्धानुकरण नहीं किया; उन्होंने विदेशी सामग्री को भली प्रकार पचाया है। किन्तु तो भी इस सम्बन्ध में सचेत रहने की आवश्यकता है।

---

२०. हिंदी और पंजाब

यह संसार परिवर्तशील है। अन्य सब बातों के साथ उसकी परिवर्तनशीलता भाषा में भी प्रकट होती है। देश-भेद, काल-भेद तथा अन्य सुगमता-सम्बन्धी प्राकृतिक नियमों के कारण उच्चारण में भेद पड़ जाते हैं और जब ये भेद दृढ़ हो जाते हैं तब एक नई भाषा या उपभाषा उस्थित हो जाती है। देववाणी संस्कृत, जिस की क्षीण परन्तु विमल-धारा अब भी सारे भारतवर्ष को पवित्र कर रही है, आर्यों की प्राचीन भाषा है। भिन्न-भिन्न प्रदेशों के उच्चारण-भेद से जन समुदाय की शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, पैशाची आदि कई प्राकृत भाषाएँ बन गईं और फिर उनसे अपभ्रंश भाषाएँ बनीं। भारतवर्ष में जितनी भी भाषाएँ बोली जाती हैं, उनमें से दो-तिहाई से अधिक इन्हीं प्राकृतों और अपभ्रंशों द्वारा संस्कृत से आई हैं। स्थूल दृष्टि से इन भाषाओं में बहुत भेद मालूम होता है, किन्तु यदि हम क्रम से इन भाषाओं के इतिहास में प्रवेश करते हैं तो यह विभिन्नता क्रमशः कम होती जाती है, और अन्त में हम मूल-भाषा तक पहुँच जाते हैं। इस दृष्टि से हिन्दी विशेष कर खड़ी बोली पंजाब की भाषा से अधिक दूर नहीं

रहती। दोनों का संस्कृत की पैशाची प्राकृत से सम्बन्ध है। पंजाबी में उसका मूल रूप अधिक रहा। इधर खड़ी बोली में शौरसेनी प्राकृत का भी प्रभाव पड़ा। पंजाबी में 'कर्म' और 'अग्नि' का प्राकृत से सम्बन्ध रखने वाला रूप 'कम्म' और 'अग्ग' बना रहा, हिन्दी में काम और आग हो गया। खड़ी बोली में जो घोड़ा आदि आकारान्त संज्ञा शब्द हैं वे भी पंजाबी की मूलभाषा पैशाची प्राकृत से ही आये हैं। प्रादेशिक समीपता के कारण ये दोनों भाषाएँ एक दूसरे के निकट आ जाती हैं। मेरठ आदि पश्चिमी प्रदेशों में पंजाबी का प्रभाव है। मेरठ के गाँवों में जो लुट्टा, जुत्ता आदि द्वित्व प्रयुक्त होते हैं उनमें—चाहे वे शब्द प्राकृत से न बने हों—पंजाबी की जननी पैशाची प्राकृत के उच्चारणों की झलक आ जाती है। इसी प्रकार पंजाब के पूर्व भाग में हिन्दी का प्रभाव अधिक दिखाई देता है।

वास्तव में जितना देश पंजाब के नाम से प्रख्यात है, उस सब में पंजाबी नहीं बोली जाती। भाषा के हिसाब से पंजाब के तीन भाग हैं। एक पश्चिमी, जहाँ लहँदी बोली जाती है (लहँदे का अर्थ गिरते हुए, डूबते हुए अर्थात् पश्चिमी का है), इसका प्राचीन नाम मुलतानी है; दूसरा मध्य, जहाँ पर शुद्ध आदर्श पंजाबी बोली जाती है, इसको लाहौरी भी कहते हैं; और तीसरा पूर्वी, जिसमें रोहतक, करनाल, अंबाला, हिसार, (पटियाला और जींद के कुछ ग्राम भी) आदि ज़िले आते हैं, इस भाषा को अंबालवी भी कहा गया है। इस प्रदेश में खड़ी बोली और बाँगरू, (जाटों की बोली जो हिन्दी की ही एक बोली है) का अधिकार है। इस के अतिरिक्त मुसलमान लोग यद्यपि पंजाबी ही बोलते हैं, तथापि अपनी

निजी 'खतो-किताबत' (पत्र-व्यवहार) खड़ी बोली के फ़ारसी-अरबी मिश्रित रूप उर्दू में करते हैं और इसी प्रकार हिन्दू लोगों का भी पत्र-व्यवहार हिन्दी या उर्दू में ही होता है। देवनागरी अक्षरों से हिन्दुओं का विशेष संबंध है और अब वे लोग इसका व्यवहार दिनों दिन अधिक कर रहे हैं। इस प्रकार हिन्दी का पंजाब से पार्थक्य करने वाली रेखा और भी क्षीण हो जाती है। केवल हिन्दी जानने वालों को यहाँ बातचीत या व्यवहार में कोई कठिनाई नहीं होती। सिक्खों के धर्म-ग्रन्थों में अधिकांश में पुरानी हिन्दी के शब्द हैं, पंजाबी का पुटमात्र है। सिक्खों के आदि गुरु नानकदेव पर प्रत्येक हिन्दी भाषा-भाषी को गर्व है। नवम गुरु श्री तेगबहादुर जी ने देहली-मेरठ की ही बोली को अपनाया था। अन्तिम गुरु श्री गोविन्दसिंह जी भी हिन्दी के कवियों में ऊँचा स्थान पाते हैं। उनके 'विचित्र नाटक' 'शास्त्रनाम माला' आदि ग्रन्थों में बड़ी सुन्दर व्रजभाषा का नमूना मिलता है।

सिक्खों के साथ केवल लिपि का सवाल रह जाता है। उनकी वर्णमाला (पैंतीसी) तो नागरी की ही वर्णमाला है, आकारमात्र का भेद है। आकार में कुछ अक्षर तो देवनागरी से मिलते हैं और कुछ उससे पूर्व की लिपियों से सादृश्य रखते हैं। यह भेद भी थोड़ी सहृदयता और उदारता के साथ मिट सकता है। जिस प्रकार वेश बदला हुआ मित्र छिपता नहीं है, उसी प्रकार नागरी और गुरुमुखी अक्षर एक दूसरे के लिए भिन्न नहीं है। वे लोग अपने धर्मग्रन्थों का पाठ चाहे गुरुमुखी लिपि में ही करें किन्तु उनकी लिपि का स्वाभाविक संबंध देवनागरी से है और

इसलिए सामूहिक हित के लिए लिखी देवनागरी अक्षरों की पुस्तकें समझने में उनको विशेष कठिनाई न होगी। हाँ, उर्दू लिपि की ज़रा कठिन समस्या है। मुसलमान लोग पंजाबी को भी उर्दू लिपि में लिखना पसन्द करते हैं। लिपि-भेद मिटाने के लिए परस्पर आदान-प्रदान और सहृदयता की आवश्यकता है।

हिन्दी-साहित्य के निर्माण में भी पंजाब का हाथ है। हिन्दी के वाल्मीकि-स्वरूप आदि कवि चन्दवरदाई का जन्म लाहौर ही में हुआ था। योगीराज गोरखनाथ, जो हिन्दी-गद्य के प्रथम लेखक माने जाते हैं, पंजाब के ही बतलाए जाते हैं। महात्मा नानक के नाम से तो सभी परिचित हैं। समस्त सिख गुरुओं, विशेषतः दशम गुरु की हिन्दी की सेवा का भार तो हिन्दी कभी उतार ही नहीं सकती। कविवर रहीम का जन्मस्थान लाहौर ही है। दार्शनिक कवियों में गुलाबसिंह का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। हिन्दी के ज्ञानमार्गी कवियों में उनका स्थान बहुत ऊँचा है। प्रेममार्गी कवियों में पटियाला के कवि मृगेन्द्र (सं० १६१२) का नाम लिया जाता है। उन्होंने 'प्रेम पयोनिधि' नाम का एक उत्तम ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ में राजा जगतप्रभाकर और राजा सहपाल की कन्या की प्रेम-कथा है। रामोपासक कवियों में हृदयराम का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। हिन्दी में भक्ति-सम्बन्धी नाटक (रामायण नाटक) पहले-पहल इन्होंने लिखा है। उनकी कविता का थोड़ा सा उदाहरण दिया जाता है—

ऐहो हनू! कह्यो श्री रघुवीर कछू सुधि है सिय की छिति माँहीं?
है प्रभु लंक कलंक बिना सुबसे तहाँ रावन बाग की छाहीं॥

जीवित है ? कहिबेई को नाथ, सु क्यों न मरी हम ते बिछुराही ?
प्रान बसै पद पंकज में जम आवत है पर पावत नाहीं ॥

गद्य लेखकों में श्रद्धाराम का नाम बड़ी श्रद्धा से लिया जाता है। उन्होंने आत्म-चिकित्सा, धर्म-रक्षा, शतोपदेश आदि कई अच्छे ग्रन्थ लिखे हैं। उन्होंने अपना जीवन चरित्र और भाग्यवती नाम का एक उपन्यास भी लिखा था। लोगों का कथन है कि हिन्दी में यह पहले जीवन-चरित्रकार और उपन्यासकार हैं। संवत् १६२० में इन महाशय ने महाराजा कपूरथला के मन से पादरी गोरखनाथ के प्रभाव को हटाकर उनको ईसाई होने से रोका था। ये महाशय बड़े धार्मिक थे, पर इनके विचार बड़े स्वतन्त्र थे। इनके धार्मिक विचार इनके लिखे हुए 'सत्यामृतप्रवाह' में मिलते हैं। इनकी भाषा प्रौढ़ है। न्यायदर्शन के अनुवादक कृपाराम शर्मा की भी हिन्दी की सेवाएँ उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त स्वामी श्रद्धानन्द, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, बाबू पूर्णसिंह आदि हिन्दी के प्रथम श्रेणी के लेखक कहे जा सकते हैं। वर्तमान समय में स्वामी सत्यदेव, श्री जयचंद्र विद्यालंकार, श्री सुदर्शन, श्री सन्तराम बी०, ए०, श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति, श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, श्री सच्चिदानन्द वात्स्यायन, पं० पृथ्वीनाथ शर्मा, श्री सत्यदेव विद्यालंकार, श्री उदय शंकर भट्ट, श्री उपेन्द्रनाथ अश्क, डा० आशानंद आदि कितने ही पंजाबी लेखक हिन्दी की सेवा कर रहे हैं।

वास्तव में पंजाब में हिन्दी के प्रचार का श्रेय आर्यसमाज को है। आर्यसमाज के सत्यार्थप्रकाश के द्वारा हिन्दुओं में हिन्दी का प्रचार अधिक हुआ। इसके अतिरिक्त डी० ए० बी० कालेज,

गुरुकुल आदि जितनी आर्यसमाज की संस्थाएँ हैं उन्होंने भी हिन्दी शिक्षा को लोकप्रिय बनाने में योग दिया। हिन्दी के सम्बन्ध में आर्यसमाजी विद्वानों में महात्मा हंसराज, महामहोपाध्याय आर्यमुनि, स्वामी श्रद्धानन्द और लाला लाजपतराय का नाम बड़े आदर के साथ लिया जा सकता है। स्त्रियों में हिन्दी शिक्षा के प्रचार का श्रेय बाबू नवीनचन्द्रराय को है। इन्होंने संवत् १६२० और १६३७ के बीच में बहुत सी शिक्षा-उपयोगी पुस्तकें लिखीं और लिखवाईं। इन्होंने ब्राह्म-समाज के प्रचार के लिए 'ज्ञान-प्रदायिनी' पत्रिका निकाली थी। पंजाब यूनिवर्सिटी की रत्न, भूषण और प्रभाकर परीक्षाओं ने भी हिन्दी को लोकप्रिय बनाने में बहुत-कुछ योग दिया है। हर्ष की बात है कि पंजाब के स्त्री-समाज में इन परीक्षाओं का अच्छा प्रचार होता जा रहा है। पंजाब में हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का प्रचार भी क्रमशः बढ़ता जा रहा है। अबोहर के हिन्दी-पुस्तकालय द्वारा इस प्रदेश की जनता में हिन्दी का प्रचार अच्छा हो रहा है। हिन्दी को पंजाब-विश्वविद्यालय की अंगरेज़ी परीक्षाओं में स्थान तो मिला है, किन्तु गौणाश्रय से। आशा है कि प्रान्तीय सरकार इस ओर भी अपनी उदारता का परिचय देगी।

पंजाब में हिन्दी-प्रचार के चारों ओर से शुभ लक्षण दिखाई पड़ रहे हैं। हिन्दी के प्रचार से प्रान्तीय भाव दूर होने में बड़ी सहायता मिलेगी। पंजाब के साथ हिन्दी का स्वाभाविक, ऐतिहासिक और भौगोलिक सम्बन्ध है। पंजाब और हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों की संस्कृति में भी विशेष अन्तर नहीं है।

हिन्दी का प्रचार प्रान्तीय भाषाओं का विरोधी नहीं है। हिन्दी का प्रचार देश में एक व्यापक भाषा स्थापित करने के लिए है न कि प्रान्त की विशेष संस्कृति से संबंध रखने वाली प्रांतीय भाषा के उन्मूलन करने के लिए। प्रान्तीय विशेषताओं की रक्षा करते हुए एक भाषा द्वारा देश को राष्ट्र के सम्मिलित हित की एक-सूत्रता में बाँधना सच्ची राष्ट्रीयता है। आशा है राष्ट्र-भाषा के रूप में हिन्दी का प्रचार प्रांतीय भाव को दूर कर एक-राष्ट्रीयता के भाव को बढ़ाने में सहायक होगा।

---

२१. महात्मा कबीर

हिन्दी साहित्य के इतिहास में संत-साहित्य का एक विशेष स्थान है। वीर-गाथा-काव्य ने क्षत्रिय राजाओं को प्रोत्साहन देने में भेरीनाद का काम किया था किन्तु इस नाद का मूल स्वर आपस की मार-काट ही रहा। पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता ने राजाओं के तूणीर खाली कर उनकी शक्ति को कुंठित कर दिया था। इस गृह-कलह ने विदेशियों के लिए स्वागत-गान सुनाया।

जब भारत में मुसलमानों के पैर जम गये तब निकट संपर्क में आने के कारण दोनों जातियाँ एक दूसरे को प्रभावित करने लगीं। विचार-विनिमय प्रारंभ हुआ और जो लोग कट्टरता से परे थे वे एक दूसरे की ओर झुके।

मुसलमानों में सूफी लोग कुछ मुलायम तबीयत के थे। वे हिन्दुओं के एकात्मवाद से प्रभावित थे। उन्होंने हिन्दू जीवन की प्रेम-कथाओं के आधार पर प्रेम-काव्य की नींव डाली। संत कवियों ने वेदान्त का व्यावहारिक पक्ष लेकर हिन्दू-मुसलिम तथा ब्राह्मण-शूद्र की एकता का उपदेश देना शुरू किया।

रामानुजाचार्य आदि आचार्यों ने भक्ति का लोक-पावन संदेश सुनाकर शूद्रों के प्रति सहृदयता का वातावरण तो उपस्थित कर दिया था किन्तु उनकी स्थिति में मौलिक सुधार की आवश्यकता

थी। संतों ने भक्ति और ज्ञान की गंगा-जमुनी धारा को भाषा के बहते नीर में अवतरित कर उसे सर्व सुलभ बनाया। 'जाति-पाँति पूछै नहि कोई, हरि को भजै सो हरि का होई' की शंख-ध्वनि चारों ओर गूँजने लगी। कबीरदास जी काल-क्रम से तो संत कवियों में पहला स्थान नहीं पाते किन्तु महत्ता में सब से आगे नहीं तो किसी के पीछे भी नहीं हैं।

जीवनवृत्त

अन्य महापुरुषों की भाँति कबीर का भी जीवनवृत्त तिमिराच्छन्न है। यह बात तो विवादास्पद है कि वे जन्म से मुसलमान थे या हिन्दू, किन्तु उनका पालन-पोषण नीरू और नीमा जुलाहे दंपत्ति के यहाँ हुआ था। ऐसी किंवदन्ती है कि उन्होंने इस बालक को लहरतारा तालाब के पास पड़ा पाया था। यह बालक एक ब्राह्मण विधवा का कहा जाता है जिसको रामानन्द जी ने धोखे में पुत्रवती होने का आशीर्वाद दे दिया था। आशीर्वाद सफल हुआ किन्तु लोकापवाद के भय से उसने बालक का परित्याग कर दिया था। कबीर ने अपने को गर्व के साथ जुलाहा कहा है। 'तू-बाँह्मण मैं काशी का जुलहा बूझहु मोर ग्याना'।

कबीर की जन्म तिथि भी विवाद का विषय बन रही है। कबीर पंथियों में महात्मा कबीरदास के जन्म और मरण के सम्बन्ध में जो तिथियाँ मान्य है उनके अनुकूल उनकी आयु तो एक सौ बीस वर्ष की होती है किन्तु उसे स्वीकार करने से उनके जीवन की दो प्रमुख घटनाएँ अर्थात् रामानन्द से दीक्षा प्राप्त करना और सिकन्दर लोदी के दरबार में पेश होना उनके जीवन-काल में ही

पड़ जाती हैं। एक सौ बीस वर्ष की आयु कबीर जैसे महात्मा के लिए दुर्लभ नहीं कही जा सकती। कबीर-पंथियों के मत में कबीर का जन्म संवत् १४५५ में और उनका स्वर्गवास संवत् १५७५ में हुआ। यह विषय विवाद ग्रस्त अवश्य है और इस पर ही उनका रामानन्द से दीक्षित होने का प्रश्न अवलम्बित है।

रामानन्द से दीक्षित होने के सम्बन्ध में बाबू श्यामसुन्दर दास जी तथा डाक्टर मोहनसिंह जी ने आपत्ति उठाई है किन्तु जब तक कबीर की जन्म-तिथि और रामानन्द जी की निधन-तिथि प्रामाणिक रूप से स्थापित न हो जाय तब तक एक लोक-प्रतिष्ठित परम्परागत धारणा को निर्मूल ठहरा देना उचित नहीं है। इस पर केवल कबीरदास का ही कथन नहीं है वरन उनके प्रमुख शिष्य धरमदास की भी गवाही है। देखिए—

काशी में प्रगटे दास कहाए नीरू के गृह आए,
रामानंद के शिष्य भए, भवसागर पंथ चलाए।

मुसलमान लोग उनको शेख तक़ी का शिष्य मानते हैं। यद्यपि कबीर शेख तक़ी से सम्बन्धित स्थानों में रहे थे तथापि जिस प्रकार उन्होंने पीर साहब का उल्लेख किया है उस से यह नहीं प्रकट होता कि वे उनको गुरु मानते थे। देखिए :—

नाना नाच नचाय के, नाचे नट के वेष।
घट घट अविनासी बसै सुनहु तक़ी तुम सेष॥

सम्भव है कि यह उनके अक्खड़पन के कारण हो, किन्तु गुरु को तो कबीरदास परमात्मा के स्थान में मानते थे। जिन शब्दों में उन्होंने रामानन्द का उल्लेख किया है उनसे इनमें अन्तर है। देखिए—

'गुरु रामानन्द चरण पर धोबिन (माया) दीनी वार'

कबीर का विवाह लोई नाम की स्त्री से हुआ था और उससे एक पुत्र कमाल और एक पुत्री कमाली नाम की दो सन्तान उत्पन्न हुई थीं। कबीर कमाल के अनुदार विचारों से असन्तुष्ट थे, इसीलिए उन्होंने कहा है—

'बूड़ा वंस कबीर का उपजा पूत कमाल।'

कबीरदास जी की मृत्यु मगहर में हुई थी। हिन्दुओं में मरने के लिए काशी को महत्त्व दिया जाता है। परमात्मा को सर्वत्र मानने वाला इस तरह के रूढ़िवाद का कब मान कर सकता था। वे अपनी भक्ति पर विश्वास रखते थे। 'जो काशी तन तजै कबीरा, तो रामहि कौन निहोरा।'

कबीर के सिद्धान्त

कबीर के सिद्धान्तों में हम दो प्रकार के सिद्धान्त पाते हैं; एक धार्मिक तथा दार्शनिक दूसरे सामाजिक। उनके सिद्धान्तों में हम उस समय के प्रभावों का समन्वय पाते हैं। वैष्णव धर्म से उन्होंने दया और भक्ति ली। उन्होंने मांस खाने का जो विरोध किया है वह वैष्णव धर्म का ही प्रभाव है। शाक्तों के गाँव की अपेक्षा कबीर वैष्णव की झोंपड़ी को महत्ता देते हैं। उन्होंने शाङ्कर-वाद से जीव ब्रह्म की एकता और मायावाद लिया। बौद्ध धर्म से सुन्न वा शून्य का विचार आया। गोरख-पंथियों से हठयोग की साधना पाई। सूफियों की प्रेम-साधना की कलम उन्होंने वेदान्त-वाद पर चढ़ाई। मूर्तिपूजा और अवतारवाद के खंडन में उन पर कट्टर मुसलमानों का प्रभाव दिखाई पड़ता है। कई लोग शब्द के

मानने में ईसाई मत से उन्हें प्रभावित समझते हैं। कट्टर मुसलमानों के खंडन में वे शायद सूफी संप्रदाय से ही प्रभावित हुए हों।

दार्शनिक विचार

दार्शनिक विचारों में तो कबीर उपनिषदों और शाङ्कर मत से ही प्रभावित प्रतीत होते हैं। उन्होंने जीव ब्रह्म की एकता मानी है और संसार को भी ब्रह्म से भिन्न नहीं बताया। कबीर ने मायावाद का भी आश्रय लिया है। कबीर यद्यपि पढ़े-लिखे नहीं थे 'मसि कागद छूओ नहीं कलम गही नहिं हाथ', तथापि वे बहुश्रुत थे। उन्होंने तत्त्वमसि, कनककुण्डल, समुद्रतरङ्ग, कीट-भृङ्ग आदि वेदान्त की शब्दावली का प्रचुरता से प्रयोग किया है। उनका ब्रह्म शब्द रूप है और वह सब प्रकार के गुणों से परे है। उसके लिए कोई एक निश्चित गुण बतलाना उसको सीमित कर देना है। उसके लिए उपनिषदों की भाँति नेति-नेति ही कहा जा सकता है। न वह हलका है न वह भारी है, न वह भीतर है न वह बाहर है, वह संख्या से भी परे है। उसके लिए साकार, निराकार, सगुण और निर्गुण शब्द भी लागू नहीं हो सकते। देखिए—

कोई ध्यावे निराकार को, कोई ध्यावे आकारा।
वह तो इन दोउ ते न्यारा, जानें जानन हारा॥

वह सारे संसार में व्याप्त होकर उसको अतीत करता है, उसके सिवाय और कुछ नहीं है, जो कुछ है वह सब बाजीगर का खेल है। केवल बाजीगर सच्चा है। संसार उसी परमात्मा से उत्पन्न होता है और उसी में लीन हो जाता है।

साधो एक आप जग माहीं

दूजा करम भरम है किरतिम ज्यों दरपन में छाहीं।

जल तरंग जिमि जल ते उपजै फिर जल माहि रहाई॥

कबीर ने परमात्मा और जीव की एकता मानते हुए जब तक द्वैत भाव मिटता नहीं तब तक के लिए जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध प्रेमिका और प्रेमी का माना है। उन्होंने अपने को राम की बहुरिया कहा है। आध्यात्मिक अनुभव का वर्णन प्रेम के ही रूपकों द्वारा हो सकता है।

कबीर ने ज्ञान को तो मुख्यता दी ही है किन्तु उन्होंने उसके साथ ही भक्ति का भी महत्व स्वीकार किया है। कबीर ने राम नाम की ही महत्ता गाई है किन्तु उन्होंने दाशरथी राम को नहीं माना है। वे राम शब्द के उपासक हैं। ज्ञान और भक्ति के अतिरिक्त कबीर ने प्राणायाम और हठ योग की क्रियाओं को भी मन की शुद्धि के लिए साधन रूप से माना है। इस प्रकार कबीर मुसलमानी धर्म से प्रभावित होते हुए भी पूरी तौर से हिन्दू संस्कृति में रँगे हुए थे।

धर्म के सम्बन्ध में कबीर के बड़े उदार विचार थे। वे राम और रहीम को एक मानते थे। वे हिन्दू और मुसलमान दोनों का एक ही परमात्मा मानते थे। दोनों को एक ही परमात्मा के भिन्न-भिन्न रूप समझते थे। देखिए—

दुइ जगदीश कहाँ ते आये कहु कौने भरमाया।

अल्ला राम करिम केशव हरि हजरत नाम धराया॥

गहना एक कनक ते गहना ता में भाव न दूजा।
कहन सुनन को दुइ कर राखे यक नमाज यक पूजा॥
वही महादेव वही मुहम्मद ब्रह्मा आदम कहिये।
कोई हिन्दू कोई तुरक कहावें एक जिमी पर रहिये।
वेद किताव पढ़ैं वे कुतवा वे मौलाना वे पांडे।
विगत विगत के नाम धरायो यक माटी के भांडे॥

कबीर ने हिन्दू मुसलमानों की एकता का उपदेश देते हुए दोनों में से ढोंग और मिथ्याडंवर के हटाने के लिए बड़ी ज़ोरदार आवाज उठाई है क्योंकि वे जानते थे कि यह वृथाडंवर ही आपस में भेद-भाव उत्पन्न कर रहा है। उन्होंने दोनों को ही खूब खरी-खोटी सुनाई है।

सामाजिक साम्य

कबीर ने सब में एक परमात्मा के दर्शन करके ब्राह्मण और शूद्र में साम्यभाव स्थापित करने का उद्योग किया है। इस सम्बन्ध में कबीर अपने समय से बहुत आगे थे।

गुप्त प्रगट है एकै मुद्रा। काको कहिए ब्राह्मन शूद्रा॥

कबीर के इसी साम्यभाव के कारण उनके सिद्धान्तों का प्रचार तथाकथित नीच जातियों में अधिक हुआ।

कबीर का कवित्व

संत कवियों की वाणी का प्रसार कविता द्वारा हुआ था क्योंकि उन दिनों जनता के हृदय तक पहुँचने के लिए कविता ही भावाभिव्यञ्जना का माध्यम थी। कबीर की भी भावधारा कविता में ही प्रस्फुटित हुई, किन्तु उस कविता में कला की कृत्रिमता न

थी। अकृत्रिमता ही उसकी कला है। कबीर ने कविता को साधन मात्र माना है उसको साध्य नहीं बनाया है ।

जहाँ तक हृदय की सचाई, विचारों की गहराई, अनुभूति की तीव्रता का प्रश्न है वहाँ तक कबीर के कवित्व में संदेह नहीं किया जा सकता। यदि कुशल अभिव्यक्ति कला की कसौटी मानी जाय तो उनको हम एक उत्तम कलाकार भी कह सकते हैं। चाहे उनकी कविता में छन्दों के नियमों की अवहेलना हो, किन्तु उनके पद गाने की दृष्टि से बड़े सुन्दर हैं। कबीर के उपस्थित किये हुए रूपक और मानसिक चित्र बड़े उपयुक्त और सजीव हैं। उन्होंने केशव की भाँति अलङ्कारों और छन्दों की प्रदर्शिनी तो नहीं की है किन्तु उनकी कविता में बहाव के साथ स्वाभाविक रूप से आये हुए अलङ्कारों का अच्छा पुट है। उनकी कविता में श्लेष, यमक आदि शब्दालङ्कार और रूपक, उपमा, अन्योक्ति आदि बड़े सुन्दर अर्थालङ्कार हैं। रहस्यवाद की अभिव्यक्ति प्राय रूपकों और अन्योक्तियों में ही हुआ करती है। इस लिए इनके अलङ्कार केवल अलङ्कार नहीं हैं वरन वे एक आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। कबीर की एक सुन्दर अन्योक्ति देखिए—

काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी, तेरेइ नाल सरोवर पानी।
जल में उतपति जल में बास, जल में नलिनी तोर निवास॥
ना तलि तपत न ऊपर आगि तोर हेतु कहु का सन लागि।
कहै कबीर जे उदिक समान, ते नहि मुए हमारे जान॥

२२. सूरदास

किधौं सूर को सर लग्यौ, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यौ, तन-मन धुनत सरीर॥

जन्म और जीवन

महात्मा सूरदास जी का जन्म सं० १५४० के लगभग बतलाया जाता है। इनके जन्म-स्थान के सम्बन्ध में दो मत हैं। एक मत के अनुसार इनका जन्म-स्थान देहली के निकट सीही ग्राम में है और दूसरे मत से आगरा के निकट रनकुता (रेणुका क्षेत्र) में है। इनकी जाति के सम्बन्ध में भी थोड़ा मत-भेद है। कोई इनको सारस्वत ब्राह्मण मानते हैं और कोई सरदार कवि के एक छन्द के आधार पर इन्हें चन्दबरदाई के वंशज ब्रह्मभट्ट बतलाते हैं। इस मत के अनुकूल इनके छः भाई और थे जो कि मुसलमानों के साथ लड़ाई में मारे गए थे। तब ये अन्धे सूरदास बहुत दिन तक इधर-उधर फिरते रहे। पीछे ये गऊघाट में (यह रनकुता के निकट ही है) रहने लगे। यहीं पर इनकी श्री महाप्रभु वल्लभाचार्य जी (सं० १५३५-१५८७) से भेंट हुई। उनसे दीक्षा लेकर उनकी आज्ञा से इन्होंने ब्रजभाषा में भगवद्-चरित्र का गान किया।

श्री वल्लभगुरु तत्व सुनायो, लीला भेद बतायो।

श्री वल्लभाचार्य जी की आज्ञा से ही इन्होंने श्रीमद्भागवत की कथा को पदों में गाया और वह ग्रन्थ सूरसागर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सूरसागर में सवा लाख पद कहे जाते हैं पर अब तक ५-६ हज़ार पदों से अधिक नहीं मिले। इस अमर ग्रन्थ के अतिरिक्त इनके सूरसारावली और साहित्य-लहरी ये दो ग्रन्थ और मिलते हैं। सूरसारावली एक प्रकार से सूरसागर की सूची और संक्षेप है और साहित्य-लहरी में नायिका-भेद आदि रीति-ग्रन्थों के विषय हैं किन्तु इन पुस्तकों में भी अधिकांश पद सूरसागर के ही हैं। हरिवंश टीका, व्याहलो और नल-दमयन्ती नाम के इनके तीन और ग्रन्थों का भी उल्लेख मिलता है किन्तु वे मिलते नहीं।

इनकी मृत्यु पारसौली ग्राम में हुई थी। मृत्यु के समय श्री गोस्वामी विट्ठलनाथ जी मौजूद थे। उस समय इन्होंने 'भरोसो दृढ़ चरनन केरो' वाला पद अपने गुरु की महिमा में गाया और उनसे पूछे जाने पर कि उस समय उनके नेत्रों की वृत्ति कहाँ थी इन्होंने निम्नलिखित पद गाकर अपनी जीवन-लीला समाप्त की—

खंजन नैन रूप रस माते।
अतिसै चारु चपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते॥
चलि चलि जात निकट स्रवनन के उलटि पलटि ताटंक फँदाते।
सूरदास अंजन गुन अटके, नतरु अवहि उड़ि जाते॥

श्री वल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने इनकी अष्टछाप में स्थापना की थी और उनके पुत्र गोस्वामी गोकुलनाथ जी ने अपनी 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' में इनका जीवन-वृत्तान्त लिखा है। सूरदास जी अंधे तो अवश्य थे 'सूर कहा कहि

दुविध आँधरो'; किन्तु प्रश्न यह है कि ये जन्मान्ध थे अथवा पीछे से इनके नेत्र जाते रहे। इनके भक्त इन्हें जन्मान्ध बताते हैं, परन्तु इनके द्वारा किये गये प्राकृतिक विचित्रताओं तथा मानवीय हाव-भावों के ऐसे उत्कृष्ट वर्णन को देख कर इस कथन पर सहज प्रतीति नहीं होती। ऐसा कहा जाता है कि एक बार ये एक युवती को देख कर उस पर मुग्ध हो गये। बहुत देर तक टकटकी बाँधे उस की ओर देखते रहे। अन्त में उस युवती ने निकट आकर पूछा—महाराज, क्या आज्ञा है? सूरदास उस समय मन ही मन बड़े लज्जित हुए। उन्होंने यह दोष अपनी आँखों का समझ कर उस युवती से विनती की कि वह सुई द्वारा उन दोनों दोषी आँखों को फोड़ डाले। वचन-बद्ध युवती ने वैसा ही किया, तभी से सूरदास अंधे हो गये। यह मत अधिक विश्वसनीय प्रतीत होता है। कइयों का कहना है कि इन्होंने जान-बूझ कर अपनी आँखें नहीं फुड़वाई मालूम पड़तीं, क्योंकि यदि ऐसा होता तो ये भगवान को अपने अंधे होने का उलाहना न देते।

मित्र सुदामा कीन अचानक प्रीति पुरानी जानि।
सूरदास सों कहा निठुराई नैननि हूँ की हानि॥

यह भी किंवदन्ती है कि अंधे होने के कारण एक बार ये कुएँ में गिर पड़े थे। वहाँ से श्रीकृष्ण भगवान ने इनको निकाला था। इसी सम्बन्ध में यह दोहा प्रचलित है—

बाँह छुड़ाए जात हो, निबल जानि कै मोइ।
हिरदय तैं जब जाउगे, मर्द बदौंगो तोइ॥

इनकी दीक्षा वल्लभ संप्रदाय की है। वल्लभ-संप्रदाय में

सूरदास जी के सिद्धान्त और उनका भक्तिभाव

भगवान की कृपा को मुख्यता दी गई है। भक्त को अपने कर्मों का इतना भरोसा नहीं होता जितना कि भगवान की कृपा का। इसी कृपा का नाम पुष्टि है और इसीलिए यह पुष्टिमार्ग कहलाता है। इस संप्रदाय में बालकृष्ण की उपासना है। इसीलिए सूरदासजी के बाललीला-सम्बन्धी वर्णन बड़े सुन्दर हैं। इस संप्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैत' के नाम से प्रख्यात हैं। इसके अनुकूल जीव और संसार दोनों परमात्मा के अंश हैं। जीव में सत् और चित् तो है किन्तु आनन्द की कमी है। प्रकृति में चित् की भी कमी है। ब्रह्म पूर्ण सच्चिदानन्द है। यद्यपि उपासना में द्वैत भाव के बिना काम नहीं चलता तथापि ये कहीं कहीं जीव और ब्रह्म की एकता की ओर झुक गये हैं।

जौ लौं सत्यस्वरूप न सूझत।
तौ लौं मनु मनि कंठ बिसारे फिरत सकल बन बूझत॥

× × × ×

एक नदिया एक नार कहावत मैलो नीर भरो।
जब मिलि कै दोउ एक बरन भए सुरसरि नाम परो॥
एक जीव एक ब्रह्म कहावत सूरस्याम झगरो।
अब की बेर मोहि पार उतारो नहिं पन जात टरो॥

× × × ×

जाय समाय 'सूर' महानिधि में, बहुरिन उलटि जगत मँह नाचै॥

इनकी भक्ति सख्य-भाव की है। कहीं-कहीं तो ये बड़े अक्खड़ बन जाते हैं यहाँ तक कि भगवान से लड़ने को भी तैयार हो जाते

हैं और कहीं-कहीं इतने दीन हो जाते हैं कि इनकी भक्ति दास्यभाव में परिणत हो जाती है। यहाँ पर दोनों ही प्रकार का एक-एक उदाहरण दिया जाता है:—

आजु हौं एक-एक करि टरिहौं।
कै हमही कै तुमही माधव, अपुन भरोसे लरिहौं॥
हौं तो पतित सात पीढ़िन कौ, पतितै ह्वै निस्तरिहौं।
अब हौं उघरि नचन चाहत हौं तुम्हें विरद विनु करिहौं॥

× × × ×

जैसे हि राखो तैसे हि रहौं।
जानत हो दुख सुख सब जन को मुख करि कहा कहौं।

× × × ×

कमल नयन घनस्याम मनोहर अनुचर भयो रहौं।
'सूरदास' प्रभु जगत कृपानिधि तुम्हरे चरन गहौं॥

सूरदास जी अनुचर अवश्य थे किन्तु घर के मुँह-लगे अनुचर थे। 'तुम प्रताप बदत न काहू निडर भये घर चेरे।' तुलसीदास जी निडर होकर मर्यादा नहीं खोते थे। सूरदासजी अनन्य भक्त थे, वे अपनी अनन्यता में और किन्हीं देवताओं को कुछ नहीं गिनते थे—'और देव सब रंक भिखारी त्यागे बहुत घनेरे।' वे कृष्ण भगवान को छोड़कर और किसी की भक्ति नहीं करना चाहते थे।

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिरि जहाज पै आवै॥
कमल नैन को छाँड़ि महातम और देव को ध्यावै।
परम गंग को छाँड़ि पियासो दुरमति कूप खनावै॥

जिन मधुकर अंबुज रस चाख्यो क्यों करील फल खावै।
सूरदास प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै॥

भक्ति-भाव में सूरदास जी उद्धव जी के अवतार माने जाते हैं।

सूरदास जी की शैली की विशेषताएँ

सूरदास जी का काव्य गीत-काव्य है। वैष्णव धर्म में गीत-गोविंद के रचयिता जयदेव कवि गीत-काव्य के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। इन्हीं की शैली को मैथिल-कोकिल विद्यापति ठाकुर ने अपनाया है। महात्मा सूरदास जी ने हिन्दी में उसी शैली को अपना कर साहित्य और संगीत का एक अपूर्व सम्मिश्रण किया है। गीत-काव्य के लिए माधुर्य्यमयी, सुकोमला व्रजभाषा ही उपयुक्त थी। गोस्वामी तुलसीदासजी को भी गीत काव्य के लिए इसी का आश्रय लेना पड़ा था। यद्यपि सूरदास जी की भाषा व्रजभाषा ही है, तथापि इन्होंने फारसी, अरबी आदि भाषाओं के शब्दों को व्रजभाषा में ऐसा मिला लिया है कि वे भिन्न भाषा के नहीं प्रतीत होते; उदाहरणार्थ, मसकत, मुहकम, कुलहि इत्यादि। इन्होंने गुजराती, बुंदेलखंडी आदि प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों का भी बड़ी कुशलता के साथ व्यवहार किया है। इनकी भाषा में कहीं-कहीं सलिता, सायर आदि प्राकृत के भी प्रयोग आये हैं। सूरदास जी ने अलंकारों का बड़े सुंदर और स्वाभाविक ढंग से प्रयोग किया है वरन् यों कहना चाहिए कि उनकी कविता के प्रवाह में वे स्वयं ही बहे चले जाते हैं। बहुत कम स्थल ऐसे हैं जहाँ इनके अलंकार कृत्रिम से मालूम होते हों। यद्यपि सूरदास जी का वर्णन का क्षेत्र बहुत विस्तृत नहीं रहा है तथापि इन्होंने इस कमी को अपने

अलंकारों में पूरा कर दिया है। अपने अलंकारों में वे संसार का एक बहुत विस्तृत क्षेत्र घसीट लाये हैं।

उन्होंने एक ही प्रसंग पर अनेक पद लिखे हैं। भक्ति के आवेश में वीणा के साथ गाते हुए जो सरस पद इन अंध-कवि के मुख से निस्सृत हुए, उनमें पुनरुक्ति भले ही हो पर वे इतने मर्मस्पर्शी तथा हृदयहारी हैं कि अरसिक को भी एक बार रसलीन कर देते हैं।

सूरदासजी ने यद्यपि थोड़े विषयों का वर्णन किया है तथापि जिन विषयों का इन्होंने वर्णन किया है, बड़े विस्तार से किया है। साथ ही साथ तारीफ की बात यह है कि एक ही बात को इन्होंने नये नये रूपों में देखा है, इसलिए इनके वर्णनों में अरुचि नहीं उत्पन्न होने पाती। नेत्रों के बारे में जितना इन महाकवि ने कहा है उतना शायद ही और किसी कवि ने कहा हो। इन्होंने आलंबन के नेत्रों की अनुपम छवि का ही वर्णन नहीं किया है वरन् रूप-सागर में अवगाहन करने वाली दर्शक की सदा अतृप्त रहने वाली पिपासा-भरी आँखों का भी बहुत ही हृदयग्राहक वर्णन किया है।

यद्यपि इन्होंने प्रधानतया शृंगार और वात्सल्य का ही वर्णन किया है तथापि शांत, अद्भुत, हास्य और दो एक स्थलों में भयानक के सम्बन्ध में भी इन्होंने अपनी कवित्व शक्ति का अच्छा परिचय दिया है। वात्सल्य और शृंगार में तो ये अपना सानी नहीं रखते। विशेषतः बाल-लीला, गोपी-विरह तथा कृष्ण द्वारा भेजे हुए उनके दूत ऊधो और गोपियों के संवाद-वर्णन में ये सरसता, स्वाभाविकता तथा उत्कृष्टता की चरम सीमा को लाँघ गये हैं।

सूरदास जी का वात्सल्य और शृंगार

ऊपर कहा गया है कि इनकी प्रतिभा का पूर्ण विकास वात्सल्य और शृंगार के ही वर्णन में हुआ है। बाल-लीला के वर्णन में संसार भर के कवियों में (यद्यपि संसार भर के बारे में कोई बात कहना प्रतिवाद के भय से खाली नहीं है) शायद ही कोई कवि सूर-दास जी की बराबरी कर सकता हो। यद्यपि ईसाइयों के रोमन कैथोलिक संप्रदाय में बालकृष्ण की उपासना की भाँति शिशु ईसा और माता मरियम की उपासना होती रही है तथापि शिशु ईसा का वर्णन कहीं भी इतने विस्तार और स्वाभा-विकता के साथ नहीं आया। हाँ, इस उपासना से यूरोप की चित्र-कला को अवश्य उत्तेजना मिली है। सूरदास जी के श्रीकृष्ण शुद्ध राजसी-आडंबर-रहित बालक के रूप में आते हैं। सूरदास जी के वर्णनों में बालकों का साम्यभाव पूर्णतया प्रदर्शित है—'खेलत में को काको गुसैंया'। बालकों की परम शोभामयी अपूर्णता और उनके चलने के बाल-प्रयासों की मनोहर असफलता बड़े ही सुन्दर रूप में दिखाई गई है। बाल-प्रकृति का आदि से अंत तक बड़ा सच्चा और सजीव चित्र खींचा गया है। बालकों का सोते-सोते हुए मुसकरा देना भी सूरदास की 'पैनी दीठि' से नहीं बचा है—

कबहुँ पलक हरि मूँदि लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावैं।

दूध के दाँतों का निकलना, उसी समय भगवान का 'घुटरुवन चलना', इन सब बातों का बड़ा ही मनोहर वर्णन किया गया है। चलना सीखने में भगवान साधारण मनुष्य के बालकों के से ही दिखाई पड़ते हैं—

सिखवत चलन जसोदा मैया ।

अरबराई कर पानि गहावत, डगमगाइ धरती धरै पैया ।

× × × ×

घर आँगन अति चलन सुगम भयो देह देहरी में अटकावत ।

गिरि-गिरि परत जात नहीं उलँघी, अति स्रम होत न धावत ॥

बालकों की अनुकरणशीलता, उनकी बाल-अभिलाषा, स्पर्द्धा और महत्वाकांक्षाओं का भी बहुत ही सुन्दर वर्णन है, जो पढ़ते ही बनता है।

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ।

किती बार मोंहि दूध पिवत भई यह अजहूँ है छोटी ।

तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी ॥

× × × ×

हरि अपने आगे अछु गावत ।

तनक तनक चरनन सों नाचत मन ही मनहि रिझावत ।

बाँह उचाइ कजरी धौरी गैयन टेरि बुलावत ।

बच्चे अपनी सुन्दरता और अन्य बातों पर मन ही मन में रीझा करते हैं। बाँह उठाकर गौओं को बुलाना कैसा सुन्दर बालोचित अनुकरण है। बच्चे अपने आप नाचते गाते हैं इस बात को 'हरि अपने आगे कछु गावत' में कैसे सुन्दर रूप से बतलाया है। इसी प्रकार भगवान की गो-दोहन सीखने की इच्छा उनकी गो-दोहन में असफलता, माखनचोरी, मिट्टी खाना आदि बाललीलाओं का बड़ा ही विशद वर्णन किया गया है। जसोदा मैया की वात्सल्यमयी चिंता बड़ी मर्मस्पर्शिनी है। भगवान अपने माता-पिता के

पास पहुँच जाते है। तब भी जसोदा मैया देवकी को संदेशा भेजे विना सन्तोप नहीं करतीं—

सँदसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की, कृपा करत ही रहियो॥
तुम तो टेव जानतहि है हो, तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल-लड़ैतहि माखन रोटी भावै॥

इसी प्रकार सूरदास जी का प्रेम-वर्णन भी वहुत ही उत्कृष्ट है। उनकी वाल-लीला वड़े ही स्वाभाविक रूप से प्रेम-क्रीड़ा में परिणत हो जाती है। फिर उसी प्रेम में संयोग का हासोल्लास और वियोग की विषम-वेदना उपस्थित हो जाती है। गोपियों का प्रेम चाहे स्वार्थमय हो परन्तु है सच्चा। कृष्ण भगवान गोपियों से अधिक दूर न थे किन्तु उनकी विरह की वेदना वड़ी तीव्र थी। विरह के लिए दूर और निकट का प्रश्न न था। वे श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य की उपासिका न थीं वरन उनके माधुर्य्य पर मुग्ध थीं। ज्ञान वैराग्य द्वारा वे भगवान के निर्गुण रूप की उपासना नहीं करना चहती थीं, वे तो यह भी नहीं जानती थीं कि वह निर्गुण कौन से देश का निवासी है। भगवान से वे हौवे का सा भय नहीं करती थीं। वे उनसे प्रेम करना चाहती थीं। वियोग में ही वे संयोग समझती थीं। वियोग के पागलपन के आगे उनके लिए योग हेय था—

मधुकर कौन मनायो मानै?
सिखवहु तिनहुँ समाधि की वातें जे हैं लोग सयाने।
हम अपने व्रज ऐसेहि वसिहैं, विरह वाय वौराने।

वास्तव में ऊधो-गोपी-संवाद निर्गुण और सगुण उपासना

का विवाद है। जहाँ गोपियों का मन लग गया वहाँ से हट नहीं सकता। 'मन नाहीं दस बीस' यह प्रेम की अचलता है और दृढ़ता है। मनमोहन गोपियों के मन से निकाले नहीं निकलते क्योंकि वे बाँके हैं। बाँकापन सौन्दर्य का द्योतक है। 'उर में माखनचोर गड़े। अब कैसेहु निकसत नहिं ऊधो ! तिरछै ह्वै जु अड़े।' कैसी सुन्दर उक्ति है।

सूरदास जी का महत्त्व

सूरदास जी का महत्त्व इसी बात में है कि उन्होंने लोगों का ध्यान भगवान के सौन्दर्य और माधुर्य की ओर आकर्षित किया। हतोत्साह और परास्त हिन्दू जाति कुछ अपनापन रखना चाहती थी। दर्शन शास्त्र की जटिल समस्याओं और निर्गुण ब्रह्म के शुष्क ज्ञान की ओर उनका मस्तिष्क नहीं झुक सकता था। यह बात तभी होती है जब कि हृदय में उत्साह होता है। सौन्दर्य का आकर्षण मरते हुए को भी जिला देता है। सौन्दर्य के शर्करावेष्टन में उन्होंने धर्म के तत्त्व को हिन्दू जाति के शरीर में प्रवेश करा कर उसमें एक नई स्फूर्ति उत्पन्न कर दी। एक धार्मिक स्वतन्त्रता स्थापित हो गई। यद्यपि यह सत्य है कि बहुत से लोगों में शर्करा के बहिरावेष्टन से शर्करा ही की चाट पड़ गई और वे धर्म के तत्त्व को भूल गये तथापि वैष्णव कवियों के हृदय से निकली हुई प्रेम धारा ने सहस्रों मनुष्यों के जीवन में एक अलौकिक परिवर्तन उत्पन्न कर दिया, उनके हृदय में त्याग की भावना उत्पन्न कर उनको सांसारिक वासनाओं से मुक्त कर ब्रह्मानन्द में मग्न कर दिया।

२३. गोस्वामी तुलसीदास

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजम् भयम् ॥

गोस्वामी तुलसीदासजी उन विरले महात्माओं में से हैं जो अपने देश वा जाति का इतिहास बनाते हैं। इन महात्मा के जीवन-चरित्र के विषय में जो कुछ संसार को ज्ञात है उसके चार आधार हैं—(१) नाभाजी का भक्तमाल और उस पर उनके शिष्य प्रियादास की टीका (२) तुलसीदासजी के शिष्य बाबा रघुनाथदास जी का लिखा हुआ तुलसी-चरित्र (३) बाबा वेणीमाधव का लिखा हुआ मूल गुसाईंचरित्र (४) तुलसीदासजी के ग्रंथों के आन्तरिक प्रमाण।

जन्म और बाल्यकाल

साधारणतया तुलसीदासजी का जन्म राजापुर ग्राम ज़िला बाँदा में संवत् १५८९ में माना जाता है। अब कुछ लोग सूकर क्षेत्र या सोरों के पक्ष में झुकते जाते हैं। मानसमयंक टीका के अनुसार इनका जन्म संवत् १५५४ में कहा जाता है, किन्तु इस मत से संवत् १६८० तक इनकी आयु १२६ वर्ष की होती है जो असंभव नहीं है, परन्तु कलिकाल में कठिन अवश्य है। इनके पिता का नाम आत्माराम और माता का नाम हुलसी था (गोद लिये हुलसी फिरै तुलसी सो सुत होय)। कहा जाता है इनकी माता

ने इनके जन्म के दो चार दिन पश्चात् ही शरीर त्याग दिया था और नवजात शिशु की अवस्था में ही वे चाहे अभुक्त-मूल में जन्म लेने के कारण चाहे और किसी कारण-वश अपने पैतृक घर से बहिष्कृत कर दिये गये थे। यह चाहे सत्य हो या न हो, परन्तु इतना अवश्य है कि ये महात्मा अपने बाल्यकाल में माता-पिता के स्नेह और घर के लाड़-प्यार-मय जीवन से वंचित रहकर द्वार-द्वार घूमते फिरे हैं। इनका पहला विवाह दीनबंधु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ था, जिससे एक बालक भी हुआ। परन्तु थोड़े दिन में माता और बालक दोनों की मृत्यु हो गई, तब उनका विवाह कंचनपुरनिवासी लछमन उपाध्याय की कन्या विदुषी बुद्धिमती से हुआ।

प्रबोध

प्रत्येक बड़ी बात का कारण छोटा ही होता है। इन महात्मा को अपनी दूसरी स्त्री के प्रति प्रगाढ़ प्रेम था। एक बार इनकी स्त्री अपने मातृगृह चली गई। उसका वियोग इनको असह्य होगया। ये बड़ी कठिन परिस्थितियों का सामना करते हुए घोर तिमिरमय रात्रि में उसके पास जा पहुँचे। उनकी इस आतुरता को देखकर उनकी स्त्री ने कहा—

लाज न लागत आपको दौरे आयहु साथ।
धिक्धिक् ऐसे प्रेम को कहा कहहुँ मैं नाथ॥
अस्थि-चर्म-मय देह मम, तामें जैसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम में, होत न तौ भव-भीति॥

इसके सुनते ही उनका वासनामय प्रेम श्रीरामचन्द्र जी के प्रति दृढ़ भक्ति में परिणत हो गया। लोक-प्रेम का स्थान ईश-प्रेम ने ले

लिया । वावा नरहरिदास जी इनके गुरु थे; 'कृपासिंधु नर रूप हरि' । इनकी दीक्षा रामानन्द संप्रदाय की थी ।

गृहत्याग के पश्चात् ये चित्रकूट, काशी, अयोध्या आदि स्थानों में रहे । संवत् १६३१ में इन्होंने अपनी अमर-कृति रामचरितमानस का प्रारंभ किया ।

संवत् सोलह सौ इकतीसा, करौं कथा हरिपद धरि सीसा ।
नौमी भौमवार मधुमासा, अवधपुरी यह चरित प्रकासा ।।

मृत्यु

संवत् १६८० में असी-गंग के तीर पर श्रावण शुक्ला सप्तमी को (इसका दूसरा पाठ श्रावण श्यामा तीज है) इन्होंने इस नश्वर शरीर को त्यागकर उस यशः शरीर को धारण किया जिसको जरा और मरण का भय नहीं है ।

तुलसीदासजी के समय की राजनीतिक तथा सामाजिक स्थिति

सोलहवीं शताब्दी में मुग़ल-साम्राज्य का उदय हुआ । मुगलों ने थोड़े वहुत युद्धों के पश्चात् शान्ति स्थापित कर ली थी । अकवर के समय में सम्राट् की उदारता के कारण पूरी धार्मिक स्वतंत्रता होगई । हिन्दू धर्म के व्याख्याताओं का राजदरबार में प्रवेश हो गया और उसके साथ हिन्दी का भी । जब धार्मिक स्वतंत्रता होती है तब सब धर्मों की उन्नति होने की संभावना रहती है । उसी के साथ-साथ धर्म में जो उत्तेजना दबाव और अत्याचार से आती है, वह जाती रहती है और दो धर्म एक दूसरे को आदान-प्रदान करते हुए खिल्त-मिल्त हो जाते हैं । कुछ इस खिल्त-मिल्त होने के भाव को

बचाने के अर्थ, कुछ सूफ़ीमत के प्रभाव को घटाने के निमित्त और कुछ शुष्क ब्रह्मवाद से ऊबे हुए लोगों को हार्दिक संतोष देने के लिए भक्ति-काव्य का प्रसार हुआ। उस समय की शान्ति और राजकीय धार्मिक उदारता ने धर्मोत्थान के इच्छारूपी बीज को उर्वरा भूमि दी थी। भक्ति-मार्ग तो फलता-फूलता जा रहा था, किन्तु उसमें कर्तव्य-परायणता और सदाचार के उच्च आदर्श की ओर इतना ध्यान नहीं दिया गया था। यही बात किसी जाति को जीवित रखने के लिए और जाति को शान्ति-जन्य विलासिता की बाढ़ में डूबने से बचाने के निमित्त परमावश्यक है। गोस्वामी तुलसी-दास जी ने मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी के चरित्र का वर्णन कर हिन्दू जनता के लिए एक उच्च आदर्श उपस्थित कर दिया और समाज में मर्यादावाद के प्रति आदर-भाव की वृद्धि की। हिन्दू धर्म के मुख्य सिद्धान्तों की स्थापना कर, सांप्रदायिक भेदभाव को दूरकर और पाखंड और विडंबना का खंडन कर गोस्वामी जी ने हिन्दूधर्म को पुनर्जीवन दिया।

तुलसीदास का स्वभाव

तुलसीदास जी बड़े ही साधु स्वभाव के थे। वे अपने को दीनों से दीन समझते थे और उनको अपने पांडित्य का ज़रा भी अभिमान नहीं था। देखिए—

कवि न होउँ नहिं वचन प्रवीना,
सकल कला सब विद्या-हीना।

× × ×

कवित विवेक एक नहिं मोरे,
सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।

वे अपनी सफलता का एक-मात्र कारण यही मानते थे कि उन की कविता का विषय श्री रामचन्द्र जी का विमल-यश है, उसी के कारण वह भक्त-जनों को प्रिय लगेगी। जिस प्रकार पवन के साथ धूल भी ऊपर चढ़ जाती है उसी प्रकार रामचन्द्र जी के सुयश के कारण उनकी फीकी वाणी सर्वगुण-विभूपिता बन जावेगी।

धूमहु तजइ सहज करुआई, अगरु प्रसंग सुगंध बसाई॥
भनित भदेस वस्तु भलि बरनी, राम-कथा जग मंगलकरनी॥
प्रिय लागहिं अति सबहिं मन, भनित राम जस संग।
दारु विचारु कि करइ कोई, वंदिय मलयप्रसंग॥

वास्तव में बात यह है कि तुलसीदास को जैसे चरित्रनायक मिले थे उसी के अनुकूल उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा थी। उनकी अनन्य भक्ति ने उनकी वाणी को शक्ति-शालिनी बना दिया था। उन्होंने जो कुछ लिखा स्वान्तःसुखाय, आत्मतृप्ति के अर्थ लिखा धन और यश के लिए नहीं लिखा। किसी प्राकृत राजा का भी वर्णन नहीं किया न किसी का आश्रय चाहा। श्री रामचन्द्र जी के याचक बनकर वे अयाचक बन गये थे। प्राकृत नरों में उन्होंने केवल अपने मित्र टोडर का वर्णन किया था वह भी उनकी मृत्यु के पश्चात्।

चार गाँव को ठाकुरो, मन को महा महीप।
तुलसी या कलिकाल में, अथये टोडर दीप॥
रामधाम टोडर गये, तुलसी भये असोच।
जियबो मीत पुनीत बिन, यही जान संकोच॥

ये महात्मा बड़े सन्तोषी और उदार-चित्त थे। इन्होंने अपनी

रामायण के प्रारम्भ में सज्जनों के साथ खलों की भी स्तुति की है। वे जानते थे कि संसार गुण-दोष-मय है, इसमें पाप-पुण्य सब ही हैं। सन्त लोग अच्छी बात को ग्रहण कर लेते हैं और बुरी बात को त्याग देते हैं।

जड़-चेतन, गुन-दोषमय, विस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि वारि विकार॥

तुलसीदास जी रामचन्द्र के अनन्य भक्त थे परन्तु वे और देवताओं के विरोधी न थे। वे तो 'सियाराम-मय सब जग जानी' के सिद्धान्त पर सब की वन्दना का भक्ति भाव करने को तैयार थे, फिर देवताओं का तो कहना ही क्या है। उन्होंने विनयपत्रिका में सब प्रधान देवताओं की वन्दना कर हिन्दू धर्म की मर्यादा का पालन किया। उसी के साथ उन देवताओं से श्री सीताराम की सदा 'अनपायिनी' भक्ति माँगकर उन्होंने अपने अनन्य भाव की भी रक्षा की है। अनन्यभाव में चातक उनका आदर्श था।

उपल बरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि, कबहुँ दूसरी ओर॥

तुलसीदासजी केवल एक राम ही का नाता निबाहना चाहते थे। उनका सिद्धान्त था—

जाके प्रिय न राम वैदेही
तजिये ताहि कोटि वैरी सम, जद्यपि परम सनेही।

तुलसीदास जी की भक्ति दास्य भाव की थी। वे अपने को सदा राम का दास ही समझते थे। वे सूरदास जी की भाँति अपने

इष्टदेव से अकड़ते नहीं थे । वे उनको अर्जी देने तक में डरते थे । उसके लिए भी हनुमान जी तथा लक्ष्मण जी की सिफ़ारिश चाहते थे । उनको अपने इष्टदेव की कृपा का गर्व था । उनको वाँह की पीर इतना नहीं सालती थी, जितना कि यह वात कि हनूमान जी द्वारा उनकी विनय न सुनी गई । इस पर भी वे श्री रामचन्द्र जी को दोष नहीं देते, किन्तु वे अपने कर्मों का ही दोप वता कर संतुष्ट हो जाते हैं । तुलसी की भक्ति की सवसे वड़ी विशेपता यह है कि वह नीति-परायण है । राम के भक्त होकर वे सदाचार और मर्यादा की अवहेलना नहीं करना चाहते थे । तुलसीदास जी के इष्ट देव मर्यादा पुरुषोत्तम थे । अपने इष्टदेव के अनुकूल उन्होंने स्वयं मर्यादा का पालन किया और दूसरों को उसके वंधन में रहने का उपदेश दिया । यह तुलसीदास जी का मर्यादा-समन्वित भक्ति-भाव ही है, जिसके कारण वे अपने रामचरित-मानस को इतना हृदय-ग्राही वना सके । हृदय की कही हुई वात हृदय तक पहुँचती है । तुलसीदास कवि और धर्मोपदेशक थे, किन्तु उनकी शक्ति और प्रभाव का मुख्य कारण उनकी अविचल भक्ति थी, जिसने उनकी कविता में जीवन डाल दिया है ।

तुलसीदास जी के ग्रन्थ और उनकी शैली

तुलसीदास जी ने वैसे तो छोटे-मोटे पूरे २३ या २४ ग्रन्थ लिखे हैं, किन्तु उनमें रामचरित-मानस, विनय पत्रिका, दोहावली, गीतावली और कवितावली रामायण प्रधान हैं । छोटे ग्रन्थों में रामलला नहछू, पार्वती-मंगल, जानकी-मंगल, वरवै रामायण, वैराग्य संदीपनी और कृष्णगीतावली

मुख्य हैं। इन महात्मा ने अपने समय की सभी शैलियों को सभी छन्दों में अपनाया है और प्रबन्ध-काव्य, मुक्तक, गीतिकाव्य, सभी प्रकार के काव्य लिखे हैं—परन्तु एक कृष्णगीतावली को छोड़कर अन्य सब ग्रन्थों का विषय राम ही हैं। सब में राम की ही रट है। मानव-जीवन का जैसा इन्होंने सूक्ष्म निरीक्षण किया वैसा शायद ही किसी कवि ने किया होगा। भाषा इनकी परिमार्जित और नपी-तुली थी। रामजी के ही नाते इन्होंने रामचरित मानस में अवधी भाषा को अपनाया, गीतावली और कवितावली ब्रजभाषा के ग्रन्थ हैं। लोक में प्रचार के अर्थ इन्होंने भाषा में ग्रन्थ-रचना की, और पंडित होते हुए भी पांडित्य-प्रदर्शन के दुर्जय लोभ में न पड़े। यद्यपि ये रीति काल के नहीं थे तथापि इनकी रचनाएँ सब प्रकार के अलंकारों से विभूषित हैं। हाँ! इतना अवश्य है कि इन्होंने अलंकारों को अलंकारों के लिए नहीं लिखा। इनकी रचनाओं में अपूर्व स्वाभाविकता है और स्वाभाविकता के साथ शक्ति है। इन महात्मा ने जो कुछ लिखा उसका शिक्षितों और अशिक्षितों में एक समान आदर हुआ। इनकी सुवाणी में सुधा की सी शीतलता और जीवन-दायिनी शक्ति है, इसलिए ये हिन्दी-काव्य गगन के सुधाकर अर्थात् शशि माने जाते हैं। ये ऐसे शशि हैं, जिसकी कला कभी क्षीण नहीं होती और जिसकी अमर रचनाओं की नित्य नवीन छटाएँ पूर्णता में नवीनता उत्पन्न कर सदा मन को मोद, बुद्धि को प्रबोध और हृदय को सन्तोष देती रहती हैं।

---

२४. तुलसीकृत रामायण

बन राम-रसायन की रसिका रसना रसिकों की हुई सफला।
अवगाहन मानस में करके जन-मानस का मल सारा टला॥
बनी पावन भाव की भूमि भली हुआ भावुक भावुकता का भला।
कविता करके तुलसी विलसे कविता लसी पा तुलसी की कला॥

जिस प्रकार गुणशील-संपन्न सन्तति से कुल का नाम उज्ज्वल होता है, उसी प्रकार कवि की अमर कृति से उसका नाम दीप्त हो जाता है। महात्मा तुलसीदास को हिन्दी काव्य-गगन में पूर्ण शशि का जो स्थान मिला है वह रामचरितमानस के स्निग्ध शीतल प्रकाश के ही कारण है। यह ग्रन्थ-रत्न हिन्दी-साहित्य का ही नहीं, वरन् सारे संसार के साहित्य का मुख उज्ज्वल कर रहा है। इसमें काव्य-कला के विमल स्वरूप की झाँकी मिलती है। कला अनन्द का विषय है। उसका उद्गम स्थान हृदय है। उसमें आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति (प्रकटीकरण) द्वारा सौंदर्य की सृष्टि की जाती है। कला की यह सब बातें रामचरितमानस में भरपूर हैं। इस ग्रन्थ रत्न का उदय ही हृदय के आन्तरिक सुख के लिए हुआ—'स्वान्तः-सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषा निबन्धमतिमंजुलमातनोति'। यह न 'यशसे' और न 'अर्थकृते' लिखी गई। इसके लेखक के आश्रय-दाता कोई लौकिक राजा नहीं, वरन् स्वयं मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान रामचन्द्र जी हैं, जिनके पुण्य चरित्र भारतीय पारिवारिक जीवन के लिए आदर्श हैं और जिनके प्रति कवि की अनन्य भक्ति थी। भक्ति भी ऐसी थी जो किसी अर्थ-लाभ अथवा वैभव-लिप्सा की गंध से दूषित न थी। इसके लेखक कवि-कुल-कमल-दिवाकर गोस्वामी

तुलसीदासजी जैसे आदर्श भक्त थे वेसे ही वे सूक्ष्मदर्शी प्रतिभाशाली कवि थे। उत्तम से उत्तम सामग्री कुशल से कुशल भावुक कलाकार के हाथ में आई। सब बानिक बन जाने पर भी यह दिव्य-कृति हिन्दी साहित्य की मुकुट-मणि क्यों न बनती ?

भाषा और भावों के सामंजस्य दिखलाने, लोक-संग्रह और मर्यादावाद के उच्च-आदर्श उपस्थित करने, धर्म और नीति के विवेचन और मानवीय प्रकृति के रहस्योद्घाटन में यह ग्रन्थ अद्वितीय है। यह भक्ति-रसामृत से भरपूर सप्त-सोपान विभूषित रामचरितमानस वास्तव में मानसरोवर है। इसमें सहृदय, रसिक,काव्य-मर्मज्ञ मरालों के लिए अनेकों मौक्तिक भरे हुए हैं। इस महाकाव्य में स्थान-स्थान पर खंडकाव्य का पदलालित्य, भावावेश और रचना-चातुर्य है और महाकाव्य का सा तारतम्यमय विस्तार है। इसका एक एक पद नपा-तुला है। मतिराम की नायिका की भाँति इसको 'ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निकरै सी निकाई'। इसमें सौंदर्य का सच्चा स्वरूप मिलता है। जितनी बार पढ़ा जाय उतनी ही नवीनता मिलती है। अब यहाँ पर मानस की विशेषताओं का कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

भाषा और भाव का सामंजस्य

भाषा को भावों का शरीर बतलाया गया है, शब्द वही सुंदर कहे जा सकते हैं जिनमें उनकी आत्मा—अर्थ—की अभिव्यक्ति सहज में हो जावे; उनकी आन्तरिक शक्ति, उनका प्रकाश छलकने लगे; भाषा का न जानने वाला भी भाव को समझ जावे और जो जाननेवाले हैं उनके सामने चित्र-सा खिंच जावे। गोस्वामीजी

वर्षा का वर्णन करते समय ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं कि मानों वर्षा प्रत्यक्ष रूप से हो रही हो। 'घन घमंड नभ गरजत घोरा' के सुनते ही बादल घिरे से दिखाई देने लगते हैं और उनकी कड़क का भान होने लगता है। वर्षाकाल के वर्णन में बादलों के लिए मेघ, घन और वारिद तीन शब्दों का प्रयोग किया गया है, लेकिन तीनों का अपने अपने उपयुक्त स्थान में। जहाँ पर 'डरपत मन मोरा' है वहाँ तो घन घमंड और घोरा शब्दों का प्रयोग किया है, जहाँ 'गरजत लागत परम सुहाए' कहा है वहाँ मेघ शब्द कहा है और जहाँ मोरों के नाचने का वर्णन है वहाँ 'वारिद' जैसा कोमल शब्द डाला है। वसन्त वर्णन में कैसे सुन्दर संगीतमय शब्दों का प्रयोग किया है! 'चातक कोकिल कीर चकोरा, कूजत विहंग नचत मन मोरा।' स्वयं शब्द ही कूजने और नाचने लगते हैं। 'गुंजत भृंग' में भृंग और गुंजन की गूँज एक साथ मिलकर माधुर्य का उत्पादन करती है। 'कंकण किंकिणि नूपुर धुनि सुनि' में कैसा शब्दों का चमत्कार है। 'नूपुर धुनि' सुनि' में छोटे छोटे शब्दों की अनुप्रास-मय आवृत्ति में कंकण और किंकिणि की धीरे-धीरे विलीन होती हुई झंकार सी सुनाई पड़ती है। जहाँ पर युद्ध का वर्णन आता है वहाँ कठोरतासूचक शब्दों का प्रयोग हुआ है।

गए क्रुद्ध जुद्ध विरुद्ध रघुपति त्रोनसायक कसमसे।
कोदंड धुनि अति चंड सुनि मनुजाद सब मारुत ग्रसे॥

इस विराट ग्रन्थ में जैसा भाषा का चमत्कार है वैसी ही भावों की भी उत्कृष्टता है। एक से एक अनुपम भाव मौजूद हैं, जो मनुष्य की प्रत्येक स्थिति के लिए लाभदायक होते हैं। 'हुइ है वही

जु राम रचि राखा' में यदि भाग्यवाद है तो 'कादर मन कहँ एक अधारा, दैव दैव आलसी पुकारा' में पुरुषार्थवाद है। ज्ञानियों के लिए मायावाद का प्रतिपादन किया है और उसी के साथ 'मन मोदक नहीं भूख बुताई' में व्यावहारिकता का प्रेम दिखाया है। 'लिखत सुधाकर लिख गा राहू' में भाग्य की आकस्मिक विपरीतता का कैसा सुन्दर चित्र खींचा है! 'पराधीन सपने सुख नाहीं' और 'सब ते अधिक जाति अपमाना' में स्वाधीनता तथा जाति-प्रेम का कैसा मार्मिक परिचय दिया है! 'जे न मित्र दुख होंहि दुखारी, तिनहिं विलोकत पातक भारी' में मित्रता की कैसी महिमा गाई है! 'परहित सरिस धर्म नहिं भाई, पर-पीड़ा सम नहिं अधमाई' में सब पुराणों का सार और शास्त्रों का निचोड़ रख दिया है। दुख-सुख के तुलसीदास जी ने बड़े ही सजीव चित्र खींचे हैं। जब दशरथ जी पर कैकेयी के राम-वनवास-सम्बन्धी वर-याचना का वज्रपात हुआ तब तुलसीदास उनके मुख से कुछ कहलाते नहीं हैं, वरन् दशरथ जी की अवस्था का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन कर देते हैं शायद ऐसा वर्णन कोई अभिनय-कुशल नाटककार भी न करता।

गयउ सहमि कछु कहि नहिं आवा। जनु सचान वन झपटेउ लावा।
विवरण भयउ निपट महिपालू। दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू॥
माथे हाथ मूँदि दोउ लोचन। तनु धरि सोचु लागु जनु सोचन।
मोर मनोरथ सुरतरु फूला। फलत करिनि जनु हतेउ समूला॥

सर पर हाथ रख कर आँख मूँद लेने का वर्णन कैसा स्वाभाविक है? सचान (वाज) और दामिनि की उपमा कितनी

सजीव है। एक साथ शीघ्रता, आकस्मिकता और सर्वनाश का चित्र खिंच जाता है।

नाटककार का कौशल उसके चरित्र-चित्रण और चरित्र के क्रमशः परिवर्तन दिखाने में पाया जाता है।

चरित्र-चित्रण रामचरित-मानस में चरित्र-चित्रण के लिए एक से एक उत्तम चरित्र भरे पड़े हैं। दशरथ में सत्य-संधता के साथ पुत्र-वत्सलता की कैसी सुन्दर खींचा-तानी दिखाई है! पुत्र-प्रेमवश दशरथ कैकेयी की कुटिलता में पूर्ण विश्वास नहीं करते। वे कैसे दीनभाव से कहते हैं—

प्रिया हास रिस परिहरहु, माँगु विचारि विवेक।

फिर महादेव जी से विनय करते हैं:—

सुमिरि महेशहिं कहहिं निहोरी, विनती सुनहु सदाशिव मोरी।
आशुतोप तुम औढर दानी, आरत हरहु दीन जन जानी॥

कौशल्या का असमंजस और भाव-संघर्षण कैसा सुन्दर दिखाया है!

रखि न सकहि न कहि सक जाहू, दुहूँ भाँति उर दारुन दाहू।
धरम सनेह उभय मति घेरी, भइ गति साँप छछूँदर केरी॥
राखउँ सुतहिं करउँ अनुरोधू, धरम जाइ अरु बंधु-विरोधू।
कहउँ जान वन तो बड़ हानी, संकट सोच विकल भइ रानी॥

इस संशय में आलोक आजाता है और फौरन निश्चय होजाता है।

वहुरि समझि तिय धरमु सयानी, राम भरत दोउ सुत सम जानी।

और वह कह देती हैं कि 'पितु आयसु सव धरमक टीका'।

सुमित्रा का त्याग कैसे सुन्दर रूप से दिखाया है—

तुम्हरेहि भाग रामु वन जाहीं, दूसर हेतु तात कछु नाहीं।

रामचन्द्र जी को वनवास, हे लक्ष्मण, तुमको उनकी सेवा करने का अवसर देने के लिए ही, दिया गया है।

नाटककार के लिए चरित्र-चित्रण से भी अधिक चरित्र का क्रमशः परिवर्त्तन दिखाना है। कैकेयी-मंथरा-संवाद में गोस्वामीजी ने मनोविज्ञान का सूक्ष्म परिचय दिया है। बड़े ही कौशल के साथ उन्होंने कैकेयी का परिवर्त्तन दिखाया है। मंथरा कुछ कहती नहीं है, सिसकती है। जब सिसकना बंद नहीं होता तब कैकेयी के मन में शंका होती है, वह राम की कुशल पूछती है। मंथरा बड़ी चतुरता से उत्तर देती है 'रामहिं छाँडि कुशल केहि आजू' और सौतिया डाह को जाग्रत करती है।

पूत बिदेस न सोच तुम्हारे। जानतिहहु बस नाह हमारे।

कैकेयी इस भुलावे में नहीं आती, नीति का आश्रय लेती है।

जेठ स्वामी सेवक लघु भाई। यह दिनकर-कुलरीति सुहाई।

इस पर मंथरा स्पष्टवक्ता होने की बात चलाती है, ठकुर-सुहाती को बुरा कहती है और अपने मन्दभाग्य को दोष देती है।

कोउ नृप होउ हमैं का हानी। चेरि छाँड़ि नहिं होउब रानी॥

उदासीनता में निःस्वार्थता दिखाई देती है; निस्वार्थता सत्य और निष्पक्षता की कसौटी है। इसका बड़ा प्रभाव पड़ता है। मंथरा चुप हो जाती है। कैकेयी बार-बार पूछने लगती है। मंथरा बड़ा दिखावटी संकोच कर उत्तर देती है। इसी प्रकार कैकेयी में परि-वर्त्तन हो जाता है।

यद्यपि रामचरितमानस नाटक के तौर पर नहीं लिखा गया—

तथापि इसमें नाटक के सब गुण हैं। ऐसी चरित्र-चित्रण-कुशलता शायद ही किसी नाटक में होगी।

उच्च आदर्श

इन सब बातों के साथ गोस्वामी जी ने अपने रामचरितमानस में लोक-संग्रह और मर्यादावाद का बड़ा ऊँचा आदर्श रक्खा है। स्वेच्छाचार का घोर विरोध किया है; 'मारग सोई जा कहँ जो भावा' ऐसी स्वतन्त्रता को बुरा कहा है। यह स्वेच्छचार का विरोध प्रजा के लिए ही नहीं है, वरन् राजा लोग भी नियम और मर्यादा से बँधे थे। प्रजा को सुखी रखना ही राजा का धर्म बतलाया गया है, 'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवस नरक अधिकारी'। इसीलिए सचिव वैद्य और गुरु को सत्य बोलने के लिए पूरी स्वतंत्रता दे रक्खी है।

सचिव, वैद्य, गुरु तीन जो, प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धरमु तनु तीन कर, होहि बेगही नास॥

रामचरितमानस के समाज में ब्राह्मण और गुरुओं का पूरा आदर है। भगवान रामचन्द्रजी विश्वामित्र के पैर दबाते हैं। जब गुरु वसिष्ठ श्रीरामचन्द्रजी के घर जाते हैं तब वे कितनी विनय से उनका स्वागत करते हैं—

गहे चरण सिय सहित बहोरी, बोले राम कमल कर जोरी
सेवक सदन स्वामि आगमनू, मंगल-मूल अमंगल-दमनू॥

श्रीरामचन्द्रजी के युवराज बनाये जाने के संबंध में राजा दशरथ सब से पहले गुरु वसिष्ठ से सलाह करते हैं। केवल गुरु जी ही नहीं बुलाये जाते वरन् 'सचिव महाजन सकल बुलाये'; कोई बात नीति के विरुद्ध नहीं होती। लंका जीत लेने पर श्रीरामचन्द्रजी

अपने सहायकों को भूल नहीं जाते 'प्रति उपकार करौं का तोरा, सन्मुख होई न सकै मन मोरा', 'तुम्हरे बल मैं रावण मारा' इत्यादि वाक्यों द्वारा वे वानरों के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित कर उनको गौरव देते हैं। हिन्दू-धर्म की जो कुछ मर्यादा है उसका मानस में पूर्णतया पालन किया गया है।

हिन्दी-साहित्य में रामायण का स्थान

इस ग्रन्थ-रत्न ने हिन्दू आदर्शों, हिन्दू-भावों और हिन्दू-संस्कृति की रक्षा कर एवं हिन्दू-धर्म के भिन्न-भिन्न अंगों में सामंजस्य स्थापित कर हिन्दू-धर्म में अद्वितीय स्थान पाया है। जिस प्रकार हिन्दू-धर्म में इसका स्थान अद्वितीय है उसी प्रकार हिन्दी साहित्य में भी कोई ग्रन्थ इसकी समता नहीं कर सकता। समुद्र की भाँति यह ग्रन्थ अपने विस्तार में जैसा व्यापक है वैसा ही इसका भाव-गांभीर्य भी अथाह है। मानव-जीवन का कोई ऐसा कोना नहीं जिसको इसने आलोकित न किया हो। सूर, कबीर, देव, बिहारी, भूषण और मतिराम सभी महानुभावों ने अपनी अपनी सूक्तियों से हिन्दी-भाषा की शोभा बढ़ाई है, सबमें अपनी अपनी विशेषताएँ हैं। किन्तु यदि हम ऐसे एक ग्रंथ को तलाश करना चाहें जिसने सारे मानव-जीवन को परिवेष्टित कर लिया हो तो हमको रामचरितमानस का ही नाम लेना पड़ता है। मानव हृदय के अगाध समुद्र में पैठने वाले हिन्दी कवियों में सूर और तुलसी ही अग्रगण्य हैं। यह बात अवश्य माननी पड़ेगी कि सूरदास वात्सल्य के वर्णन में संसार के साहित्य में अद्वितीय ठहरेंगे, शृंगार-वर्णन में भी सूरदास जी ने कलम तोड़ दी है; उनकी भाषा का माधुर्य

भी अनुपम है किन्तु उनका वृत्त संकुचित है। तुलसीकृत रामायण में यह बात नहीं है। उसमें कोई बात छोड़ी नहीं गई और जिस बात को लिया गया है, उसे पूर्णतया अलंकृत कर दिया गया है। स्नेह और शील, लज्जा और प्रेम, सत्य और पुत्र-प्रेम आदि भावों का संघर्ष दिखाकर मानव-हृदय का मार्मिक ज्ञान दिखाया गया है। श्री रामचन्द्र का मर्यादा-पालन, धैर्य और अनुपम त्याग, दशरथ जी की आत्मबलिदान करने वाली सत्यपरायणता, भरत का संन्यास, लक्ष्मण की भ्रातृ-भक्ति, हनुमान का सेवा-धर्म, मंथरा का कौटिल्य, कैकेयी का तिरियाहठ, सीता का सतीत्व, रावण का घातक अभिमान—सब बातें किस एक ग्रन्थ में मिल सकती हैं? रामचरित का औरों ने भी वर्णन किया है, किन्तु उनमें इतनी हृदय की आन्तरिकता नहीं। कोई अलंकारों के प्रवाह में बह गये तो कोई छंदों के जाल में फँस गये। मूल नायक के चरित्र सौंदर्य को जैसा रामचरितमानस में दिखाया गया है वैसा कहीं नहीं। तुलसीदास जी ने जो कहना चाहा उसे दृढ़ता और प्रभाव के साथ कहा, जो बात दिखानी चाही वह सफलता-पूर्वक दिखा दी, काव्य-परिपाटी का पालन किया, रस और अलंकारों का स्वाभाविकता से प्रयोग किया, किन्तु उनके कारण मूलभावों का बलिदान नहीं किया। मानव-चरित्र की सूक्ष्म से सूक्ष्म रेखा पर प्रकाश डाला, धर्म और मर्यादा की रक्षा की, सिद्धान्तों का उद्घाटन किया और उत्तमोत्तम सूक्तियों द्वारा जीवन की प्रत्येक स्थिति के लिए उपदेश दिया। इसी लिए यह ग्रन्थ-रत्न हिन्दी-साहित्य का मुकुटमणि गिना जाता है।

---

२५. सूर सूर तुलसी ससी उडगन केशवदास

यद्यपि तुलनात्मक समालोचना आजकल की उपज समझी जाती है तथापि प्राचीन काल से संस्कृत और भाषा में वहुत सी ऐसी साहित्य-संबंधिनी सूक्तियाँ प्रचलित रही हैं जिनमें तुलनात्मक समालोचना का बीज पूर्णतया वर्तमान है। उपर्युक्त सूक्ति उन्हीं सूक्तियों में से है । सूरदास जी के संबंध में इसी प्रकार की और भी एक तुलनात्मक सूक्ति प्रसिद्ध है।

उत्तम पद कवि गंग के, उपमा को वलवीर (बीरवल)।
केसव अरथ-गँभीरता, सूर तीन गुन धीर॥

'सूर सूर तुलसी ससी उडगन केशवदास' में सूर, तुलसी और केशव के सापेक्षित महत्त्व का प्रश्न है। वास्तव में सूर और तुलसी की ही प्रतिद्वंद्विता है । इनमें से किसको 'ससी' और किस को 'सूर' कहा जाय, यही प्रश्न है। उडगन तो 'सूर' और 'ससि' से बहुत पीछे रह जाते हैं। साहित्य में इन तीनों का स्थान जानने के लिए इनके वर्ण्य-विषय और वर्णन-शैली के बारे में कुछ परिचय प्राप्त करना वांछनीय है। तुलना के लिए भेद के साथ समानता की आवश्यकता है, क्योंकि दो पृथक् पृथक् राह जाने वालों की कोई तुलना नहीं हो सकती। तीनों ही महाकवि अपनी-अपनी रीति से सगुणोपासक भक्त हैं। त्यागी, महात्मा और भक्त होने के नाते तो सूर और तुलसी में विशेष समानता है और राम-भक्त और प्रबन्ध-

काव्यकार के नाते तुलसी और केशव का विशेष संबंध है। महात्मा सूरदास जी ने कथा-प्रसंग और चरित्र-चित्रण की अपेक्षा स्फुट पदों के सौंदर्य और नखशिख के विशेष वर्णनों की ओर अधिक ध्यान दिया है।

सूर और तुलसी दोनों ही स्वान्तःसुखाय लिखते थे और अपने इष्ट-देव के गुणगान में तल्लीन हो जाते थे, पर केशवदास जी राज्याश्रय में रहे थे और उनकी कविता भी उनके आश्रयदाता की रुचि से प्रेरित होती थी। इसके अतिरिक्त केशवदास जी पंडित और आचार्य भी थे और उनकी बहुत सी कविता काव्यांगों के उदाहरण-स्वरूप भी होती थी। यह परिस्थिति केशवदास को सूर और तुलसी से एकदम अलग कर देती है। महात्मा तुलसीदास जी तो नर-काव्य करना सरस्वती देवी को वृथा कष्ट देना समझते थे।

'कीन्हे प्राकृत-जन-गुन-गाना, सिर धुनि गिरा लगति पछिताना'।

सूर और तुलसी दोनों ही अपने-अपने इष्ट देवों के अनन्य भक्त थे, किन्तु दोनों के इष्ट देवों में अन्तर है और इनकी अनन्यता में भी भेद है, इसीसे इनके वर्ण्य-विषय में भी विभिन्नता है। सूरदास जी गोकुल-विहारी बालकृष्ण के उपासक हैं और उनकी भक्ति में सख्य-भाव का प्राधान्य है। गोस्वामी तुलसीदास जी धनुर्धारी मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी के उपासक हैं। ये अपने इष्ट-देव को किशोरावस्था में देखते हैं। इनकी भक्ति में दास्यभाव के कारण ये अपने भगवान को इतनी खरी खोटी नहीं सुना सकते जितनी कि सूरदास जी। 'सूरदास सरवसु जो दीजै, कारो कृतहि न मानै'; 'अति अधिकार जनावत यातें अधिक तुम्हारे

हैं कछु गैयाँ !' वात्सल्य और शृंगार में ऐसी बातें कुछ स्वाभाविक भी होती हैं। किन्तु फिर भी ऐसी बातें शायद तुलसीदास जी अपने इष्ट देव के लिए नहीं कहला सकते थे। बाल-लीला वर्णन में भी रामचन्द्र जी अवधेश के ही बालक रहते हैं। इसीलिए तुलसीदास जी ने 'लवकुश कांड' नहीं लिखा। केशवदास जी भी अपने इष्ट-देव का इतना भय नहीं करते थे। सूर और केशव में सीधी और खरी बात कहने का अवश्य आनन्द आ जाता है। सूरदास जी मुँह लगे दास की भाँति अकड़ भी जाते हैं और 'बिरद बिनु' करने की धमकी भी देते हैं किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि तुलसीदास जी अपने इष्ट देव से दूर का ही संबंध रखते हैं। वे भी उपालंभ देते हैं किन्तु मर्यादा के भीतर। उनके उपालंभों में भी उनकी अनन्यता प्रकट होती है।

दूबरो को न दूसरो द्वार, राम दयाधाम
रावरी ही गति बल-विभव-विहीन की।

जब बिचारे इतना कह लेते हैं तब कहीं बिरद को लज्जा आने की बात उठाते हैं।

लागैगी पै लाज वा विराजमान बिरुदहिं
महाराज आज जो न देत दाद दीन की।

विनय के प्रसंग में कभी-कभी सूरदास जी भी दीनता दिखाने में तुलसी के पीछे नहीं रहते। 'मैं सब पतितन को टीको'। कुछ विद्वानों का ख्याल है कि ऐसे पद सूर ने महाप्रभु वल्लभाचार्य से दीक्षा लेने के पूर्व ही लिखे थे।

दोनों ही महात्माओं ने अपनी अनन्यता में अन्य देवताओं

का थोड़ा बहुत तिरस्कार किया है, किन्तु तुलसीदासजी ने अपनी अनन्यता को आघात पहुँचाए बिना और देवताओं की उपासना भी की है। मर्यादा और परंपरा के अनुकूल गणेश जी तथा महादेव जी आदि सब से प्रार्थना भी की है किन्तु सबके पास राम-भक्त हो कर ही गये हैं और सबसे राम-भक्ति ही माँगी है—

'बसहिं राम सिय मानस मोरे'।

यद्यपि यह कहना कठिन है कि इन दोनों में कौन बड़ा भक्त है तथापि तुलसीदास अपनी दीनता, विनय और अनन्यता में सूरदास जी से आगे बढ़े हुए प्रतीत होते हैं। उनमें आर्तभाव बहुत ही उत्कट रूप से दिखाई पड़ता है। कविता के सम्बन्ध में हमको इन महात्माओं के वर्ण्य-विषयों पर कुछ विचार करने की आवश्यकता है।

गोवर्धन-धारण, कालीदह-प्रवेश, दावानल-पान आदि में यद्यपि भगवान कृष्ण का लोकोपकारक-रूप प्रकट होता है, तथापि सारे जीवन पर विचार करने से उनका लोकरंजनकारी रूप अधिक दिखाई देता है। भगवान रामचन्द्र जी में ये दोनों रूप समानता से प्रकाश में आते हैं। महात्मा सूरदास जी के वर्णन में श्रीकृष्ण भगवान का क्षेत्र व्रज की लीला में संकुचित है। भगवान रामचन्द्र जी का कार्य जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में दिखाई पड़ता है। उनके जीवन में सुख और दुःख दोनों ही हैं वरन् सच तो यह है कि उन्होंने सुख भोगने की अपेक्षा दुःख अधिक सहा है। रामचन्द्र जी शील और मर्यादा के अवतार थे। वे मर्यादा से एक रेखा भी हटना नहीं जानते थे। श्रीकृष्ण जी के जीवन में लीला आनन्द और स्वातन्त्र्य का भाव अधिक था। इसी कारण सूर और तुलसी

के वर्णनों में भेद है। सूरदास बाल-लीला के वर्णन में अद्वितीय हैं क्योंकि उनके इष्ट ही बाल कृष्ण थे। "मैया, कबहुँ बढ़ैगी चोटी, किती बार मोहिं दूध पिवत भइ यह अजहूँ है छोटी;" "मैया, मोंहि दाऊ बहुत खिझायो, मोसों कहत मोल को लीन्हों, तोहिं जसुमति कब जायो;" का-सा वात्सल्य-वर्णन शायद ही कहीं मिलेगा। महात्मा तुलसीदास जी ने भी गीतावली में बाल-लीला का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है किन्तु उसमें थोड़ा-सा राजसी-भाव मिल जाने के कारण इतना माधुर्य नहीं रहता। इसी प्रकार शृंगार-वर्णन में भी दोनों महात्माओं के वर्णन में बहुत अन्तर पड़ जाता है। सूरदास जी में संयोग और वियोग की ऊँची और नीची सभी दशाओं का विशद वर्णन आता है। तुलसीदास जी का संयोग शृंगार बड़ा मर्यादा-पूर्ण है। उनके वर्णन में वियोग का दुःख अवश्य है किन्तु उस वियोग में मान के लिए स्थान नहीं। एकपत्नी-व्रत में ईर्षा-मान का तो प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु तुलसीदास जी के लिए प्रणय-मान भी मर्यादा के बाहर था। वह वियोग भाग्य-प्रेरित है, उसमें दुःख की सच्ची अनुभूति है। मर्यादा के बन्धन में सीताजी गोपिकाओं की भाँति रामचन्द्र जी को उलटा सीधा भी नहीं कह सकती थीं। उनके उपालंभ में बड़ी ही मीठी कसक सुनाई पड़ती है।

लखनलाल कृपाल निपटहि डारिबी न बिसारि।
पालबी सब तापसिन ज्यों राजधरम विचारि॥

'जिस राजधर्म के वश मुझ को घर से निकाल दिया है उसी राजधर्म के नाते मुझे और तपस्वियों की भाँति पालना' कितना दीनता का उपालंभ है!

सूरदास जी ने संयोग और वियोग शृंगार का वर्णन ऐसा पूर्ण किया है मानों फ़ुरसत में बैठकर किया हो। तुलसीदास जी ने प्रसंग-वश उतना ही किया है जितना कि मर्यादा के भीतर हो सकता है। वाटिका में राम और सीता को मिलाते अवश्य हैं किन्तु उनकी परस्पर बातचीत नहीं होने पाती। वन-गमन-प्रसंग में 'खंजन मंजु तिरीछे नैननि' में सीताजी के भ्रूविक्षेप आदि का वर्णन करते हैं किन्तु उसमें राम और सीता का परस्पर व्यवहार नहीं दिखलाया गया है।

सूरदासजी के लिए बाल-लीला और शृंगार-लीला मुख्य विषय हैं। तुलसीदासजी में मानव-जीवन के और दृश्यों के साथ इनका भी वर्णन हो जाता है। अब प्रश्न यह है कि सूरदास जी ने अपने विषय का वर्णन कैसा किया है। यद्यपि सूरदास जी कहीं-कहीं कवि-परंपरा में पड़ गये हैं तथापि वे अपने मुख्य विषयों के वर्णन में अपना सानी नहीं रखते। उद्धव-संवाद में तो उन्होंने गोपियों के प्रेम की दृढ़ता पराकाष्ठा को पहुँचा दी है। ऐसी दशा को देखकर उद्धवजी को अपने तन-मन की सुध भूल ही जानी पड़ी होगी। सूरदास जी ने अपने विशेष विषय का वर्णन ऐसी उत्तमता से किया है कि दूसरे कवि उनकी बराबरी नहीं कर सकते, किन्तु कमी इतनी ही है कि उनका विषय उतना व्यापक नहीं जितना कि तुलसीदासजी का और न उनके वर्णनों में वैसा लोक-संग्रह का भाव है जैसा कि तुलसीदास जी के काव्य में। तुलसीदास जी के काव्य में 'शिवं' और 'सुन्दरं' का योग हो जाता है। कला और सदाचार का विच्छेद नहीं होने पाता। सूरदास जी अपना क्षेत्र संकुचित रख उसमें खूब कारीगरी दिखाते हैं। तुलसीदास जी अपना क्षेत्र व्यापक

रखते हुए भी अपने वर्णनों को सुंदर और संबद्ध बनाते हैं। केवल शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में सूरदास जी तुलसीदास जी से आगे बढ़े हुए हैं किन्तु मानव-जीवन के भिन्न-भिन्न रूपों के वर्णन में तथा लोक-संग्रह के भाव में तुलसीदास जी अपना सानी नहीं रखते।

भाषा की दृष्टि से दोनों की भाषाएँ भिन्न-भिन्न हैं। सूरदास जी ने शुद्ध ब्रजभाषा में रचना की है और उसके स्वाभाविक माधुर्य का पूर्णतया लाभ उठाया है। इन्होंने अधिकतर गीति-काव्य लिखा है जिसमें काव्य और संगीत का बड़ा मधुर सम्मिश्रण होगया है। इन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्द बहुतायत से नहीं रखे हैं और संयुक्त वर्णों का भी कम प्रयोग किया है, इस कारण इनके काव्यों में श्रुतिकटु दोष कम आने पाये हैं। इनके काव्य में अलंकारों का पर्याप्त प्रयोग पाया जाता है। कहीं तो इनके अलंकार बहुत ही स्वाभाविक रूप से आये हैं और कहीं पर वे केवल चमत्कार उत्पादन के लिए लिखे हुए मालूम पड़ते हैं—जैसा कि "अद्भुत एक अनूपम बाग" वाले प्रसिद्ध पद में दिखाई पड़ता है कहीं-कहीं सूर ने अपने अलंकारों की सार्थकता पर भी प्रकाश डाला है। सूरदास जी ने कुछ कूट भी लिखे हैं जिनमें प्रसाद गुण का नितान्त अभाव है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने अवधी और ब्रजभाषा दोनों में ही काव्य लिखे हैं। लोगों का कथन है कि गीतावली आदि काव्य-पुस्तकें तुलसीदास जी ने सूरदास जी से ही प्रभावित होकर लिखी हैं। गीतावली और कवितावली के छंदों के लिए ब्रजभाषा ही उपयुक्त थी। यद्यपि तुलसीदास जी का महत्त्व अवधी के दोहा-चौपाइयों की पद्धति में अधिक दिखाई पड़ता है तथापि उनके विनय

के पद बहुत ही संगीतमय हैं और उन्होंने अपने समय की सभी अन्य शैलियों को भी अपनाया है। तुलसीदास जी ने जो अलंकार लिखे हैं, वे भी बड़े स्वाभाविक हैं। वे केवल चमत्कारोत्पादन के लिए नहीं है वरन् उनसे भावों की गूढ़ता और वर्ण्य विषय की स्पष्टता भी प्राप्त होती है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने शब्दों के चुनाव और प्रयोग में बड़ा कौशल दिखाया है। यद्यपि यह गुण सूरदास जी में भी है तथापि वह गोस्वामी तुलसीदास जी में विशेष रूप से है। इन सब बातों से गोस्वामी तुलसीदास जी का स्थान सूरदास जी से ऊँचा बैठता है। किन्तु सूरदास जी में तुलसीदास जी की अपेक्षा माधुर्य गुण का आधिक्य है। जिन महात्मा ने 'सूर-सूर तुलसी ससी' की सूक्ति को प्रचार दिया है वे एक तो सूरदास के माधुर्य गुण से प्रभावित प्रतीत होते हैं, दूसरे वे किसी अंश में यमक और अनुप्रास के भी भक्त मालूम होते हैं।

तुलसी और केशव के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि तुलसीदास जी ने सच्चे भक्त की दृष्टि से कविता की थी। गोस्वामी जी में भक्ति-भावना का पहला स्थान है, उससे पीछे वे कवि हैं। भक्ति-भाव उनका ध्येय और साध्य है और कविता उसका साधन है। इसके विपरीत केशवदास जी प्रधानतया कवि और पंडित थे और गौण रूप से भक्त थे। उनका राजघरानों से संबन्ध होने के कारण उनके वर्णनों में ऐश्वर्य की मात्रा अधिक है। केशवदास में चमत्कारोत्पादन की भावना का बाहुल्य है। उनमें इतनी सरसता नहीं जितनी कि सूर और तुलसी में। जिस प्रकार सूर और

तुलसी ने अपने काव्य में अपना हृदय निकाल कर रख दिया है वैसा
उन्होंने नहीं किया। उनमें न तो तुलसीदास जी की सी भावुकता
आई है और न वे तुलसीदास जी की भाँति अन्तर और बाह्य
प्रकृति के चित्रण में सफल हुए हैं। उन्होंने देश और काल का
ध्यान नहीं रक्खा। नाम गिनाने के आवेश में अयोध्या और
मिथिला के बीच में दक्षिण में होने वाले लौंग, इलायची और
सुपारी के पेड़ रख दिये हैं। ये अलंकारों के विशेष भक्त मालूम
पड़ते हैं, यहाँ तक कि अलंकारों के प्रेम में उन्होंने वास्तविकता को
गौण-सा कर दिया है। श्लेष-प्रियता के कारण इनकी भाषा में
संस्कृत के कटु और कठिन शब्द बहुतायत से आते हैं, इस कारण
उसमें कहीं कहीं कर्ण-कटुता का दोष आ जाता है।

उपर्युक्त दोषों के होते हुए भी केशवदास में बहुत से श्लाघनीय
गुण हैं जिनके कारण उन्हें हिन्दी-साहित्य के ज्योतिर्मय पिंडों में
स्थान मिला है। इनका अपनी भाषा पर पूर्ण अधिकार है। एक-
तानता (Monotomy) बचाने के लिए बदलते हुए छंदों को रखने
में बड़े सफल हुए हैं। इनके राजसी ठाट-बाट के वर्णन बहुत
सुन्दर है। केशव के कथोपकथन बड़े सजीव और वाक्चातुर्य-
पूर्ण हैं। धर्म का भी इन्होंने बड़ा अच्छा वर्णन किया है।
इनकी कल्पना भी उर्वरा है, किन्तु इनमें भावों की वह सुकुमारता
नहीं जो तुलसीदास जी में है। वन-गमन के समय तुलसीदास जी
की सीता रामचन्द्र जी के चरण-चिह्नों को बचाकर चलती हैं—

प्रभु पद रेख बीच बिच सीता, धरति चरन मग चलति सभीता।
सीय राम-पद अंक बराएँ, लखन चलहिं मग दाहिन बाएँ।

इसी अवस्था में केशवदास जी की सीता उनके चरण-चिह्नों पर ही चल कर रामचन्द्र जी के चरणों से शीतल की हुई पृथ्वी की अपेक्षाकृत शीतलता का अनुभव करती है—

मारग की रज तापित है अति
केशव सीतहिं शीतल लागति।
ज्यों पद-पङ्कज ऊपर पाँयनि
दै जो चलै तेहि ते सुखदायनि।

इसमें प्रेम अवश्य है किन्तु वह शील और मर्यादा नहीं जो तुलसी-दास जी के कथन में है। केशवदास जी भक्त होते हुए भी अपने इष्टदेव तथा उनके अनुयायियों के प्रति खरी खोटी कहलाने में नहीं चूकते। इन्होंने विभीषण के भ्रातृ-द्रोह को उपेक्षा दृष्टि से नहीं देखा है।

आउ विभीषन तू नर दूषन
एक तुही कुल को कुलभूषन॥

× × ×

देव वधू जब ही हरि ल्यायो,
क्यों तब ही तजि ताहि न आयो?
यों अपने जिय के डर आए
छुद्र, सबै कुल छिद्र बताए।

जेठो भैया, अन्नदा, राजा, पिता समान।
ताकी तैं पतनी करी, पतनी मातु-समान॥

इन सब सद्गुणों के होते हुए भी भाषा का इनमें वह माधुर्य और भावों की वैसी तीव्रता और आन्तरिकता नहीं है जिसके कारण सूर और तुलसी ने सूर और ससी की पदवी पाई है।

२६. कविवर बिहारी और उनकी सतसई

तंत्री-नाद कवित्त-रस, सरस राग रति-रंग।
अनबूड़े बूड़े, तरे, जे बूड़े सब अंग॥

कविवर विहारी उन सहृदय, सरस एवं भावुक महापुरुषों में से हैं जो तंत्री-नाद, कवित्त-रस, सरस राग और रति-रंग में सब अंग बूड़े होने के कारण ही 'तरे' कहे जा सकते हैं। आत्मख्याति में अरुचि रखनेवाले भारत के अन्य महापुरुषों की भाँति इन महाकवि का जीवन-चरित्र भी अज्ञानतिमिराच्छादित है। सतसई में कुछ ऐसे दोहे अवश्य पाये जाते हैं, जो इनके जीवन-चरित्र-सम्बन्धी अन्धकार में आलोक की एक क्षीण-रेखा उत्पन्न कर देते हैं।

इनका जन्मस्थान ग्वालियर राज्य के वसुआ गोविन्दपुर में होना बतलाया जाता है। ये माथुर ब्राह्मण (चतुर्वेदी) कहे जाते हैं। इनके वंशज बूँदी राज्य में अब भी वर्तमान हैं।

इनका जन्म संवत् १६६० में बतलाया जाता है। ये जयपुर के महाराजा जयसिंह के, जिनकी प्रशंसा में इन्होंने दो चार दोहे लिखे हैं, आश्रित थे। इन्होंने संवत् १७१९ में अपनी प्रसिद्ध 'सतसई' समाप्त की थी—

संवत् ग्रह ससि जलधि छिति, छट तिथि बासर चंद ।
चैत्र मास पख कृष्ण में, पूरन आनँद कंद ॥*

इससे उस समय उनकी अवस्था ५९ वर्ष की बैठती है। इस दोहे से तथा महाराज के समय से जो कि संवत् १६७६ से १७२२ तक रहा, कवि का जन्म १६६० में होना युक्ति-संगत प्रतीत होता है। इनकी मृत्यु १७१९ के दो चार वर्ष बाद हुई होगी। इनके पिता का नाम केशव था।

प्रगट भए द्विजराज कुल, सुबस बसे बृज आय।
मेरे हरो कलेस सब, केसो केसो-राय ॥

इस दोहे में कवि ने अपने पूज्य पिता की श्रीकृष्ण से केशव नाम में तथा अन्य गुणों में समानता दिखला कर वन्दना की है। द्विजराज कुल (कृष्णपक्ष में चन्द्रवंश और पिता के पक्ष में, ब्राह्मण-कुल, द्विजराज चन्द्रमा और ब्राह्मण दोनों को कहते हैं) में दोनों का जन्म हुआ है और दोनों स्वेच्छा से ब्रज में बसे थे। इनका वाल्यकाल बुन्देलखंड में व्यतीत हुआ था और जवानी में मथुरा जी में रहे। इस सम्वन्ध में भी एक दोहा प्रचलित है।

जन्म ग्वालियर जानिए, खंडबुंदेले वास।
तरुनाई आई सुखद, मथुरा वसि सुसराल ॥

बुन्देलखंड में वाल्यकाल व्यतीत करने की बात उपर्युक्त

---

*ग्रह = नवग्रह अर्थात् ९, ससि = चन्द्र = १, जलधि = सप्तसिन्धु = ७, छिति = पृथ्वी = १, उसको उलटा करने से १७१९ होजाते हैं। संख्याएँ इकाई की ओर से गिन कर लिखी जाती हैं।

दोहे तथा उनकी कविता में लिखिवी, गनिवी, देखिवी, लाने, वीघे, गुहारि आदि बुंदेलखंडी शब्दों के बाहुल्य के साथ आने से प्रमाणित होती है। स्वर्गीय काव्य-मर्मज्ञ पंडित पद्मसिंह शर्मा इस मत से सहमत नहीं मालूम होते। उन्होंने देखिबी, गनिबी शब्दों को ब्रजभाषा का अपवाद नहीं माना और अपने मत के समर्थन में तुलसीदास जी की भाषा में भी ऐसे शब्दों का प्रदर्शन किया है। पर वह तो इस बात को पुष्ट ही करता है, कि ये बुन्देलखंडी प्रयोग हैं, क्योंकि तुलसीदासजी तो, राजापुर के निवासी होने के कारण बुन्देलखंडी थे ही। हाँ, सूरदास जी की बात जरूर कुछ मानने योग्य है किंतु गनिवी और देखिवी के अतिरिक्त लाने आदि अनेक बुन्देलखंडी शब्द हैं, जो सूरदासजी की कविता में नहीं मिलते हैं। सूर या तुलसी के प्रयोग से शब्दों की भाषा तो बदल नहीं जायगी। यदि बिहारी ने यह न लिखा होता कि उन्होंने बाल्यकाल बुन्देलखंड में बिताया तो ये प्रयोग आकस्मिक कहे जाते। ग्वालियर से बुन्देलखंड जाना कुछ कठिन नहीं है।

ससुराल से निरादृत होकर वे जयपुर-दरबार गये। सुसराल से निरादृत होने की बात निम्न-लिखित दोहे से पुष्ट होती है—

आवत जात न जानिए, तेजहिं तजि सियरान।
घरहिं जँवाई लौ घट्यो, खरो पूस दिन मान॥

जयपुर दरबार में इन्होंने निम्नलिखित एक दोहे से अपना प्रभाव जमा लिया था। महाराज जयसिंह अपनी नवेली रानी के अनुराग में ऐसे फँस गये थे कि उन्हें राज-काज की कुछ चिंता न थी, मंत्री हैरान थे। ऐसे समय महाकवि बिहारी ने यह दोहा लिख भेजा—

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सों बँध्यो, आगे कौन हवाल ॥

इस दोहे ने अभीष्ट कार्य कर दिया। पढ़ते ही महाराज की आँखें खुल गईं, उस एक दोहे ने महाराजा जयसिंह को अन्तःपुर के हासविलास से वाहर निकाल कर राजकाज में प्रवृत्त कर दिया। इसको कहते हैं कान्ता का सा मधुर उपदेश। 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः' कवि ही कह सकते हैं।

कहा जाता है कि महाराज जयसिंह ने उसी दिन से इनको एक-एक दोहे पर एक-एक अशर्फी देने का वचन दिया, तभी सतसई का निर्माण हुआ।

राजा के आश्रित होते हुए भी ये महाकवि वड़ी स्वतन्त्र प्रकृति के थे। देखिए शाहजहाँ का पक्ष लेकर हिंदुओं के खिलाफ लड़ने वाले अपने आश्रय-दाता को इन्होंने वाज की अन्योक्ति द्वारा कैसी शिक्षा दी है—

स्वारथ सुकृत न स्रम वृथा, देखु विहंग विचार।
वाज पराये पानि पर, तू पंछीहि न मार॥

कहा जाता है कि वादा की हुई सात सौ अशर्फियाँ महाराज जयसिंह से इनको नहीं मिलीं। संभव है ऐसा हुआ हो किन्तु बिहारी ने "तुमहूँ कान्ह मनों भए आजकल के दानि" इस मृदु उपालंभ के सिवाय कुछ भी नहीं कहा। इतना ही नहीं वरन् जयसिंह की प्रशंसा ही की है—'भेंट होत जयसाह सों भाग्य चाहियत भाल'। ये बड़े संतोषी भगवद्भक्त और सौम्य स्वभाव के थे।

कोऊ कोरिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार।
मो संपति जदुपति सदा, विपति विदारनहार॥

ये प्रतिभाशाली कवि तो थे ही, इसके अतिरिक्त हर विषय के प्रकांड पंडित भी थे। इन्होंने अपनी सतसई में प्रायः सभी विषयों की जानकारी का परिचय दिया है। निम्नलिखित दोहे में ज्योतिष और राजनीति के ज्ञान का शृंगार में क्या ही अच्छा उपयोग किया है—

दुसह दुराज प्रजानि कौ क्यों न वढ़े दुख दंद।
अधिक अँधेरो जग करत, मिलि मावस रवि चंद॥

वयःसन्धि में शैशव और यौवन की दुअमली होती है, इसी से देखने वाले को अधिक पीड़ा होती है। यह तो रही शृंगार की वात, किन्तु व्यवहार में दो अधिकारियों के हाथ की वात सदा दुखदायिनी होती है, एक काम के लिए एक ही उत्तरदायी होना चाहिए, अमावस के दिन सूर्य और चन्द्र के एक साथ एक राशि में आजाने से अंधकार वढ़ जाता है।

शृंगार में वैद्यक ज्ञान को भी लगाया है। ज्वर में सुदर्शन चूर्ण दिया जाता है। विरह के विषमतम ताप से जलती हुई नायिका को बड़े ही सुंदर श्लेष द्वारा नायक से सुदर्शन देने की प्रार्थना की गई है—

यह विनसत नग राखिकै, जगत वड़ो जस लेहु।
जरी विषम ज्वर ज्वाइये, आय सुदर्शन देहु॥

कवि को सांख्य और वेदान्त शास्त्र का भी अच्छा ज्ञान था—

जगत जनायो जिहिं सकल, सो हरि जान्यौ नाहिं।
ज्यौं आँखिन सब देखियै, आँखि न देखी जाहिं॥

सांख्यशास्त्र (सांख्यतत्त्व कौमुदी) में बतलाया गया है कि अति सूक्ष्म चीज़, अति निकट वाली चीज़ जैसे आँख की स्याही और अति दूर की चीज़ इत्यादि दिखाई नहीं पड़ती हैं। यहाँ पर उसी कारिका की झलक है । वेदान्त के कीटभृङ्गी आदि दृष्टान्तों को भी कवि ने अपनाया है । वेदान्त के सिद्धान्तों का नीचे के सोरठे में बहुत ही उत्तम वर्णन है—

मैं समझ्यौ निरधार, यह जग काँचौ काँच सौं।
एकै रूप अपार, प्रतिबिंबित लखियत जहाँ ॥

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' जो वेदान्त का सार है, उसका सार इस दोहे में आ गया है।

कवि अपने समय के विज्ञान से भी परिचित थे। नल के पानी की उपमा देते हुए दो स्थानों में उन्होंने बतलाया है कि पानी जितने ऊँचे से डाला जाता है उतना ही ऊपर चढ़ता है और फिर वह नीचे ही गिरता है। पानी अपनी सतह तक पहुँचता है (Water finds its own level) इस सिद्धान्त को वे जानते थे और इसका काव्यमय वर्णन भी उन्होंने अच्छा किया है।

नर की अरु नल नीर की, गति एकै करि जोइ।
जेतो नीचो ह्वै चलै, तेतो ऊँचो होइ ॥

× × × ×

कोटि जतन कोऊ करो, परै न प्रकृतिहिं बीच।
नल बल जल ऊँचे चढ़ै, अंत नीच को नीच ॥

इसके अतिरिक्त किबलनुमा और गेंद के उछलने-गिरने आदि के वर्णन से कवि की वैज्ञानिक रुचि का परिचय मिलता है।

सब ही तन समुहात छन, चलत सवन दै पीठ।
वाही तन ठहराति यह, किबुलनुमा लौं दीठ॥
नीच हिये हुलसौ रहे, गहे गेंद को पोत।
ज्यों-ज्यों माथे मारिये, त्यों-त्यों ऊँचो होत॥

दो दर्पणों के बीच में जब कोई चीज़ रख दी जाती है तब उसके अनेक प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं, इस सिद्धान्त को बहु-प्रतिबिम्ब (Multiple images) का सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्त को ध्यान में रख कवि ने शरीर की द्युति-वर्णन करने में क्या कमाल हासिल किया है—

अंग अंग प्रतिबिंब परि, दरपन से सब गात।
दुहरे, तिहरे, चौहरे भूषन जाने जात॥

कवि ने मानवीय प्रकृति एवं वाह्य-प्रकृति का भी अच्छा निरीक्षण किया है। यद्यपि शृंगार उनका प्रधान विषय है तथापि उन्होंने भक्ति और ज्ञान दोनों का अच्छा वर्णन किया है, कहीं-कहीं मधुर हास्य भी मिलता है।

चिर जीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर॥

यद्यपि बिहारी शृंगारी कवि हैं, शृंगार-संबंधी कोई प्रसंग—नख-शिख, नायिका-भेद, मान, प्रवास इत्यादि—उन्होंने अछूता नहीं छोड़ा है और इस वर्णन में स्थान-स्थान पर वे औचित्य की सीमा का उल्लंघन भी कर गये हैं, तथापि अन्य शृंगारी कवियों की भाँति उनका वर्णन उतने में ही संकुचित नहीं हो जाता। वे सौंदर्य

का व्यापक रूप भी जानते थे। वे उसे नख-शिख में न भुलाकर उनसे भिन्न एक विलक्षण पदार्थ मानते थे—

अनियारे दीरघ दृगनि, किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरे कछू, जिहि बस होत सुजान॥

क्षण-क्षण नवीनता धारण करने का कारण यह अलौकिक सौन्दर्य चित्र की सीमा में वेष्टित नहीं हो सकता, इसीलिए इसके वर्णन में चतुर चितेरे भी कूर हो जाते हैं।

लिखिन बैठि जाकी सबिहि, गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥

भाव-सुकुमारता में भी विहारी अपना प्रतिद्वंद्वी नहीं रखते। देखिए कैसा कोमल भाव है। हृदयस्थ नायक की शान्ति भंग होने के भय से नायिका मान-सम्बन्धी सिखावन सुनना नहीं चाहती, वह उसको शब्दों से नहीं मना करती, वरन् नेत्रों के संकेत से काम लेती है।

सखी सिखावति मान-विधि, सैननि बरजति बाल।
हरुये कहु मो हिय बसत, सदा विहारीलाल॥

विहारी ने जैसा मानवीय प्रकृति का सूक्ष्म वर्णन किया है वैसा ही उनका भाषा पर अधिकार है। मधुर रस के लिए उन्होंने माधुर्यमयी व्रज-भाषा का प्रयोग कर मणि-कांचन संयोग उपस्थित कर दिया है। शब्दों के चित्र से खिंच जाते हैं और हम शब्दों के बहाव में बहने लगते हैं; देखिए—

सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर॥

दोहा-सा प्रचलित छोटा छंद चुनकर उन्होंने लाघव का गुण खूब निभाया है, फिज़ूल भर्ती नहीं भरी। अन्य व्रजभाषा कवियों की भाँति उन्होंने शब्दों को तोड़ा मरोड़ा नहीं है। जहाँ तक हुआ शुद्ध रूप रक्खे हैं। यद्यपि गाथा-सप्तशती, आर्या-सप्तशती, शृंगार सतसई आदि कई प्राकृत और हिन्दी की सतसइयाँ हैं, तथापि पैनी दीठि, अनोखी सूझ, पद-लालित्य और शब्दों की बहु-व्यंजकता के कारण बिहारी-सतसई अद्वितीय है। यह सतसई शृङ्गार-रस का भी शृङ्गार है। अन्य सतसइयों के होते हुए भी सतसई कहने से इसी सतसई का बोध होता है। इसी के लिए कहा गया है—

सतसइया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखन में छोटे लगैं, घाव करैं गंभीर॥

२७. देव और बिहारी

जब लोग साहित्य-संबंधिनी समालोचनाओं का रुचि-पूर्वक अध्ययन करने लगते हैं तब मतभेद के कारण अनेकानेक वाद उपस्थित हो जाते हैं। वादों का पैदा होना साहित्य की सजीवता का चिह्न है। मिश्रबंधुओं ने अपने 'हिन्दी नवरत्न' में महाकवि देव को तुलसी और सूर के पश्चात् तीसरा स्थान दिया है। श्री पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन तथा अन्य कई विद्वानों के मत से देव इस पद के अधिकारी नहीं हैं। उन लोगों की दृष्टि में देव को यह गौरव देना कम से कम महाकवि बिहारीलाल के प्रति अन्याय करना है। इसके पक्ष तथा विपक्ष में दो दल खड़े हो गये थे—एक ओर तो मिश्र-परिवार जिसमें श्री कृष्णबिहारी मिश्र भी शामिल हैं और दूसरी ओर श्री पद्मसिंह शर्मा, लाला जी और उनके अनुयायी थे। दोनों ही दलों ने अपने-अपने पक्ष में बहुत सी युक्तियाँ और उत्तमोत्तम उदाहरण पेश किये हैं।

वास्तव में समालोचना का कार्य साहित्यिकों को स्कूल के विद्यार्थियों की भाँति नंबर देने का नहीं है। प्रत्येक कवि की कुछ विशेषताएँ होती हैं और वह उनमें दूसरे कवियों से बढ़ा-चढ़ा होता है। समालोचक का कार्य कवि की विशेषताओं तथा उसके दृष्टिकोण को समझा देना है। समालोचक पाठक और लेखक वा

कवि के बीच में दुभाषिये का काम करता है। हाँ! समालोचक को यह अवश्य देखना पड़ता है कि कवि वा लेखक ने अपने वर्ण्य-विषय की मार्मिक बात जान ली है या नहीं और उसे जान कर उसने अपने ज्ञान की किस प्रकार अभिव्यक्ति की है अर्थात् वह दूसरों को प्रभावित करने में कहाँ तक समर्थ हुआ है?

देव और बिहारी दोनों कवियों का वर्ण्य-विषय तो प्रायः एक ही है। दोनों ही शृंगारी कवि हैं। दोनों ही की प्रतिभा रीतिकाल के वातावरण में विकसित हुई है। दोनों ही ने व्रज-भाषा की ललित कलित बानी को अपनाया है। किंतु दोनों ही की विषय और भाषा संबंधिनी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। जहाँ ये समानताएँ तुलना के कार्य को सुलभ बनाती हैं वहाँ उनकी विशेषताओं के कारण यह कार्य अत्यन्त दुष्कर हो जाता है।

विषय एक होते हुए भी देव ने संयोग शृंगार के आनंद का बड़ा सुंदर और विशद वर्णन किया है। उनकी अनुप्रास-मयी भाषा पाठकों को आनंद-लहरी में मग्न कर देती है। बिहारी के वियोग-शृंगार की संतापिनी परन्तु पावनी पावक ज्वाला पाठकों के कोमल हृदय को पिघला देती है। यद्यपि बिहारी की विरह-संबंधिनी अत्युक्तियाँ कहीं-कहीं अस्वाभाविक हो गई हैं तथापि उनमें कल्पना की ऊँची उड़ान दिखाई देती है। 'आली बाढ़त विरह ज्यों पाँचाली को चीर' 'कर ते मींड़े कुसुम लौं' आदि बड़े मार्मिक वर्णन हैं। देव के वियोग-संबंधी पद भी अच्छे हैं परन्तु संयोग शृंगार का वर्णन उनकी विशेषताओं में से है। वियोग में देव का मान-वर्णन बहुत अच्छा है; 'बड़े बड़े नयनन ते आँसू भरि-भरि

ढरि, गोरो गोरो मुख आज ओरो सो बिलानो जात' में थोड़ी अत्युक्ति होते हुए भी वह बहुत मनोहर है।

विहारी ने सौंदर्य का भी अच्छा वर्णन किया है। सौंदर्य के वर्णन में बिहारी अलंकारों के पक्षपाती नहीं हैं। विहारी की कविता में आभूषणों का स्थान बहुत नीचा है। वे किसी कृत्रिम मंडन को नहीं चाहते, अंगराग को भी वे आरसी पर के उसास की भाँति शरीर की द्युति को फीका करने वाला समझते हैं। जहाँ कहीं आभूषणों का वर्णन किया है वहाँ उनको शरीर की स्वाभाविक शोभा के आगे द्युतिहीन बतलाने के लिए। कहीं तो उनको 'दरपन के से मोरचा' कहा है और कहीं कह दिया है कि 'दृग पग पोंछन कों किए भूषण पायंदाज़'। देव ने सालंकार नायिकाओं का वर्णन किया है। सौंदर्य के आकर्षण को दोनों ही मानते हैं, किंतु विहारी द्रष्टा की रुचि को भी स्थान देकर अधिक मनोवैज्ञानिक हो गये हैं। देव ने जो सौंदर्य सागर में डूबने वाली आँखों का वर्णन किया है वह बहुत ही सुंदर है—

धार में धाय धसीं निरधार ह्वै जाय फसीं उकसीं न अबेरीं,
री अँगराइ गिरीं गहरी गहि फेर फिरीं औ घिरीं नहिं घेरीं।
देव कछू अपनो बसु ना रस लालच लाल चितै भईं चेरीं,
वेगहि बूड़ि गईं पँखियाँ अँखियाँ मधु-की मखियाँ भईं मेरीं॥

आँखों को मधु की मक्खी बनाने में बड़ी गूढ़ व्यंजना है। मधु की मक्खी अपने ही बनाये हुए मधु में आप फँस जाती है। वास्तव में सौंदर्य-बोध भी मधु-चयन की भाँति है। मधु होता तो फूल में

है किंतु मधु-मक्षिका ही उसका चयन कर सकती है। इसी प्रकार रसिक ही सौंदर्य-बोध कर सकता है।

देव ने शुद्ध प्रेम का भी बहुत उत्तम वर्णन किया है। उनका दिया हुआ प्रेम का लक्षण बहुत ही बढ़िया है।

सुख दुख में है एक सम, तन मन वचनन प्रीति।
सहज बढ़ै हित चित नयो, जहाँ सुप्रेम प्रतीत॥

किंतु इसी के साथ विषय-जन्य प्रेम के वर्णन में भी वे बढ़े-चढ़े हैं। बिहारीलाल ने भी प्रेम की तल्लीनता का अच्छा वर्णन किया है।

कीन्हैं हूँ कोटिक जतन, अब कहि काढ़ै कौन?
मो मन मोहन रूप मिलि, पानी में को लौन॥

प्रकृति-पर्यवेक्षण, कल्पना की उड़ान तथा विचार की बारीकी में लोग बिहारी को बढ़ा हुआ मानते हैं। स्वयं मिश्र-बन्धुओं ने भी इस बात को मान कर अपनी निष्पक्षता का परिचय दिया है। 'मानुषी प्रकृति के संबंध की जितनी बातें इस महाकवि ने लिखी हैं, और जितने चोज निकाल कर इन्होंने रख दिए हैं, उनके आधे भी शायद हिंदी-भाषा का कोई अन्य कवि नहीं रख सका होगा।' यद्यपि मानवीय प्रकृति के वर्णन के संबंध में यह कहना कठिन है कि देव और बिहारी में कौन बढ़ा हुआ है तथापि बाह्य प्रकृति के ज्ञान में बिहारी अवश्य बढ़े हुए प्रतीत होते हैं। कपूर-मणि, नल में पानी उठना, किबुलनुमा, रंगों के मिश्रण, ग्रहों के प्रभाव, आरसी पर के उसास का उल्लेख कर बिहारी ने अपनी बहुज्ञता का परिचय दिया है। इसमें कोई आश्चर्य की भी बात

नहीं है। यद्यपि देव ने बिहारी से अधिक पर्यटन किया था तथापि बिहारी के आश्रयदाता देव के आश्रयदाताओं से कहीं बड़े थे और उनको संसार-संबंधी ज्ञान प्राप्त करने के लिए अच्छा अवसर मिला था, बिहारी ने उस अवसर का पूर्ण लाभ उठाया था। वास्तव में इस महाकवि के संबंध में कहे हुए मिश्रबंधुओं के यह वचन कि 'जाकी दीठि की मिलत न कहूँ मिसाल' बिलकुल ठीक हैं।

देव ने पैनी दीठि की कमी को अपने आचार्यत्व और काव्यांगों के वर्णन में पूरा किया है। देव का काव्यांग-वर्णन इतना अच्छा है कि रीति-काल का कोई भी कवि उनकी बराबरी नहीं कर सकता। केशव और मतिराम उनके मुकाबले में अवश्य खड़े हो सकते हैं। केशव का आचार्यत्व सर्वमान्य है, किन्तु उनके उदाहरण इतने सुंदर नहीं हैं। मतिराम की भाषा और उदाहरण अच्छे हैं किन्तु वे आचार्यत्व में देव को नहीं पाते। बिहारी ने यद्यपि लक्षण नहीं लिखे तथापि उन्होंने भावों, नायिका-भेद और अलंकारों के वर्णन इतने सुंदर लिखे हैं कि यदि वह क्रम लगा कर लक्षण भी लिख देते तो उनका बहुत सुंदर रीति-ग्रन्थ बन जाता। तब भी वे आचार्यत्व में देव की बराबरी नहीं कर सकते थे।

अलंकार-विधान में दोनों ही आचार्य बढ़े-चढ़े हैं, किन्तु इसमें इन दोनों कवियों की विशेषताएँ है। देव उपमा और स्वभावोक्ति में बढ़े हुए हैं, बिहारी ने अत्युक्तियों का अच्छा चमत्कार दिखाया है। बिहारी ने नाक, कानन, तरयोना, मुक्तन आदि शब्दों के श्लेष से बहुत लाभ उठाया है, किन्तु आज-कल इस शब्दजाल में लोग कम फँसते हैं।

देव ने भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य आदि आध्यात्मिक विषयों का अच्छा वर्णन किया है, विहारी ने जो आध्यात्मिक विषयों की वानगी दी है वह भी वहुत ही सुंदर है।

भाषा के सम्बन्ध में दोनों ही कवियों ने बड़ी सुन्दर पदावली की योजना की है। यद्यपि विहारी के शब्दों की शुद्धता के सम्बन्ध में पंडितों का कुछ मत-भेद है तथापि यह वात अवश्य कहनी पड़ेगी कि दोनों ही कवियों का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। देव के पदों में अनुप्रास का अधिक चमत्कार है और छोरि छोरि, तोरि तोरि, मोरि मोरि, लोरि लोरि आदि पुनरावृतित्तमय शब्दों को रख कर उन्होंने एक सुमधुर संगीत उत्पन्न कर दिया है। विहारी के पास इतने शब्द-वाहुल्य के लिए स्थान कहाँ है, फिर भी वे अपने छोटे छन्दों में शब्दों का अच्छा चमत्कार उत्पन्न कर सके हैं—

किती न गोकुल कुल-वधू! काहि न किहि सिख दीन।
कौने तजी न कुल गली, ह्वै मुरली सुर-लीन॥

वास्तव में इन दोनों महाकवियों के गुण इनके छन्द के चुनाव पर भी निर्भर हैं। देव ने अपने विचारों की व्यंजना के लिए घना-क्षरी और सवैये चुने हैं और विहारी ने दोहा चुना है। दोनों ही छन्दों की पृथक् पृथक् विशेषताएँ हैं। वड़े छन्द में भावों के पूर्ण विकास की गुंजाइश रहती है। रस की परिपक्वता भी अच्छी होती है, वर्णन सांगोपांग होजाता है और मन पर जो प्रभाव पड़ता है वह भी कुछ देर तक रहता है। इसमें केवल इतना ही ध्यान रखना पड़ता है कि शब्द भरती के न भरे जायँ, शैथिल्य न आने पाय

और बराबर एक-सा चमत्कार रहे। देव ने इस बात को पूरा निभाया है। उनके लंबे-लंबे छंदों में कहीं शैथिल्य नहीं आया। दोहे में शैथिल्य तो कम आने पाता है किन्तु कहीं-कहीं भावों का संकोच अवश्य करना पड़ता है। कुशल कवि के हाथ में दोहा थोड़े शब्दों द्वारा बहुत से अर्थ की व्यंजना कर एक अपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि कर देता है। सतसई के दोहों के लिए ठीक ही कहा है 'देखने में छोटे लगैं घाव करैं गंभीर'। व्यंजना का आधिक्य अच्छे काव्य का लक्षण है। इसमें कहीं-कहीं प्रसाद गुण की कमी हो जाती है। बड़े छंदों में प्रसाद गुण लाने की अधिक गुंजाइश रहती है। दोनों महाकवियों ने अपने-अपने छन्दों का पूरा-पूरा लाभ उठाया है और उनके दोषों से बचे रहे हैं। दोनों ही ने जनता को अपने-अपने रचना-चातुर्य से खूब प्रभावित किया है। यदि बिहारी का प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है तो वह सतसई की सुलभता और प्रचार के कारण है, हाँ इतना अवश्य है कि पुस्तक का प्रचार भी उसके गुण का द्योतक होता है।

वास्तव में दोनों महाकवि हिन्दी-भाषा साहित्य के शृंगार हैं। देवताओं में से किस को छोटा कहा जावे और किस को बड़ा? पं० कृष्णबिहारी मिश्र के शब्दों में यही कहते बनता है कि "बिहारी लाल की कविता यदि जुही या चमेली का फूल है तो देव की कविता गुलाब या कमल कुसुम है। दोनों में सुवास है। भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न सुगंध के प्रेमी हैं।"

---

२८. महाकवि भूषण की कविता की विशेषता

महाकवि भूषण ने समय की गति को पहचाना और वीर काव्य लिखा। वे स्वतंन्त्रता के प्रेमी थे। बंधन और परतंत्रता उन्हें चुभती थी। भूषण को हिंदुत्व का अभिमान था। उनकी वाणी हिंदूजाति की वाणी है। वे हिंदुओं के प्रतिनिधि कवि हैं। रीति-काल में शृङ्गारी कविता का प्राधान्य था। उस समय कोई विरला वीर ही 'सायर सिंह सपूत' की भाँति पीटी हुई लीक से हट कर वीर-काव्य लिखने का साहस कर सकता था। वीर-काव्य लिखने का समय आ गया था। हिन्दूजाति के सूर्य छत्रपति शिवाजी का उदय हो रहा था। परस्पर की मारकाट में सफलता को वे वीरता का माप-दंड नहीं मानते थे। उनमें हिंदुत्व का अभिमान था, किन्तु बदलते हुए समय की गति को पहचानना सहज कार्य न था। सच्चे कवि की भाँति भूषण विकासोन्मुख स्वतंत्रता के भावों से चिह्नित होने लगे और उन्होंने उन भावों को अपनी वीर-वाणी में मुखरित किया। वे स्वतंत्रता के पुजारी थे। इसी लिए उन्होंने वीर केशरी शिवाजी का आश्रय ग्रहण कर कविता में हिन्दूजाति का प्रतिनधित्व किया। भूषण की कविता की तीन मुख्य विशेषताएँ कही जा सकती हैं—१. जातीयता की भावना, २. ऐतिहासिकता, ३. मौलिकता और सरल भाव-व्यंजना। उनकी इन विशेताओं को सम्यक् रूप से हृदयंगम करने के लिए हमें उस समय तक के हिन्दी साहित्य पर एक विहंगम दृष्टि डालनी होगी।

यद्यपि हिन्दी साहित्य के प्रारंभिक काल में वीर कवियों का भीमगर्जन ही अधिकतर सुनाई दिया, तथापि उन वीर कवियों की कविता में जातीयता की भावना या किसी महान् उद्देश्य की प्रेरणा का सर्वथा अभाव था। वे राजाश्रित कवि अपने नायक के प्रेम, युद्ध और कीर्त्ति-वर्णन में ही, चाहे वह उसके अनुरूप हो अथवा न हो, अपनी प्रतिभा का उपयोग करते रहे। अपने नायक के पराक्रम तथा उसके शत्रु-कन्या-हरण आदि कृत्यों का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करने में या रणक्षेत्रों में जाकर वीरों के हृदय में उत्साह की उमंगें भरने में वे अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझते रहे। उसके बाद जब देश मुसलमानों के शासन में आगया, जब देशी रजवाड़ों ने विदेशियों को आत्म-समर्पण कर दिया, तब इन वीरगाथाओं की रचना में शिथिलता आगई। जनता आतंकित और हताश होकर आत्म-विस्मृत-सी होगई थी। उस हताश जनता को अब भगवान् का ही आश्रय था। जनता के हृदय को सँभालने और लीन रखने के लिए भक्त-कवि भक्ति की चतुर्मुखी धारा बहाने लगे। एक ओर कबीर आदि संत कवि एकतारा बजाकर उपदेश देने लगे—"रहना नहिं देस बिराना है" और जायसी आदि प्रेम-मार्गी कवि लौकिक काल्पनिक प्रेम-आख्यानों द्वारा अव्यक्त ईश्वर के पाने का मार्ग-प्रदर्शन करते हुए "राख उठाय लीन्ह एक मूठी, दीन्ह उड़ाय पिरथवी झूठी" की घोषणा करने लगे। दूसरी ओर प्रेममय भगवान कृष्ण का सरस वाणी द्वारा वर्णन कर महात्मा सूरदास आदि कृष्ण-भक्त कवि कृष्ण-लीला के माधुर्य रस में बह गये। वे सारे संसार को अपने भगवान के सौंदर्य पर न्योछावर

करने लगे। और रामभक्त तुलसी भगवान के अवतार अयोध्यापति रामचन्द्र की लोक-संग्रह-कारी कथा को चित्रित कर इस जीवन से मुक्त होने की आशा करने लगे। इस समय के कुछ बाद सांसारिक कवि कृष्णभक्तों की राधा और कृष्ण की लीलाओं में सांसारिक वासनामय प्रेम के हाव-भाव खोजने लगे, वे रति-रंग में डूबने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझने लगे। तत्कालीन विलासी राजाओं की विलासचेष्टाओं की परितृप्ति और अनुमोदन के लिए पिष्टपेषित उक्तियों को नये-नये रूप में रचा जाने लगा। सारांश यह कि तब तक हिंदी साहित्य में एक ओर वैरागियों और संतों की कुटियाओं से वर्षों तक जीवन की नश्वरता का राग अलापा जा रहा था तो दूसरी ओर राजमहलों और राजदरबारों में वासनामय काव्य की रचना होती रही। इस प्रकार यद्यपि उस समय तक हिन्दी-काव्य अपनी उत्कृष्टता की चरम सीमा को पहुँच चुका था, पर उसमें युद्ध, भक्ति और प्रेम के अतिरिक्त और कोई भाव नहीं दिखाई देता। किसी भी कवि को जातीय जीवन का आदर्श न सूझा, किसी की कविता में जातीयता का राग या जातीयता की भावना नहीं मिलती। भूषण ही हिंदी साहित्य में पहले ऐसे कवि हैं जिन्होंने जातीय या राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर काव्य-रचना की। वे भी राजाश्रित कवि थे, पर जिस तरह उनके नायक शिवाजी और छत्रसाल राष्ट्र के नायक थे, राष्ट्रीय या जातीय चेतना की प्रतिमूर्ति थे, वैसे ही भूषण ने भी उनके राष्ट्रीय या जातीय शरीर का ही चित्रण किया है; उनके वैयक्तिक जीवन या उनके प्रेम-व्यापार पर भूषण ने एक पद, एक पंक्ति भी

नहीं लिखी । उन्होंने अपने नायक की प्रशंसा केवल इस लिए की कि "हिंदुवान द्रुपदि की इज्जति बचैवे काज" ही उसने रण ठाना था, क्योंकि "राज मही सिवराज बली हिंदुआन बढ़ाइवे को उर जूटे", क्योंकि "जहान हिंदुवान के उवारिबे" में ही वह वीर खौल उठता था ।

अपने नायक की विजयों को भूषण उनकी वैयक्तिक विजय नहीं मानते अपितु हिन्दुओं की विजय मानते हैं और कहते हैं—"संगर में सरजा सिवाजी अरि सैनन को, सारु हरि लेत हिन्दुवान सिर सारु दै ।" भूषण ही ऐसे कवि थे, जिन्होंने सबसे पहले यह घोषणा की "आपस की फूट ही तें सारे हिन्दुवान टूटै;" जिन्हें उस समय के हिंदू राजाओं की असहायावस्था चुभती थी, विशेषतः महाराणा प्रताप के वंशज उदयपुर के राणा की, अतएव वे कहते थे—'राना रह्यो अटल वहाना करि चाकरी को वाना तजि भूषण भनत गुन भरि के'; जिन्होंने शिवाजी के बाद छत्रसाल बुंदेला की केवल इसलिए प्रशंसा की थी कि उन्होंने 'रोप्यो रन ख्याल ह्वै के ढाल हिन्दुवाने की ।'

सारांश यह कि भूषण की कविता में जातीयता की भावना सर्वत्र व्याप्त है और वह तत्कालीन वातावरण तथा हिंदुओं की मानसिक अवस्था की सच्ची परिचायक है । भूषण की वाणी हिंदू जाति की वाणी है । इसी विशेषता के कारण भूषण हिंदुओं के प्रतिनिधि कवि कहाते हैं । उन्हें हिंदू जाति का जितना ध्यान और अभिमान था, उतना प्राचीन काल के अन्य किसी कवि को नहीं हुआ । हो सकता है भूषण की जातीयता में भारतीयता का भाव

उतना न हो जितना हिंदूपन या हिंदूधर्म का था, पर उस समय हिंदूपन का संदेश ही एक प्रकार से जातीयता का संदेश था। उस समय मुसलमान ही विदेशी और अत्याचारी थे।

भूषण की कविता की दूसरी विशेषता उसकी ऐतिहासिकता है। यद्यपि उनका ग्रंथ प्रबंध-काव्य नहीं है, यद्यपि उसमें तिथि और संवत् के अनुसार घटनाओं का क्रम नहीं है, तथापि उसमें शिवाजी संबंधी प्रायः सब मुख्य राजनीतिक घटनाओं का—उनकी मुख्य-मुख्य विजयों का—उल्लेख है। ऐतिहासिक घटनाओं के साथ उनकी सत्य-प्रियता बहुत प्रशंसनीय है। किसी भी घटना में भूषण ने तोड़-मरोड़ नहीं की तथा अपनी ओर से कुछ जोड़ा नहीं। दान और आतंक के वर्णन को छोड़कर कहीं अतिशयोक्ति या अत्युक्ति से काम नहीं लिया। अत्युक्ति और अतिशयोक्ति अलंकारों के उदाहरणों में तो यह आवश्यक ही था। सर्वश्री जदुनाथ सरकार, किनकेड, पारसनीस तथा तेखुस्कर आदि आधुनिक महाराष्ट्री ऐतिहासिकों की पुस्तकों से ऐसा प्रतीत होता है कि कई स्थानों पर उन विद्वानों ने भूषण के पदों का अनुवाद करके ही रख दिया है*। इन ऐतिहासिकों ने शिवाजी के दान और आतंक के जो विवरण दिये हैं उन्हें देखकर भूषण के वर्णन को अत्युक्ति-पूर्ण नहीं कहा जा सकता। भूषण की कविता में से ऐतिहासिक घटनाओं के उल्लेख-युक्त पद्यों को छाँटकर यदि तिथि-क्रम से रख दिया जाय तो शिवा-

---

*देखिए, हिन्दी भवन, लाहौर द्वारा प्रकाशित भूषण-ग्रंथावली की श्रीदेवचन्द्र नारंग द्वारा लिखी भूमिका।

जी की खासी अच्छी जीवनी तैयार हो सकती है। भूषण के पहले किसी कवि ने ऐतिहासिकता का ऐसा पालन नहीं किया।

भूषण की कविता की तीसरी विशेषता है, उसकी मौलिकता और उसका सरल भाव-व्यंजना से युक्त होना। यद्यपि काल-दोष से भूषण को रीतिबद्ध ग्रंथ-रचना करनी पड़ी, परन्तु उस रीतिबद्ध ग्रंथ-रचना में भी भूषण ने अपनी मौलिकता और सरल भाव-व्यंजना का परित्याग नहीं किया। मौलिकता के कारण ही उन्होंने तत्कालीन शृंगार-प्रणाली को छोड़कर नये रस और नई प्रणाली को अपनाया। मौलिकता के कारण ही उनके वर्ण्य-विषय और वर्णन-शैली, उनकी अलंकार-योजना तथा उनकी भाषा सब में अनूठापन है।

भूषण के वर्ण्य-विषय वही पिष्टपेषित विषय नायिका के नख-शिख आदि नहीं थे, अपितु उनके वर्ण्य-विषय थे, शिवाजी के युद्ध, शिवाजी का यश, शिवाजी का दान तथा शिवाजी का आतंक। उनकी सारी कविता में ये ही चार विषय पाये जाते हैं। युद्ध-वर्णन में कुछ स्थानों पर भूषण ने वीरगाथा-काल के कवियों की तरह अमृतध्वनि छंद तथा अपभ्रंश शब्दों की बहुलता रक्खी है, पर साधारणतया उन्होंने सवैया और मनहरण कवित्त आदि छन्दों का बड़ी सफलता से प्रयोग किया है।

दिल्ली-दल दले सलहेरि के समर सिवा,
भूषण तमासे आय देव दमकत हैं।
किलकति कालिका कलेजे को कलल करि,
करिकै अलल भूत भैरों तमकत हैं॥

कहूँ रुंड-मुंड कहूँ कुंड भरे स्रोनित के,
कहूँ बखतर करी-झुंड झमकत हैं।
खुले खग्ग कंध धरि ताल गति बंध पर,
धाय धाय धरनि कबंध धमकत हैं॥

नायक के यश-वर्णन के उद्देश्य से ही भूषण ने ग्रंथ-रचना प्रारंभ की थी। सौभाग्य से महाकवि भूषण को शिवाजी जैसा नायक तथा प्रतापी मुगल-सम्राट् औरंगज़ेब जैसा प्रतिनायक भी मिल गया था। भूषण यह भी समझते थे कि यदि नायक का प्रतिपक्षी महान् हो, अमित पराक्रमी हो तो उसको विजय कर नायक भी अमित यश का भागी हो सकता है। अतः उन्होंने औरंगजेब के पराक्रम और प्रताप के वर्णन में कमी नहीं की। वे प्रायः पहली पंक्तियों में औरंगज़ेब के पराक्रम का वर्णन कर अंतिम पंक्तियों में उस पर विजय पाने वाले अपने नायक शिवाजी का उत्कर्ष दिखाते हैं। भूषण जहाँ शिवाजी को 'सरजा' की उपाधि से भूषित करते हैं, वहाँ औरंगज़ेब को 'मदगल गजराज' के नाम से पुकारते हैं। जहाँ 'म्लेच्छन को मारिबे को तेरो अवतार है' कह कर शिवाजी की प्रशंसा करते हैं वहाँ वे औरंगज़ेब को "कुम्भकर्ण असुर औतारी" कहते हैं। औरंगज़ेब के अतिरिक्त शिवाजी को अकेले ही अन्य अनेक मुसलमान बादशाहों और उनकी छत्र-छाया में बसने वाले राजपूतों तथा पश्चिमी तट पर बसी हुई अन्य विदेशी जातियों से लड़ना पड़ता था, उन सबका परिगणन कर अंतिम पंक्ति में "फिर एक ओर सिवराज नृप एक ओर सारी खलक" कह कर भूषण ने शिवाजी के अनंत साहस का सुंदर चित्र खींचा है।

शिवाजी के दान का वर्णन भी भूषण ने अनूठा किया है और शिवाजी के आतंक का वर्णन तो बहुत ही ओजस्वी, प्रभावोत्पादक और सजीव है। सहसा आक्रमण कर अपने आतंक से ही शत्रुओं को किंकर्त्तव्यविमूढ़ कर देना ही शिवाजी की युद्धनीति थी, अतः शिवाजी के आतंक का वर्णन भूषण ने केवल वाणी-विलास अथवा अर्थप्राप्ति के हेतु नहीं किया, अपितु नायक की नीति को सफल करने के निमित्त, शिवाजी की धाक चारों ओर फैलाने के लिए, फलतः विपक्षियों को विचलित करने के लिए कियां है। भूषण इसमें इतने सफल हुए हैं कि कई समालोचकों का मत हो गया है कि भूषण वीररस से अधिक भयानक रस में विशेषता रखते थे।

नीचे दिया गया पद शिवाजी के आतंक और भूषण की वर्णन-शैली को अच्छा व्यक्त करता है।

चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठै बार-बार,
दिल्ली दहसति चितै चाह करषति है।
बिलखि बदन बिलखात बिजैपुरपति,
फिरति फिरंगिनि की नारी फरकति है॥
थर-थर काँपत कुतुबशाह गोलकुंडा,
हहरि हबस भूप भीर भरकति है।
राजा सिवराज के नागरन की धाक सुनि
केते पातसाहन की छाती दरकति है॥

उनकी अलंकार-योजना में भी यही विशेषता है कि उसमें नायक-नायिका के नख-शिख के सौंदर्य को व्यक्त करने वाली अलंकृत उक्तियों का पिष्ट-पेषण नहीं, न केवल शब्दों का इंद्रजाल

है, अपितु सीधे सरल शब्दों में शुष्क ऐतिहासिक तथ्यों को अलंकारों द्वारा पाठक के मन में अंकित करने का सफल प्रयत्न है।

औरंगज़ेब ने और सब हिंदू-राजाओं को वश में कर लिया था, पर केवल शिवाजी ही ऐसे थे, जिनसे वह कर न वसूल कर सका। इस ऐतिहासिक तथ्य को कवि ने भ्रमर और चंपा के कैसे अच्छे उपमा-मिश्रित रूपक द्वारा प्रकट किया है।

कूरम कमल कमधुज है कदम फूल,
गौर है गुलाब राना केतकी विराज है।
पाँडर पँवार जूही सोहत है चंदावत,
सरस बुँदेला सो चमेली साज बाज है॥
'भूषन' भनत मुचकुंद बड़गूज़र है,
बघेले बसंत सब कुसुम-समाज है।
लेई रस एतेन को बैठ न सकत अहै,
अलि नवरंगज़ेब चंपा सिवराज है॥

भ्रमर सभी पुष्पों का रस लेता है, पर चंपा पर उसकी तीव्र गंध के कारण नहीं बैठ सकता। इस पद्य में औररंगजेब को भ्रमर और शिवाजी को—जिनका औरंगज़ेब कभी रस न ले सका—चंपा बनाना कैसा उपयुक्त है। जयपुर महाराज को कमल और राणा को भी केतकी बनाना कम संगत नहीं है। भारत के राजपूत राजाओं में से सब से अधिक रस या सहायता मुगल-सम्राट् को जयपुर-नरेश रूपी कमल से ही मिली थी। ऐसे ही राणा-रूपी कंटकयुक्त केतकी के रस लेने में औरंगज़ेब-रूपी भ्रमर को पर्याप्त कष्ट उठाना पड़ा था।

शिवाजी को रात-दिन बीजापुर के सुलतान ऐदिलशाह, गोलकुंडा के सुलतान कुतुबशाह तथा मुगल-सम्राट् औरंगज़ेब से लोहा लेना पड़ता था। इनमें से पहले दो तो विवश होकर शिवाजी को कर देने लग गये थे, तीसरे को भी शिवाजी ने खूब नीचा दिखाया था। इस ऐतिहासिक तथ्य की पौराणिक कथा से समता प्रकट कर कवि ने व्यतिरेक का क्या ही अच्छा उदाहरण दिया है—

> एदिल कुतुबशाह औरंग के मारिबे को,
> भूषण भनत को है सरजा खुमान सों।
> तीनपुर त्रिपुर को मारे सिव तीन बान,
> तीन पातसाही हनीं एक किरवान सों।

सूरत जैसे प्रसिद्ध व्यापारिक शहर को लूटकर और जलाकर शिवाजी ने मुगल सल्तनत को खूब नीचा दिखाया था। सूरत के लुटने और जलाये जाने का हाल सुन कर औरंगज़ेब क्रोध से जल भुन गया था। यहाँ कवि ने कैसा असंगति अलंकार का चमत्कार दिखाया है—

> सूरत जराई कियो दाह पातसाह उर,
> स्याही जाय सब पातसाह मुख झलकी।

इस तरह हम देखते हैं कि भूषण की अलंकार-योजना में पिष्ट-पेषण नहीं, क्लिष्ट कल्पना नहीं, पर है सरलता तथा मौलिकता।

वर्ण्य-विषय और अलंकार-योजना के अतिरिक्त भूषण की भाषा में भी मौलिकता है। वीर-गाथा काल से काव्य-भाषा—पिंगल—का आधार व्रज-भाषा ही थी। उसमें वीररसोपयोगी वर्णन के लिए अपभ्रंश-मिश्रित राजस्थानी का पर्याप्त प्रयोग किया जाता था, पर

उसके पीछे कृष्णभक्त तथा रीतिकाल के कवियों के समय व्रज-भाषा पर्याप्त मधुर और शुद्ध होगई। शृंगारी वर्णनों के लिए व्रजभाषा को और भी अधिक सरस बनाने का प्रयत्न किया गया, उसकी कर्कशता को सप्रयास दूर किया गया, उसके स्थान पर कोमलकांत-पदावली प्रयुक्त होने लगी, जो कि वीर-रस के लिए सर्वथा अनुपयुक्त थी। इस कारण भूषण को अपनी भाषा अपने आप तैयार करनी पड़ी। सुदूर महाराष्ट्र देश में अपनी कविता का प्रचार करने के लिए उन्हें अपनी कविता की भाषा को खिचड़ी बनाना आवश्यक हो गया। पर उस खिचड़ी में भी ओज की कमी नहीं है। उनकी भाषा का सौंदर्य तो केवल इसी में है कि उसे पढ़कर या सुनकर पाठकों और श्रोताओं के हृदय में वीरों का आतंक, युद्ध का लोमहर्षक दृश्य, रणचंडी-नृत्य इत्यादि के चित्र खिंच जाते हैं। रस के अनुकूल शब्दों में भेरी-रव की विकट ध्वनि लक्षित होती है। प्रभावोत्पादन के लिए जिस प्रकार की भाषा समीचीन है वैसी भाषा का भूषण ने प्रयोग किया और ऐसा करने में उन्होंने शुद्ध संस्कृत शब्दों के साथ शुद्ध विदेशी शब्दों को मिलाने में भी संकोच नहीं किया। "ता दिन अखिल खलभलैं खल खलक मैं" तथा "जिनके गरज सुने दिग्गज बेआव होत मद ही के आव गरकाव होत गिरि हैं" आदि पद्यांशों में संस्कृत, देशज तथा विदेशी शब्दों का जोड़ देखने लायक है। इसी अनुप्रास-योजना के लिए भूषण ने 'शिवाजी गाजी' का भी प्रयोग किया है, यद्यपि 'गाजी' शब्द साधारणतया काफिरों पर विजय प्राप्त करने वालों के लिए ही प्रयुक्त होता है।

उपरिलिखित तीनों विशेषताओं—जातीयता की भावना, ऐतिहासिकता और मौलिकता तथा सरल भाव-व्यंजना के अतिरिक्त महाकवि भूषण में एक और विशेषता है। वह यह कि धन के लोभ से भूषण ने अपनी कविता को, अपनी प्रतिभा को, दूषित नहीं किया। प्राचीनकाल से अनेक हिन्दी कवि और रीतिकाल में तो प्रायः सभी प्रमुख कवि अपने विलासी आश्रयदाताओं की मनस्तृप्ति के लिए कलुषित प्रेम की शत सहस्र उद्भावनाएँ करके देवी भारती का भंडार भरने के स्थान पर उसे कलंकित कर रहे थे। इसी को देखकर गोस्वामी तुलसीदास ने अनेक वर्ष पहले कहा था—

कीन्हें प्राकृत जन गुण गाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।

इसी बात को अनेक वर्षों के बाद भूषण ने दूसरे शब्दों में इस प्रकार दुहराया—

ब्रह्म के आनन तें निकसे तें अत्यन्त पुनीत तिहूँ पुर मानी।
राम युधिष्ठिर के बरने वलमीकिहु व्यास के अंग सुहानी॥
भूषन यों कलि के कविराजन राजन के गुन गाय नसानी।
पुन्य-चरित्र सिवा सरजै सर न्हाय पवित्र भई पुनि बानी॥

इस प्रकार भूषण ने अपने समकालीन कवियों के समान देवी भारती का तिरस्कार नहीं किया, अपितु शिवाजी और छत्रसाल जैसे राष्ट्र-नायकों के यश को गाकर उसे पुनः पवित्र कर दिया। इसी कारण तो स्वयं वीर-केसरी छत्रसाल ने उनकी पालकी का डंडा अपने कंधे पर रख लिया था; इसी कारण तो हिन्दी-साहित्य में भूषण का नाम सदा के लिए अजर अमर है।

---

२६. कविवर मैथिल

काल-गणना में संक्रान्तियों का विशेष महत्त्व रहता है। वह समय पुण्य-काल माना जाता है। गुप्त जी वर्तमान हिन्दी-साहित्य के इतिहास में संक्रान्ति-युग के कवि हैं। उनमें दोनों युगों की छाप है। उनमें द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता और वर्तमान-युग की भावाभिव्यक्ति दोनों का अपूर्व सम्मिश्रण है, गुप्त जी ने द्विवेदी-युग की शिक्षा से पूर्ण लाभ उठाया। तुलसीदास जी की भाँति उनकी प्रतिभा भी महावीरजी के प्रसाद से ही प्रस्फुटित हुई। वह समय भी उपदेशात्मकता का था। देश में राष्ट्रीय-भावना जागरित हो चुकी थी और जनता में राष्ट्रीय गीत सुनने की ग्राहकता उत्पन्न हो गई थी। सच्चे कवि की भाँति गुप्त जी ने तत्कालीन भावों को अपनी ओज-प्रसाद-माधुर्यात्मक त्रिगुण-विभूषित वाणी द्वारा उनमें विशेष गति और व्यापकता उत्पन्न कर दी। उनकी भारत-भारती जन-समाज के गले का हार बन गई और लोग पूर्वजों का गौरव-गरिमा-गान सुन कर एक नई भावुकता के प्रवाह में बहने लगे। जयद्रथ-वध में राष्ट्रीयता का उपदेश कथा-प्रवाह के साथ दिखाई दिया। अनघ में वर्तमान युग की वीरता के, जो मारने में नहीं वरन् आत्म-बलिदान में और जो शत्रुओं को दुःख देने में नहीं वरन् कष्ट-सहिष्णुता में अपनी सफलता की चरम सीमा समझती है, दर्शन

मिलते हैं। अनघ में महात्मा गांधी की प्रति-छाया है। कथा-वस्तु को बुद्ध भगवान के पूर्व जन्म से सम्बद्ध कर कुशल कवि ने उस ग्रन्थ को वर्तमान की संकुचित सीमाओं से ऊँचा उठा दिया है। इस प्रकार के वक-संहार, वन-वैभव, सैरन्ध्री, चन्द्रहास आदि और भी कई कथात्मक ग्रन्थ हैं, किन्तु उनका वर्णन देना लेख के कलेवर को अनावश्यक रूप से बढ़ा देगा।

उपदेशात्मकता एक आवश्यक गुण है, किन्तु वही सब कुछ नहीं है। मनुष्य के हृदय का भी कुछ मूल्य है और कवि के लिए तो उसका महत्त्व सर्वोपरि है। पंचवटी, साकेत और यशोधरा में हृदय की उन विश्वव्यापिनी समस्याओं का उल्लेख है जिनका कि वर्णन कर कवि लोग महाकवि के पद से विभूषित होते हैं। पंचवटी में बाह्य-प्रकृति और मानवी प्रकृति के सुन्दर वर्णन पढ़ने को मिलते हैं। उसमें काव्यकला की छटा भी बड़ी मनोहर है। राम, सीता और लक्ष्मण के तपोभूमि में स्वच्छन्द पारिवारिक जीवन तथा आर्य-सभ्यता की परिशुद्ध-मर्यादा की पुण्य झाँकी उस छोटी सी पुस्तक में मिलती है। स्त्री को कुरूप बनाना उदारता के विरुद्ध अवश्य है तथापि पंचवटी के कथानक को ऐसा रूप दिया गया है जिसके कारण शूर्पणखा अपने जाल में स्वयं फँस जाती है और जब उसने स्वयं ही अपने रूप को विकृत और विकराल बना लिया, 'गोल कपोल पलट कर सहसा बने भिड़ों के छत्ते से, कुंद कली से दाँत होगए बढ़ वराह की डाढ़ों से', तब उसका अंग-भंग करना कुछ क्षम्य हो जाता है।

गुप्त जी की काव्य-प्रतिभा का पूर्ण विकास हम उनकी साकेत

और यशोधरा नाम की काव्य पुस्तकों में देखते हैं। काव्य की उपेक्षिता उर्मिला का वर्णन कर गुप्त जी ने कवि-समाज के कलंक को दूर किया है। उर्मिला का त्याग अनुपम है। साकेत का प्रारम्भिक प्रेम-प्रमोदमय दृश्य यद्यपि कहीं-कहीं अश्लीलता के तट को स्पर्श कर गया है तथापि वह उस नव-दम्पति के त्याग को और भी महत्ता दे देता है। प्रेम-पयोनिधि में अवगाहन करने वाले उर्मिला और लक्ष्मण का त्याग सम्पत्ति-सम्पन्न व्यक्तियों का-सा महत्त्व-पूर्ण त्याग बन जाता है। जिस दाम्पत्य-प्रेम के लिए लोग साम्राज्य भी त्याग देते हैं उसका सुख उन्होंने भ्रातृ-प्रेम और सेवा-कार्य पर न्यौछावर कर दिया। साकेत में कवि ने अपनी कल्पना के सहारे परम्परागत कथा-वस्तु में कई वांछनीय परिवर्तन किये हैं। हनुमान द्वारा लक्ष्मण की शक्ति का हाल सुन कर अयोध्या-वासियों का चुप रह जाना एक खटकने वाली बात है। गीतावली में गोस्वामी तुलसीदास जी को भी यह बात खटकी है। गुप्त जी ने अयोध्या में एक सुन्दर फौज तैयार करा दी है। साकेत के कवि ने कैकेयी के चरित्र को भी उसमें आत्मग्लानि उत्पन्न कर पीछे से बहुत सुधार दिया है—'युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी, रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी'। उनकी मन्थरा यद्यपि तुलसी दास जी की छाया है तथापि उसका चित्रण मनोवैज्ञानिक है। वह बड़ी मार्मिक चोट करती है—"भरत से सुत पर भी संदेह"; यही बात कैकेयी के हृदय में बैठ जाती है। उर्मिला का विरह यद्यपि कहीं-कहीं परंपरा-भुक्त हो गया है और उसका बढ़ा हुआ आकार काव्य की प्रबन्धात्मकता में भी बाधा डालता है, तथापि बड़ा

मार्मिक है। उसमें दुःख की व्यापक सहानुभूति है और वह ऐन्द्रिक न रह कर मानसिक हो जाता है; "पहले, आँखों में थे, मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे।"

यशोधरा भी भारतीय रमणियों में रत्न-सदृशा है और उर्मिला की भाँति वह भी उपेक्षिता रही थी। उसका काव्य-मय वर्णन कर गुप्त जी ने अपनी उदार दृष्टि का परिचय दिया है। इस अमूल्य ग्रन्थ में गुप्त जी ने नारी-गौरव और स्वाभिमान का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है। उसको इस बात का दुख नहीं है कि बुद्धदेव उस को छोड़ गये वरन् यह कि उन्होंने उसको पथ-बाधा समझ कर उस को विश्वास करने योग्य न समझा और बिना कहे चले गये। देखिए कैसे मर्म-भेदी वाक्य हैं—

सखि वे मुझ से कह कर जाते
कह, तो क्या मुझ को वे अपनी पथ-बाधा पाते।

× × × ×

स्वयं सुसज्जित कर के क्षण में
प्रियतम को, प्राणों के पण में
हमीं भेज देती हैं रण में
क्षात्र-धर्म के नाते।

नारी के त्याग-मय जीवन का नीचे की पंक्तियों में बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा गया है—

अबला जीवन, हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी॥

गुप्त जी ने केवल बुद्धधर्म का ही वर्णन नहीं किया है, वरन्

गुरुकुल में सिक्ख गुरुओं का भी यश-गान किया है। द्वापर में उन्होंने कृष्ण-चरित्र का भी गान किया है किन्तु तुलसीदास की भाँति अपनी अनन्यता रक्खी है—

धनुर्वाण या वेणु लो, श्याम रूप के संग।
मुझ पर चढ़ने से रहा, राम! दूसरा रंग॥

द्वापर की कविता मुक्तक में ही है। कृष्ण-चरित्र प्रायः इसी रूप में पल्लवित हुआ है। गुप्त जी ने प्रबन्ध और मुक्तक दोनों प्रकार के काव्य लिखे हैं किन्तु प्राचीनों की भाँति उनकी चित्त-वृत्ति प्रबन्ध-काव्य में अधिक रमी है। वर्तमान-युग में जब प्रबन्ध-काव्य का ह्रास सा दिखलाई पड़ता था गुप्त जी ने इस ओर झुक कर वर्तमान काव्य की एक कमी को पूरा किया। वर्तमान युग में प्रबन्ध-काव्य के ह्रास के कई कारण हैं, उनमें एक प्राचीनों और नवीनों की मनोवृत्ति का भेद भी है। प्राचीन लोग अपने उपास्य में अपने व्यक्तित्व को मिला देना अपनी महत्वाकाङ्क्षा का चरम लक्ष्य समझते थे। वे जो कुछ कहना चाहते थे स्वयं न कह कर कथा-नायक से कहलाते थे। वर्तमान युग के लोग सब कुछ स्वयं कहना चाहते हैं। उनमें व्यक्तित्व-भावना का प्राधान्य रहता है। गुप्त जी ने अपने प्रबन्धात्मक काव्यों में कवि के सभी वर्ण्य-विषय लिये हैं और उनमें एक सुखद नवीनता उत्पन्न की है।

प्रकृति-वर्णन उनका यद्यपि प्रसङ्गागत है तथापि उसमें संश्लिष्ट योजना है और कहीं-कहीं मानवीकरण भी है। बाह्य प्रकृति और अन्तः प्रकृति का भी सुन्दर सामञ्जस्य किया गया है—

चारु चन्द्र की चंचल किरणें, खेल रही हैं जल-थल में
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है, अवनि और अंबर तल में।
पुलक प्रकट करती है धरती, हरित तृणों की नोकों से
मानों झीम रहे हैं तरु भी मंद पवन के झोंकों से॥

× × × ×

इसी समय पौ फटी पूर्व में पलटा प्रकृति-पटी का रंग।
किरण कंटकों से श्यामांवर फटा, दिन के दमके अंग।
कुछ कुछ अरुण, सुनहली कुछ कुछ प्राची की अब भूषा थी।
पंचवटी की कुटी खोल कर, खड़ी स्वयं क्या ऊषा थी।

'किरण कंटकों से श्यामांवर फटा' कैसा कल्पना-पूर्ण चित्र है। उषा-स्वरूपा सीता को रंगमंच पर लाने के लिए कैसी सुन्दर पृष्ठ-भूमि तैयार की गई है।

गुप्त जी ने प्रवन्ध-काव्य में ही राजनीतिक और समाजिक विचारों का समावेश किया है। प्रवन्धकाव्य में विचार अनर्गल नहीं रहते। उनके लिए आधार-भूमि मिल जाती है और कल्पना पर भी विशेष बल नहीं देना पड़ता। देखिए—

राजा प्रजा का पात्र है
वह लोक-प्रतिनिधि मात्र है। (वक-संहार)

श्रीरामचन्द्र जी के श्रीमुख से निस्सरित स्वदेश-प्रेम से पूर्ण निम्नोल्लिखित पंक्तियाँ देखिए—

मैं हूँ तेरा सुमन, चढ़ूँ सरसूँ कहीं,
मैं हूँ तेरा जलद, वढ़ूँ वरसूँ कहीं।

गुप्त जी के भारत-भारती आदि मुक्तक काव्य में तो स्वदेश-

प्रेम ओत-प्रोत है। उन की 'झंकार' नाम की छोटी सी पुस्तक में हम वर्तमान रहस्यवादी कवियों की अनुरूपता पाते हैं। एक उदाहरण लीजिए—

अब भी एक प्रश्न था कोऽहं
कहूँ कहूँ जब तक दासोऽहं
तन्मयता कह उठी सोऽहं।

कितना सुन्दर द्वैत और अद्वैतवाद का समन्वय है। तन्मयता ही द्वैत में अद्वैत भावना उत्पन्न कर देती है।

खड़ी बोली की कविता में गुप्त जी का विशेष स्थान है। वे उसके सफल प्रचारकों में से हैं। संस्कृत तत्समता के पक्षपाती होते हुए भी उन्होंने अपनी भाषा को संस्कृत-बहुला नहीं बनाया है। उसके देशी रूप की ही प्रतिष्ठा रक्खी है। कहीं-कहीं साधारण शब्दों के व्यवहार से कुछ शैथिल्य भी आगया है, वह प्रायः तुक मिलाने के उद्योग में, जैसे चक्खी के साथ मक्खी, भरती, करती के साथ धरती मरती। किन्तु वे अधिकतर बोल-चाल के प्रचलित शब्दों से बाहर नहीं जाते, उन में संस्कृत का भी पुट रहता है। गुप्त जी का शब्द-चयन भावानुरूप है। उनके शब्दों की ध्वनि कहीं-कहीं बिना अर्थ-बोध के ही भाव प्रकट कर देती है। गुप्त जी ने लोकोक्तियों का भी व्यवहार किया है किन्तु कम, उसमें वे अधिक सफल भी नहीं हुए हैं। लोकोक्ति का अनुवाद करने से उसका रस जाता रहता है। गुप्त जी ने प्रायः हिन्दी के छन्दों में ही अपनी कविता लिखी है, कुछ अतुकांत भी है। उनके कथोपकथन बड़े सजीव होते हैं और वे पात्रों की वाकपटुता का परिचय देते हैं। उनके चित्र

भी बड़े सुन्दर उतरते हैं और उनमें बहुत से सिनेमा के गत्यात्मक चित्र हैं—"पैरों पर पड़ती हुई उर्मिला हाथों पर थी।"

संक्षेप में हम कह सकते हैं गुप्त जी के काव्य के कारण खड़ी बोली का मान बढ़ा है। उनके काव्य में केवल कलात्मकता ही नहीं है, वरन् वह लोक-हित और मंगल-कामना को लेकर चला है जो पूर्णतया भारतीय संस्कृति के अनुकूल है। वे प्राचीन आर्य-संस्कृति के संदेश-वाहक हैं। उन्होंने अपने काव्य द्वारा मानव जाति के नैसर्गिक देवत्व का उद्‌घाटन कर मानव-गौरव को बढ़ाया है। उन्होंने नर में नारायण के और पृथ्वी में स्वर्ग के दर्शन कराये हैं। उनके राम का भी तो संसार में आने का यही उद्देश्य था—
'नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।'

गुप्त जी ने प्राचीन काल की ईश्वर को प्राधान्य देने वाली भावना का वर्तमान-कालीन मनुष्य को प्रमुखता देने वाली प्रवृत्ति के साथ समन्वय किया है। गुप्त जी की नवीनतम कृति नहुप में भी मानव गौरव का शुभ संदेश है। जिस प्रकार वे प्राचीन सभ्यता के वैतालिक हैं उसी प्रकार वे नवीन सभ्यता के अग्रदूत हैं। वे प्राचीनता और नवीनता के सेतु हैं।

---

२०. महाकवि जयशंकर प्रसाद

प्राय: सभी कवि अपने समय की प्रवृत्तियों के फल-स्वरूप होते हैं किन्तु जो कवि अपने समय की गति-विधि निश्चित करने में योग देते हैं और जो केवल साहित्यकार न होकर साहित्य को प्रेरणा देने का भी कार्य करते हैं उनकी संख्या अधिक नहीं होती। प्रसाद जी उन ही विरले पुरुषों में से थे जिनके लिए महात्मा कबीर ने कहा है, 'लालों की नहिं बोरियाँ साधु न चलें जमात'। वे रस-वाहक ही न थे वरन् रस के स्रोत भी थे।

प्रसाद जी की प्रतिभा जिस समय विकसित हो रही थी, उस समय हरिश्चन्द्र-युग अपना शासनाधिकार द्विवेदी-युग को दे चुका था। इस युग में ज्ञान के सूर्य का प्रकश अवश्य था किन्तु उस में चन्द्र-ज्योत्स्ना का सा स्निग्ध सरस मृदुल माधुर्य न था। हिन्दी साहित्य अपना अंक जमाने के लिए 'ऋतं च सत्यं च' का पाठ पढ़ कर नीति और कर्तव्य की दुहाई दे रहा था। उस समय के साहित्य पर इतिवृत्तात्मकता और उपदेशात्मकता की छाप लगी हुई थी। रीति-काल की विलासमयी सौन्दर्योपासना से ऊबा हुआ संसार यह प्रमाणित करना चाहता था कि उसकी मोह-निद्रा नि:शेष हो चुकी है, उस में जाग्रति के चिह्न हैं, और वह उद्योग,

उपयोगिता और नैतिकता की ओर जा रहा है। द्विवेदी-युग में रीति-काल की भूसी के साथ सौन्दर्य के सार-पूर्ण कण भी फटक दिए गये थे। राजनीतिक और धार्मिक जाग्रति के आरम्भ में लोग कला, और सौन्दर्य की अपेक्षा ज्ञान और शक्ति के उपार्जन की ओर अधिक ध्यान देते हैं। प्रसाद जी की प्रतिभा ऐसे ही समय में जागरित हुई थी। प्रसाद ज़ी इस वातावरण से इतने ही प्रभावित हुए जितना कि उनको अपने पैरों खड़े होने के लिए आवश्यक था। खड़े होते ही उन्होंने अपना मार्ग निश्चित कर लिया। प्रारम्भ में प्रसाद जी ने ब्रज भाषा की भी कविताएँ लिखीं जो 'कानन-कुसुम' नामक काव्य-संग्रह में सुरक्षित हैं। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में 'प्रेम-पथिक', 'महाराणा का महत्त्व' और 'करुणालय' मुख्य हैं। इन ग्रन्थों में इतिवृत्तात्मकता और उपदेशात्मकता के होते हुए भी प्रसाद जी की भावुकता की झलक मिलती है। प्रेम-पथिक अतुकान्त कविता का अच्छा नमूना है। कुछ लोगों ने इससे प्रेरणा ग्रहण कर इसका अनुकरण भी किया।

'झरना', 'लहर' और 'आँसू' में उनकी भावमयी प्रतिभा को उचित क्षेत्र मिला। इन तीनों का सम्बन्ध करुणारस के मूल-तत्व जल से है और इन में हम को प्रसाद जी के करुणार्द्र हृदय के उद्गार मिलते हैं। झरने से उठी हुई वेदना की लहर आँसू में घनी-भूत हो जाती है और वह कल्पना के सहारे ऐसे सौन्दर्य-लोक की सृष्टि कर लेती है जिस से विरह और मिलन का परिणाय हो जाता है और आँख (विषय) और मन (विषयी) के मेल से सच्चे सौन्दर्य की अनुभूति होने लगती है। कवि अन्तः और वाह्य

प्रकृति का साम्य उपस्थित कर देता है। हृदय की वेदना ऊषा की मृदुल-पलकों में झलकने लग जाती है और सूर्य और तारागण भी विरह-ज्वाला से दीप्त हो उनके दुःख के सहभागी बन जाते हैं।

इन मुक्त कविताओं में हम ऋतुराज की शुभ सूचना देने वाली आम्र-मञ्जरियों की भाँति सरस रसालों की मधुर सम्भावनाएँ निहित पाते हैं। झरना में छायावाद और रहस्यवाद के दर्शन होते हैं। 'झरना' की कविताओं में हम यह पाते हैं कि कवि को प्राकृतिक दृश्यों में कुछ छिपी हुई गहरी बात और झरने की चाल में दृग-जल के ढरकने का बोध होता है और उसके लिए किरण-प्रकाश रेखा-मात्र न रहकर, 'किसी अज्ञात विश्व की विकल-वेदना-दूती सी' अथवा सुदिनमणि-वलय-विभूषित ऊषा-सुन्दरी के कर का संकेत बन जाती है। यही है छायावाद। रहस्यवाद के भी ऐसे ही सुन्दर उदाहरण उनकी कविता में मिलते हैं। अपने में ही सोये हुए मंगलमय भगवान को वे इस प्रकार जगाते हैं—

> इस स्वप्नमयी संसृति के
> सच्चे जीवन तुम जागो।
> मंगल किरणों के रंजित
> मेरे सुन्दरतम जागो।

कवि की प्रतिभा का पूर्ण विकास हम को 'कामायनी' में मिलता है। उसमें हम उनके जीवन भर की काव्य-साधना का निष्कर्ष पाते हैं। कवि की कल्पना उसको सृष्टि के आदि-कालीन भीषण-जल-प्लावन-पूर्ण घन घमलाओं के योग से निर्मित दिवारात्रिमय उस दृश्य की ओर ले आती है जिसका वर्णन पढ़ते ही विचार-

धारा स्थगित हो जाती है और कल्पना के भी पैर लड़खड़ाने लगते हैं। इस ग्रंथ में कल्पना के साथ बौद्ध और रागात्मक तत्त्वों का अपूर्व संतुलन है और इसकी भाषा भावानुसारिणी है।

कामायनी के कथा-प्रवाह के साथ चिन्ता, श्रद्धा आदि मनोवृत्तियों का भी सुन्दर विश्लेषण है। मन का योग कामायनी (श्रद्धा) और इला (बुद्धि) दोनों ही के साथ होना वाञ्छनीय है। यह ग्रन्थ सर्व-सम्मति से मंगलाप्रसाद-पुरस्कार द्वारा सम्मानित हुआ था।

प्रसाद जी के काव्य का विषय प्रेम और सौन्दर्य है। इस प्रेम के लिए हम यह नहीं कह सकते कि वह किस समय लौकिक से दैवी रूप धारण कर लेता है। प्रसाद जी के प्रेम के सम्बन्ध में रवीन्द्र बाबू की निम्नाङ्कित पंक्तियाँ चरितार्थ होती हैं।

मोह मोर मुक्ति-रूपे उठिवे ज्वलिया
प्रेम मोर भक्ति-रूपे रहिवे फलिया।

वास्तव में उनका प्रेम भक्ति में परिणत हो जाता है।

प्रसादजी ने सौन्दर्य के भौतिक आकर्षण की अवहेलना नहीं की है। वह एक वैज्ञानिक सत्य है, उसको स्वीकार करते हुए भी वे उसको नीचे की ओर नहीं ले गये हैं। उसका स्वर्गीय आनन्द चित्रण करते हुए उन्होंने उसको ऐन्द्रिकता के भार से ऐसा ग्रसित नहीं किया है कि उसकी प्रातःसमीरण की सी परिमलमय सुखद, स्वच्छन्द सूक्ष्मता और तरलता में बाधा पड़े। उसका प्रभाव जीवन पर मंद और मधुर होता है। वह कभी झंझावात और बवंडर के रूप में नहीं आता। मधुर व्यञ्जना से ही काम लिया जाता है—

विछल रही है चाँदनी, छवि मतवाली रात
कहती कंपित अधर से बहकाने की वात।

शारीरिक सौन्दर्य के प्रसादजी ने वड़े सुन्दर वर्णन किये हैं।

चपला-सी है ग्रीवा हंसी से वढ़ी
रूप-जलधि में लोल लहरियाँ उठ रहीं।

प्रसादजी के प्रेम में विरह की करुणा पर्याप्त मात्रा में मिलती है। उसमें उत्कंठा की तीव्रता के साथ आशावाद का कोमल माधुर्य है।

कभी चहल-क़दमी करने को, काँटों का कुछ ध्यान न कर
अपना पाई वाग वना लोगे प्रिय इस मन को आकर।

और देखिए—क्रोध से, विषाद से, दया से, पूर्व प्रीति से ही किसी भी वहाने से तो याद किया कीजिए।

प्रेम की निश्चयत और दृढ़ता देखिए। प्रेम के आगे कोई वाधाएँ नहीं ठहरतीं—

तुम्हारा शीतल सुख-परिरम्भ
मिलेगा और न मुझे कहीं।
विश्व भर का भी हो व्यवधान
आज वह वाल वरावर नहीं।

प्रसाद ज़ी के काव्य में केवल प्रेम और सौंदर्य का हास-विलास और करुणाक्रंदन ही नहीं है उस में कर्तव्य और शील का भी निर्देश है। प्रसाद जी ममत्व और अहंकार के नाश का उपदेश देकर सुख दुख का मेल कराते हैं—

हो उदासीन दोनों से
सुख दुख से मेल कराएँ।

ममता की हानि उठाकर
हो रूठे हुए मनाएँ।

उन्होंने जीवन के प्रतिवादों को बचाकर मध्यम मार्ग का पक्ष लिया है। प्रेम के पक्षपाती होकर भी उन्होंने विलासिता का विरोध किया है। कामायनी में प्रसाद जी ने दिखलाया है कि अमरों की अबाधित विलासता ही प्रलय का कारण बनी—

प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित
हम सब थे भूले मद में,
भोले थे, हाँ तिरते केवल
सब विलासिता के नद में।

× × ×

सुख केवल सुख का वह संग्रह
केंद्रीभूत हुआ इतना,
छाया पथ में नव तुषार का
सघन मिलन होना जितना।

(कामायनी)

प्रसाद जी जितने सफल कवि हैं उतने ही वे कलाकार हैं। भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार है। उनकी भाषा संस्कृत-गर्भित अवश्य होती है किन्तु उसके कारण काव्य की गति में बाधा नहीं पड़ती। उनका शब्दचयन बड़ा सुन्दर है। उनकी अलङ्कार-योजना में सुखद मौलिकता है। उनकी उपमाओं की नवीनता देखिए—

आज अमरता का जीवित हूँ
मैं वह भीषण जर्जर दम्भ

आह सर्ग के प्रथम अंक का
अधम पात्र-मय सा विष्कंभ!

प्रसाद जी शब्द-चित्र खींचने में भी बड़े दक्ष हैं। एक हृष्टपुष्ट युवक का चित्र देखिए—

अवयव की दृढ़ मांस-पेशियाँ
ऊर्जस्वित था वीर्य अपार,
स्फीत शिराएँ, स्वस्थ रक्त का
होता था जिन में संचार।
चिंता कातर वदन हो रहा
पौरुष जिस में ओत-प्रोत;
उधर उपेक्षामय यौवन का
बहता भीतर मधुमय स्रोत।

मूर्त पदार्थों के ही नहीं वरन चिन्ता जैसे अमूर्त पदार्थों के भी उन्होंने बड़े सुन्दर चित्र अंकित किये हैं। उनके चित्रण में चित्रकार की तूलिका की भी गति कुंठित हो जाती है। देखिए चिंता का कैसा सुन्दर वर्णन है—

हे अभाव की चपल बालिके
री ललाट की खल लेखा,
हरी-भरी सी दौड़-धूप ओ
जल माया की चल रेखा।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि प्रसाद जी की कविता में भाषा और भाव एक दूसरे की श्रीवृद्धि करते हैं और उनके छंद उस में संगीतमय माधुर्य उत्पन्न कर देते हैं। प्रसाद जी का संगीत पर

भी विशेष अधिकार था । उनके नाटकों में आये हुए गीत कोमल भावनाओं की मधुर मूर्तियाँ हैं।

प्रसाद जी केवल कवि ही नहीं हैं वरन् वे सफल नाटककार, कहानीकार और उपन्यासकार भी हैं। इसके अतिरिक्त वे इतिहासज्ञ और दार्शनिक भी हैं । उनके नाटकों ने बौद्ध-कालीन भारत की सभ्यता के चित्रण में विशेषता प्राप्त की है। बंगाली साहित्य में जो स्थान द्विजेन्द्रलाल राय का है वही स्थान हिन्दी साहित्य में प्रसाद जी का है। जिस प्रकार राय महोदय ने मुगल कालीन भारत को अपनाया था उसी प्रकार प्रसाद जी ने बौद्ध कालीन भारत को। प्रसाद जी प्राचीन समय के वातावरण को उपस्थित करने में सिद्ध-हस्त थे। प्रसाद जी के नाटक प्राचीन सभ्यता के चित्र हैं और अन्त-र्द्वन्द्वों के मनो-वैज्ञानिक पाठ हैं । शेक्सपीयर के नाटकों की भाँति उनके नाटकों में भी स्त्री-पात्रों की महत्ता है । वे सच्ची देवियाँ हैं जो अपने प्रेम और त्याग द्वारा मानव-जीवन की विच्छृङ्खलताओं में एक सुखद साम्य उपस्थित कर देती हैं। नाटकों के गीत गद्य की एकतानता (Monotony) को दूर कर वातावरण में स्वर्गीय सौरभ उत्पन्न कर देते हैं। उनके नाटक भारतीय संस्कृति और सभ्यता की विजय-वैजयन्ती फहरा कर पाठकों में देश-प्रेम जाग्रत करते हैं और वे भी कार्नेलिया के साथ स्वर मिला कर गाने लगते हैं—

अरुण यह मधुमय देश हमारा
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ विभा पर नाच रही तरु शिखा मनोहर
छिटका जीवन हरियाली पर मंगल कुंकुम सारा।

प्रसाद जी ने अपने नाटकों द्वारा भारतीय सभ्यता की श्रेष्ठता दिखाई है। उनके पढ़ने से हममें अपने पूर्वजों के प्रति आदर और श्रद्धा के भाव जाग्रत होकर हम में से हीनता-भाव कुछ कम होता है। उनके नाटकों में हमें क्षमा और आत्म-त्याग के अनुपम उदाहरण मिलते हैं जिनके द्वारा हमको मानव-हृदय की विशालता के दर्शन मिलते हैं।

प्रसाद जी के नाटक हिन्दी-साहित्य के अलंकार हैं। उन्होंने नाटकों के अतिरिक्त उपन्यास भी लिखे हैं। यद्यपि उनके उपन्यास दो (कंकाल और तितली) ही हैं तथापि उन्होंने इस क्षेत्र में अपनी योग्यता का पूरा परिचय दिया है। उनके उपन्यासों में यथार्थवाद की मात्रा कुछ अधिक है और भाषा भी पात्रों की भाषा न रह कर प्रसाद जी की ही भाषा रही है तथापि उनमें मानव-जीवन का मनोवैज्ञानिक अध्ययन मिलता है। उनकी कहानियों में यह मनोवैज्ञानिकता और भी बढ़ जाती है। उनमें हम अन्त-र्द्वन्द्व के अच्छे उदाहरण पाते हैं। इस दृष्टि से 'आकाशदीप' और 'पुरस्कार' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

प्रसाद जी की प्रतिभा बहुमुखी थी, इसी कारण वे सफल कवि बन सके। उनकी कवित्वशक्ति ने उनकी कविता को कल्पना और भावुकता प्रदान की। उनकी दार्शनिकता ने उसमें गाम्भीर्य उत्पन्न किया और बौद्धतत्व की प्रतिष्ठा की। उनके इतिहास-प्रेम ने उसमें इतिवृत्तात्मकता और वास्तविकता का पुट दिया और उसके लिए नये-नये विषय उपस्थित किये। उनकी नाटकीय प्रतिभा ने उनकी कविता को सजीवता दी। उनके पाण्डित्य ने उन्हें शब्दों

पर अधिकार दिया और उनके संगीत-प्रेम ने उनकी कविता में गति दी और साहित्य और संगीत का समन्वय कर उसमें सोने में सुगंध उत्पन्न कर दी। कविता के लिए जितने उपकरण चाहिएँ, भाग्यवश वे सब प्रसाद जी में मौजूद थे। उन्होंने उनका पूर्णरूपेण सदुपयोग कर हिन्दी-काव्य की श्रीवृद्धि की। उनके कारण खड़ी बोली की कविता धन्य हुई।

---

३१. हिंदी-साहित्य को मुंशी प्रेमचन्द जी की देन

काव्य जीवन की आलोचना है। हिन्दी साहित्य में उपन्यासों के सम्बन्ध में इस परिभाषा को चरितार्थ करने वालों में मुंशी प्रेमचन्द का नाम सबसे पहले लिया जाता है। मुंशी जी के हिन्दी साहित्य में अवतरित होने से पूर्व जो उपन्यास थे उनके लिए यह तो नहीं कहा जा सकता कि उनका जीवन से कुछ संपर्क न था किन्तु उनमें जीवन का क्षेत्र बड़ा संकुचित था। उनके पात्र जन-साधारण की दृष्टि से परे तिलिस्म और ऐयारी के कौतूहल-पूर्ण लोक में विचरते थे। और भी जो मौलिक उपन्यास कहे जा सकते थे उनमें अधिकतर राजाओं, नवाबों और धन-कुबेरों की विलास-मयी प्रेमलीला का वर्णन रहता था। वे सब उपन्यास मनोरंजन या कौतूहल-तृप्ति के लिए लिखे जाते थे। हिन्दी में कुछ उच्चकोटि के भी उपन्यास थे किन्तु वे अधिकांश में अनुवादित थे। उन पर हिन्दी को क्या गर्व हो सकता था और कब तक वे जनता की तुष्टि करते—'कहु कबीर कब लौं जिएँ जूठी पातर चाट।'

मुंशी प्रेमचन्द जी के उपन्यास-क्षेत्र में प्रवेश करते ही उसमें समुन्नति के चिह्न दिखलाई देने लगे। आचार्य शुक्ल जी के शब्दों में हम कह सकते हैं कि मनुष्य की अन्तःप्रकृति का जो विश्लेषण और वस्तु-विन्यास की जो अकृत्रिमता इनके उपन्यासों में मिली

वह पहले और किसी के उपन्यासों में नहीं पाई गई थी। इनके उपन्यासों के पात्र जीवित और परिचित संसार के पात्र थे। चित्र देखने से हम को प्रसन्नता होती है, किन्तु यदि वह चित्र जान पहचान के किसी मनुष्य का हो तो प्रसन्नता और भी बढ़ जाती है। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में यही बात है। उनके उपन्यास का संसार किसी कल्पनालोक का संसार नहीं है। यह वही संसार है जिसमें हम चलते-फिरते और कार्य करते हैं। मुंशी जी ने हम को दिखलाया कि उपन्यास-साहित्य का विषय कितना विस्तृत है। मानव-जीवन की समस्याएँ एक प्रेमिका से प्रेम करने और मार्ग में आई हुई बाधाओं पर विजय प्राप्त कर लेने पर विवाह-सम्बन्ध द्वारा प्रणय के शुचि-सूत्र को दृढ़ कर लेने अथवा असफल होने पर संन्यास लेने या विष-पान कर लेने तक सीमित नहीं हैं। अपितु जीवन-क्षेत्र सागर की भाँति लंबा चौड़ा और गंभीर है। उस में व्यक्ति और समाज का, किसान और जिमींदार का, मजदूर और पूँजीपति का, शासित और शासक का, अवर्ण और सवर्ण का, नवीन और प्राचीन का संघर्ष है। वह संघर्ष हमारे विचार और संवेदना का विषय है।

मुंशी जी के उपन्यासों में हम को मानव-जीवन की भलाइयों और बुराइयों का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। जिस प्रकार दर्पण में हम अपना मलिन मुख देख उसको उज्ज्वल और परिष्कृत करने का प्रयत्न करते हैं वैसे ही हम अपनी बुराइयों को दूर करने का उद्योग करते हैं। उनके चित्र केवल बाह्य प्रकृति के ही चित्र नहीं हैं वरन वे मानव-हृदय के चित्र हैं। उन चित्रों में हम मनुष्य की अन्तरात्मा

के भी दर्शन पाते हैं जो कभी मलीन दिखलाई पड़ती है किन्तु जरा सी काई के हट जाने पर वह निर्मलता का स्रोत प्रतीत होने लगती है।

मुंशी जी ने जीवन के इस विस्तृत क्षेत्र में दलितों, पीड़ितों और उपेक्षितों का पक्ष लिया है। वे लोग आकर्षण-केन्द्र बने और उनके सहारे उच्च श्रेणी के लोगों का भी वर्णन आ गया है।

राजनीतिक आन्दोलनों की उन पर गहरी छाप थी। वे प्लेट-फार्म पर नहीं आये किन्तु उन्होंने पीड़ितों, विशेष कर ग्रामीणों, की दयनीय दशा का सच्चा चित्रण किया। उन्होंने ग्रामीणों और साधारण लोगों में उच्च मानवता के दर्शन करा कर और उनकी वीरोचित कष्ट-सहिष्णुता का परिचय देकर उनके प्रति हमारी श्रद्धा-भावना को जाग्रत किया; उनके हृदय की मूक-वेदना को मुखरित कर उस शब्द को आकाश-वाणी (Radio) की भाँति झोपड़ियों से महलों तक पहुँचाया और महलों में सोने वालों को झोपड़ियों के स्वप्न दिखलाकर उनकी सहानुभूति को उद्बोधित किया।

प्रेमचन्द जी मानवता के कवि थे। मानवता उनके लिए किसी जाति-विशेष या श्रेणी-विशेष में सीमित न थी। उन्होंने किसी व्यक्ति को हिन्दू होने के कारण अच्छा और मुसलमान होने के कारण बुरा नहीं दिखलाया। कबीर की भाँति दोनों में जहाँ उनकी बुराई देखी उनकी बुराई की और भलाई देखी भलाई की।

मुंशी प्रेमचन्द जी महान कलाकार थे। वे कला को कला के लिए मानने वालों में न थे। उनकी कला लोक-हित और जनता की मंगल-कामना को लिये अवतरित हुई थी। उनके उपन्यासों में

कोई-न-कोई लोक-संग्रहात्मक उद्देश्य रहता था। इसलिए उनके सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि वे कहीं-कहीं उपन्यासकार न रहकर उपदेशक का रूप धारण कर लेते हैं। यह बात कहीं-कहीं तो किसी अंश में सत्य है किन्तु सत्काव्य की भाँति उन के उपन्यासों में भी उपदेश की व्यञ्जना ही रहती है। उनके उपन्यास ऐसे नहीं हैं जो मन को कोरा छोड़ दें। वे विचारोत्तेजक हैं। वे हम को समाज की किसी समस्या की ओर ले जाते हैं। सेवासदन में सामाजिक अत्याचार द्वारा स्त्रियों के पतन तथा वेश्याओं के सुधार की समस्या है। प्रेमाश्रम में घरेलू कलह तथा जिमींदार और काश्तकार के संबन्ध का प्रश्न है। रंगभूमि में राष्ट्रीयता का रूप और अहिंसात्मक आन्दोलन का औपन्यासिक चित्र दिखलाया गया है। कायाकल्प में मरणोत्तर जीवन का प्रश्न है। गबन में स्त्रियों के आभूषण-प्रेम से जो हानि होती है उसका अच्छा चित्रण है। सरकारी गवाह बनाने में पुलिस के हथकंडों का भी अच्छा दिग्दर्शन कराया गया है। कर्मभूमि में घर और बाहर का संघर्ष है जिसमें कार्य-क्षेत्र प्रबल सिद्ध होता है और पिता के भी पुत्र के कार्य-क्षेत्र में सम्मिलित हो जाने से घर और बाहर का समझौता हो जाता है। गोदान में किसानों के कर्ज की समस्या है और ग्रामीण और शहरी जीवन की तुलना की गई है।

इन उपन्यासों की समस्याएँ यद्यपि सामयिक हैं तथापि उन में हम एक शाश्वत पुकार का परिचय पाते हैं जिस के कारण वे कृतियाँ अमर रहेंगी। मानव-समाज की समस्याओं का रूप बदलता रहता है किन्तु मूल में वे एक सी ही रहती हैं। प्रेमचन्द जी

वर्तमान के सहारे मानवता और न्याय के चिरन्तन सत्य की ओर झुके हैं। सब समस्याओं का हल मानवता में है। मुंशी जी ने उसी मानवता की प्रतिष्ठा करनी चाही है।

उनकी कहानियों में भी हम वर्णन के सौन्दर्य के अतिरिक्त मानव-हृदय की विशालता का परिचय पाते हैं। बड़े घर की बेटी, पंच-परमेश्वर, मुक्ति-मार्ग, आत्माराम, इस सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बहुत-सी कहानियाँ जीवन की झाँकी-मात्र हैं। जैसे—शतरंज के खिलाड़ी। उनका वर्णन बड़ा सजीव और चित्रोपम है।

मुंशी प्रेमचन्द जी ने उपन्यासों में केवल जैसा का तैसा वर्णन नहीं किया है, उन्होंने सच्चे कलाकार की चुनाव-शक्ति से काम लिया है। इसी के कारण वे यथार्थवाद और आदर्शवाद का सुन्दर समन्वय कर सके हैं। सच्चा कलाकार वीभत्स में से भी सौन्दर्य की सृष्टि कर सकता है। संसार गुण-दोष, पाप-पुण्य, पतझड़ और वसन्त, करुणा-क्रन्दन और हास-विलास का छायालोकमय मिश्रण है। प्रेमचन्द जी ने संसार के कालिमामय दृश्यों की उपेक्षा नहीं की किन्तु उनका चित्रण इतना गहरा नहीं किया जिससे कि उनके अन्तस्तल में स्थित उज्ज्वल-प्रकाश के कण छिप जायँ। उन्होंने मानव-जीवन के प्रकाशमय कणों को कालिमा में विलीन नहीं किया वरन् उनको ऊपर लाकर थोड़ा चमका दिया है। उन्होंने दुर्बलताओं में भी सत्य और सुन्दर की खोज की है। उनको मानव-हृदय की श्रेष्ठता में अटल विश्वास था किन्तु जहाँ पर अत्याचारियों के अत्याचार का प्रश्न था, वहाँ वे उनके उद्घाटन में

वास्तविकता की वीभत्सता से नहीं घबराये । पुलिस वालों के अत्याचार, घूसखोरी, जिमींदारों की धौंस, बेगार और डाँट-डपट के विरुद्ध वे सदा लिखते आये हैं यही उनका यथार्थवाद समन्वित आदर्शवाद है ।

मुंशी जी केवल यथार्थ का ही नहीं वर्णन करते किन्तु शक्य और सम्भव के घेरे में वे थोड़े बहुत सामाजिक प्रयोग कर उनका शुभाशुभ फल दिखला देते हैं, और सुधारक के कार्य-क्रम की ओर संकेत कर देते हैं। प्रेमाश्रम के मायाशंकर जी अपने किसानों को ही ज़मीन का मालिक बना देते हैं "मैं अपनी प्रजा को अपने अधिकारों के बन्धन से मुक्त करता हूँ, वह न मेरे आसामी हैं न मैं उनका ताल्लुकेदार हूँ । वह सब सज्जन मेरे मित्र हैं, मेरे भाई हैं, आज वे अपनी जोत के स्वयं ज़िमींदार हैं।" सेवासदन में भी एक प्रकार का सामाजिक प्रयोग है। इसमें वे आदर्शवाद की ओर कुछ ज्यादा झुके हुए मालूम होते हैं । प्रेमाश्रम में अछूतोद्धार और मंदिर-प्रवेश की समस्या को भी लाये हैं । प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में उनकी लगन और हृदय की सचाई का पूरा परिचय मिलता है। इसीलिए वे हमारे हृदय के अधिक निकट आते हैं।

मुंशी जी के उपन्यास बड़े सुन्दर मनोवैज्ञानिक अध्ययन हैं। उनको मानव-हृदय के अन्तस्तल की दुर्बलताओं का पता था और वे ऊँचे और नीचे उद्देश्यों को भली-भाँति समझते थे । हृदय के कपाट, खोलकर उसकी झाँकी करा देने में वे बड़े कुशल थे, मानसिक शिथिलता और दृढ़ता के अवसरों को वे पहचानते थे। गोदान और गबन में ऐसे मानसिक शैथिल्य के अच्छे उदाहरण मिलते हैं।

मुंशी प्रेमचन्द जी जिस प्रकार अपनी सूक्ष्म दृष्टि और हृदय की सचाई के कारण सफल उपन्यासकार बने वैसे ही उनका भाषाधिकार उनकी सफलता में सहायक हुआ। उनकी भाषा का सबसे बड़ा गुण उसकी अकृत्रिमता है, वह आडम्बर-शून्य है किन्तु गौरव से भरी है। जिस प्रकार उनके भावों में हिन्दू-मुसलिम ऐक्य की शुभाकांक्षा रहती है वैसे ही उनकी भाषा में हिन्दी उर्दू का सुखद सम्मिश्रण है। उर्दू की मुहावरेदानी का उन्होंने पूरा-पूरा लाभ उठाया और वे हिन्दी में भी उर्दू का सा लोच और चलतापन उत्पन्न कर उसकी शुद्धता स्थित रखने में सफल हुए हैं। जिस हिन्दुस्तानी के लिए लोग गरमागरम प्रस्ताव करते हैं उसका उन्होंने क्रियात्मक प्रयोग करके दिखला दिया। सिवाय जहाँ पर कि मुसलमान पात्रों से कुछ कहलाया है उनकी हिंदी ने उर्दू का रूप नहीं लिया। मुंशी प्रेमचन्द जी ने मुहावरों के बड़े सफल प्रयोग किये हैं। उन्होंने शहर के मुहावरों का ही प्रयोग नहीं किया है वरन् गाँव के मुहावरों को भी सहित्यिक प्रतिष्ठा दी है। 'घर में घी आँख आँजने तक को नहीं है', 'उसका रोआँ रोआँ प्रसन्न हो गया' इत्यादि में भावों की कितनी सुन्दर एवं शक्ति-पूर्ण अभिव्यञ्जना है।

प्रेमचन्द जी की भाषा की यह विशेषता है कि वह पात्रानुकूल बदलती गई है। इसीलिए वे अपने उपन्यासों में नाटकीय ढंग लाने में बड़े सफल हुए हैं। उनके कथोपकथन बड़े ही सजीव हैं। उनके पात्रों की भाषा उनकी भाषा से भी कुछ अधिक चलती हुई है। यद्यपि कहीं-कहीं जहाँ उन्होंने मुसलमानों से और विशेषकर

पुलिस अफसरों से वार्तालाप कराया है वहाँ उनकी भाषा अधिक उर्दूमय बन गई है यहाँ तक कि वह केवल हिंदी जानने वालों के लिए दुरूह भी हो गई है । इस सम्बन्ध में कुछ लोगों का आक्षेप है कि यदि कोई चीनी पात्र हो तो क्या वे चीनी भाषा में वार्तालाप करायें। यह बात को बढ़ा कर कहना है। हिंदी और उर्दू में इतना अन्तर नहीं है जितना कि हिंदी और चीनी में । उर्दू हिंदी की ही विभाषा है। चीनी तो आर्य भाषा भी नहीं है।

मुंशी प्रेमचन्द जी बड़ी गूढ़ से गूढ़ बात को सरल भाषा में कह सकते थे । उनमें आडंबर और पांडित्य-प्रदर्शन का अभाव था, देखिए निष्काम कर्म का कैसे सरल और सुन्दर शब्दों में उपदेश देते हैं—

"भैया कोई काम सवाब समझ कर नहीं करना चाहिए । दिल को ऐसा बनालो कि काम में वही मज़ा आवे जो गाने या खेलने में। कोई काम इसलिए करना कि उससे नजात मिलेगी रोजगार है ।"

गाँवों की हीन और संपन्न अवस्थाओं के भी उन्होंने बड़े सुन्दर चित्र खींचे हैं। ऐसे चित्र प्रेमाश्रम और गोदान में प्रचुरता से मिलते हैं। गाँवों का प्रकृति-वर्णन भी बड़ा ही सुन्दर किया है।

"फागुन, अपनी झोली में नवजीवन की विभूति लेकर आ पहुँचा। आम के पेड़ दोनों हाथों से बौर की सुगंध बाँट रहे थे और कोयल आम की डालियों में छिपी हुई संगीत का गुप्तदान कर रही थी।"

मुंशी जी ने कहीं कहीं भाषा को ऐसा समस्त और सुगठित बनाया है कि उनके कथन सूक्तियाँ बन गई हैं। उनकी उपमाएँ

बड़ी नवीन और फबती हुई होती थीं और उनकी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय देती थीं, 'अब इस घर से गोदावरी का स्नेह उस पुरानी रस्सी की तरह था जो बार-बार गाँठ देने पर भी कहीं न कहीं से टूट जाती है।' उनकी भाषा में मधुर हास्य और व्यंग्य के भी अच्छे छींटे रहते थे। सारांश यह है कि उपन्यास की भाषा के लिए जो गुण चाहिएँ वे उनकी भाषा में थे। इसके साथ उनमें सच्चे कलाकार का सहृदयतापूर्ण दृष्टिकोण था। इसी कारण वे जनता के गले का हार बन गये हैं। मुंशी जी हिंदी-साहित्य की अमर विभूतियों में से हैं। उन पर हिंदी भाषा-भाषियों को गर्व है।

---

३२. उपन्यासों के अध्ययन से हानि-लाभ

मनुष्य स्वभाव से ही कथा-कहानियों में रुचि रखता है। बाल्य-काल में हम राजा और रानियों की कथाएँ कितने चाव से सुनते थे! उस समय हमारा मन कल्पना-लोक के निवासियों में ही रहता था। उन दिनों हमारे लिए कल्पना और वास्तविकता में कुछ अंतर न था। हमारे समाज का वृत्त भी खूब विस्तृत था। स्वर्गलोक की परियों से लेकर स्यार और लोमड़ी तक सब उसमें शामिल थे। वे भी हमारी तरह बोलते थे। उस समय हमारी कल्पना के पर तर्क की कैंची से कटे न थे। वह खूब उड़ान लेती थी। हमारे लिए यह ध्रुव सत्य था कि एक राजा था (उसके नाम धाम और समय से कुछ प्रयोजन नहीं), उसके सात लड़कियाँ थी, इत्यादि।

हमारी यही रुचि और प्रवृत्ति आजकल के कथा-साहित्य की जननी है। अन्तर केवल इतना है कि आजकल बंदर-बँदरिया, लोमड़ी, ऊँट और शृगाल से हट कर हमारी रुचि मनुष्य समाज में केन्द्रस्थ हो गई है और उसको पूरा विस्तार दे दिया गया है। राजा रानी की अपेक्षा 'होरी' किसान में मानवता के दर्शन कुछ अधिक मात्रा में होने लगे हैं। समाज की सभी श्रेणियों के लोग हमारे कथा-साहित्य के नायक और नायिकाएँ बनने का अबाधित अधिकार रखते हैं। इसके अतिरिक्त हम अपनी कथाओं को वास्तविकता का रूप देने के लिए अधिक प्रयत्नशील रहते हैं। कभी-कभी उसे इतना वास्तविक रूप दे देते हैं कि शहर, गाँव या व्यक्ति-विशेष का नाम ही केवल कल्पित होता है। इस तरह मानव-जीवन का पूरा चित्र हम अपने कथा-साहित्य में देखते हैं।

यद्यपि प्राचीन समय में उपन्यास एक प्रकार के गद्य का नाम था तथापि आजकल हम इस शब्द का अँगरेज़ी के 'नॉवेल' (Novel) शब्द के पर्याय रूप से व्यवहार करते हैं। इसमें प्रायः एक व्यक्ति को केन्द्रस्थ कर उससे सम्बन्ध रखने वाले मानव-समाज का चित्रण रहता है। यह चित्रण स्थायी नहीं होता, वरन् प्रगति-शील होता है। इसमें विकास, पतन-आवर्तन, परिवर्तन, अन्तर्द्वन्द्व, रुदन, पीड़ा, करुणा-क्रन्दन, हास-विलास, अश्रु और उच्छ्वास, प्रति-द्वन्द्विता, सफलता, असफलता सभी बातें रहती हैं। नाटक की भाँति यह भी समाज का चित्र है; अन्तर केवल इतना ही है कि नाटक में लेखक का व्यक्तित्व अन्तर्निहित रहता है, इसमें नहीं। लोगों ने इस को जेबी थियेटर कहा है। यह तो स्पष्ट ही है कि उपन्यास मनुष्य

की रुचि की वस्तु है। इसका अस्तित्व मनुष्य की अनुकरणात्मक स्वभाविक प्रवृत्ति में है। इससे मनुष्य का मनोरंजन होता है। समय भारी नहीं मालूम होता और बेकारी नहीं अखरती।

काल-यापन और मनोरंजन बहुत साधारण लाभ हैं। इनके अतिरिक्त जो बड़ा लाभ है वह हमारी सहानुभूति के विस्तृत होजाने का है। वास्तविक जीवन में सब प्रकार के लोगों के साथ हमारा संपर्क नहीं होने पाता। गाँव के लोग शहर के जीवन से अपरिचित रहते हैं और शहर वाले गाँव के लोगों से। विद्युतालोक से जगमगाती हुई सब प्रकार की सुख-सामग्री से सुसज्जित गगन-चुंबी अट्टालिकाओं के निवासी धन-कुबेरों का निबिड़ अन्धकारमय फूस की झोंपड़ी के निवासी एक गठ्ठे प्याल और काठ की कठौती में सीमित संपत्तिवाले एकाहारी निरीह भिखारी के जीवन से क्या सम्बन्ध ? यदि सम्बन्ध भी होता है तो वह बहुत ऊपरी। बुभुक्षा रूपी दानव के साथ वह उसके बीवी बच्चों के दैनिक संघर्ष का हाल नहीं जानता। उपन्यासकार कवि की भाँति, जहाँ रवि की भी गति नहीं होती वहाँ पहुँच कर, अन्धकार-पूर्ण गुफाओं का हाल लिख देता है। वह भौतिक गुफाओं में ही प्रवेश नहीं करता वरन् हृदय-मन्दिर की गंभीर गुफाओं में भी प्रवेश कर हमको विभिन्न परिस्थितिओं के लोगों के मनोविज्ञान से परिचित करा देता है। हमारा मन थोड़ी देर के लिए उनके मन के साथ एकस्वर हो जाता है। हम कथा के तटस्थ दर्शक ही नहीं रहते वरन् किसी एक पात्र के साथ अपना तादात्म्य कर कथा के प्रवाह में बहने लगते हैं। हमारी दया और सहानुभूति की कोमल भावनाएँ जाग्रत और जीवित हो जाती हैं। हममें मानवता का संचार

होने लगता है। यदि उपन्यास का पात्र हम को वास्तविक-जीवन में मिलता है तो उस को हम अपने चिर-परिचित मित्र की भाँति पहचान लेते हैं और उसकी कठिनाइयों को समझ कर उसके साथ सहृदयता का व्यवहार करने लग जाते हैं। जो लोग मुंशी प्रेमचन्द के उपन्यास पढ़ चुके हैं वे किसान के साथ सहृदयता का व्यवहार अवश्य करेंगे। वे एक सहृदय ग्रामीण की भाँति उसकी कठिनाइयों से परिचित हो जाते हैं। गरीब आदमियों की करुण पुकार सुनाने में मुंशी प्रेमचन्द जैसे उपन्यासकारों ने राजनीतिज्ञों के सभा-मंचीय व्याख्यानों से अधिक उपकार किया है।

उपन्यासकार यद्यपि धर्मोपदेशक नहीं होता, तथापि उसका प्रभाव लोगों की नीति और आचार-पद्धति पर पड़े बिना नहीं रहता। उसका उपदेश जीवन की घटनाओं से प्रमाणित और पुष्ट हो कर कोरे सिद्धान्तवाद और शास्त्रीय-विवेचन से अधिक प्रभावशाली होता है। उपन्यासों में धूर्तों और पाखंडियों के विडंबना-पूर्ण व्यवहारों का उद्घाटन पढ़कर हम को ऐसे व्यवहारों के प्रति घृणा हो जाती है। हम स्वयं उनसे बचने का प्रयत्न करते हैं। पुलिस के तथा ज़मींदार आदि अन्य सत्ता-धारियों के अत्याचार का वर्णन पढ़कर हमको ऐसे व्यवहार से दूर रहने की प्रेरणा होती है।

उपन्यासों के अध्ययन से जो देश-विदेश का ज्ञान होता है उस से हमारी व्यवहार-कुशलता बढ़ती है। हम दूसरे लोगों की सफलताओं और असफलताओं से लाभ उठा सकते हैं। कभी-कभी हम उपन्यासों में कुछ सामाजिक समस्याओं के हल करने की सामग्री भी पाते हैं। समाज में हम एक दम नई परिस्थिति को उपस्थित कर

इसका लाभालाभ नहीं देख सकते, किंतु उपन्यासकार सदा किसी न किसी रूप में सामाजिक प्रयोग करता रहता है। जैसे प्रेमचंद जी के सेवासदन में वेश्याओं के सुधार की, रवीन्द्र बाबू के गौरमोहन में संस्कार की अपेक्षा जाति की प्रबलता की, तथा रूसी उपन्यास अन्नाकार्नीना में दांपत्य और वात्सल्य प्रेम की समस्याओं पर नई परिस्थितियाँ उपस्थित कर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार उपन्यासकार समाज का पथ-प्रदर्शक भी बन जाता है। हम उसके पथ-पदर्शन से लाभ उठा सकते हैं।

उपन्यास समाज की कुप्रथाओं को दूर करने में बहुत कुछ सहायक हुए हैं। 'टाम काका की कुटिया' का गुलामी प्रथा के दूर करने में बहुत कुछ हाथ था। बंगाल के उपन्यासों में दहेज की प्रथा के विरुद्ध बहुत आन्दोलन रहा है। आज कल के हिंदी उपन्यासों और कहानियों ने अछूतोद्धार में भी थोड़ा-बहुत हाथ बँटाया है। आज-कल के बहुत से उपन्यासों में नारी-स्वतंत्रता की समस्या चल रही है। उपन्यासों द्वारा प्रभावशाली आन्दोलन हो सकता है और हुआ भी है। उनसे जनता की रुचि बहुत कुछ परिमार्जित हुई है।

उपन्यास यथार्थवादी (Realist) तथा आदर्शवादी (Idea-list) दोनों प्रकार के होते हैं। यथार्थवादी उपन्यासों के विरुद्ध यह कहा जाता है कि वे समाज की कमज़ोरियों का नग्न चित्र खींचते हैं; जैसे कि जयशंकर 'प्रसाद' के कंकाल में है। उससे पाठक के मन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। मानव जाति के प्रति घृणा होने लगती है। कभी-कभी पाठक स्वयं भी वासनाओं की लहर में

आन्दोलित होने लगता है। हत्या और मृत्यु के उपन्यास पढ़ कर बदला लेने की प्रवृत्ति तथा घृणा का भाव बढ़ता है। जहाँ अच्छे उपन्यासों से सहानुभूति बढ़ती है वहाँ बुरे उपन्यासों से कठोर वृत्तियों का पोषण होता है।

इस दोष के परिहार-स्वरूप कई विद्वानों ने यह कहा है कि मनुष्य में हिंसा और घृणा की प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक हैं। ऐसे उपन्यासों के पढ़ने से बिना वास्तविक हत्या हुए हिंसा-वृत्ति-संबंधी हृदय का उबाल निकल जाता है। वास्तविक हत्या से काल्पनिक हत्या निरापद है। यह बात कुछ अंशों में ठीक भी है, किंतु ऐसे उपन्यासों को सावधानी के साथ पढ़ना चाहिए। हमको उनके बहाव में पड़ कर अपने अस्तित्व को भूल जाने की अपेक्षा अपनी विवेक-बुद्धि से काम लेना अधिक श्रेयस्कर होगा। कहीं-कहीं वासनाओं के दुष्परिणाम दिखलाने के बहाने वासनाओं का उच्छृंखल वर्णन होने लगता है। लेखक-गण मनुष्यों की कुरुचि से लाभ उठाना चाहते हैं। ऐसे उपन्यासों का प्रचार अवश्य हानि-कारक होता है।

यद्यपि कोई भी वासनाओं के जाल से मुक्त नहीं है, तथापि किताबों की बिक्री के हेतु उन बातों का आकर्षक रूप से वर्णन करना नीति के विरुद्ध है। आजकल के युग में शरद् बाबू, जैनेन्द्र कुमार (सुनीता में) तथा भगवतीचरण वर्मा (चित्रलेखा में) प्रभृति लेखक समाज के माने हुए पातिव्रत-सम्बन्धी आदर्शों को ढीला करना नीति-विरुद्ध नहीं समझते, वरन् वे नीति और पाप-पुण्य की दूसरे ही रूप से व्याख्या करते हैं। यद्यपि इसमें इतना सत्य

अवश्य है कि समाज के वर्तमान आदर्शों के कारण अबलाओं पर अधिक अत्याचार हुआ है, तथापि इस प्रवृत्ति को इतना न बढ़ाना चाहिए कि आपद्-धर्म कर्तव्य बन जाय। इस प्रवृत्ति से सामाजिक संघठन को बहुत हानि पहुँचेगी।

उपन्यासों के अध्ययन से जहाँ समय कटता है और मनोरंजन होता है वहाँ ठोस अध्ययन की ओर रुचि कम होती जाती है। लोग आसान की ओर ही अधिक झुकते हैं। हमारे अध्ययन में गंभीर और साधारण का एक सुखद संतुलन रहना चाहिए। मनो-रंजन यदि हमारे मन को गंभीर अध्ययन के लिए तैयार करे तब तो उसकी सार्थकता है और यदि वह हमारे गंभीर अध्ययन का स्थान लेकर उसका बहिष्कार कर दे तो वह अवश्य हानिकारक होगा। हमारे अध्ययन में उपन्यासों का स्थान अवश्य होना चाहिए, किंतु उसको ऐसा विस्तार न देना चहिए कि और किसी बात के लिए स्थान ही न रहे। यदि ऐसा होगा तो हमारा मानसिक विकास संकुचित हो जायगा।

---

२३. हिन्दी का कहानी साहित्य

"'माँ, कह एक कहानी'।
'बेटा, समझ लिया क्या तूने
मुझको अपनी नानी?'
'कहती है मुझसे यह चेटी,
तू मेरी नानी की बेटी!
कह माँ, कह, लेटी ही लेटी,
राजा था या रानी?
राजा था या रानी?
माँ, कह एक कहानी'।"

कहानी सुनने की प्रवृत्ति मानव समाज में प्राचीनकाल से चली आई है। बालकों की रुचि जाति की रुचि की परिचायक होती है। कहानी में हमारे कौतूहल की ही तृप्ति नहीं होती वरन् उस कौतूहल के पीछे हमारी व्यापक सहानुभूति की एक अव्यक्त रेखा भी दिखाई पड़ती है। राजा-रानी, साहूकार और वजीर के बेटे-बेटियों की कहानियाँ हम छुटपन से सुनते आये हैं। वर्तमान साहित्यिक कहानियाँ भी प्राचीन नानी की कहानियों की पुत्रियाँ या धेवतियाँ हैं किन्तु दोनों में ऐसा ही भेद है जैसा कि बूढ़ी पोपले

मुँह वाली नानी और उसकी स्कूल कालेज में पढ़ने वाली ऊँची हील के जूतों से उन्नत, नई वेश-भूषा से सुसज्जित बालिका या युवती में। नयी साहित्यिक कहानियाँ मानव-केन्द्रित होती हैं, उन में देवता-दानवों और पशु-पत्तियों के लिए स्थान नहीं। यदि पशु-पत्ती आते भी हैं तो वे आदमियों की सी बोली नहीं बोलते और मनुष्य भी उनकी बोली को नहीं समझ पाते, मूक इंगितों से चाहे कुछ अनुमान लगा लें। आजकल की कहानियों का क्षेत्र राजा-रानियों के वृत्त-वर्णन में सीमित नहीं रहता। इसके अतिरिक्त उनमें दैवी सहायता के लिए भी अधिक स्थान नहीं रहता और न अत्य-धिक आकस्मिकता को। कोई आदमी सोते से उठकर राजा नहीं बन जाता। आजकल का कहानीकार एक राजा और एक रानी से सन्तुष्ट नहीं होना चाहता। वह उसका नाम ग्राम ही नहीं देता वरन् उसका स्वभाव बतलाकर उसका व्यक्तित्व प्रकाश में लाना चाहता है। आजकल के कथा-साहित्य में व्यक्तित्व का महत्त्व है। इन सबके अतिरिक्त वह केवल कौतूहल की तृप्ति न करके मानव-जीवन के भीतरी स्तरों की भी झाँकी दिखाता है और आन्तरिक भावों की बाह्य कृतियों से अन्विति भी करता है। आजकल का कहानीकार औत्सुक के साथ भावुकता और बुद्धि दोनों की तृप्ति कर काव्य के अधिक निकट आ जाता है।

काव्य मानव-जीवन की आलोचना है। इस परिभाषा की पूर्ति हमारा कथा-साहित्य पूर्णतया करता है। कथासाहित्य में उपन्यास और आख्यायिका दोनों ही आते हैं। इन दोनों में भेद है। उपन्यास में जीवन की अनेकरूपता मिलती है। उसमें हमको जीवन की

सरिता नाना शाखा-प्रशाखाओं में वह कर एक परिणाम की ओर जाती हुई दिखाई पड़ती है किन्तु कहानी में हमको जीवन की एक झलक ही दिखाई पड़ती है। वह झलक ऐसी होती है कि वह जीवन का अंग होकर भी उससे स्वतन्त्र एवं स्वतः पूर्ण रहती है। वह जीवन के प्रवाह में मिली हुई होकर भी छिपकली की पूँछ की भाँति प्रवाह से अलग की जा सकती है। उपन्यास में भी एक-लक्ष्यता रहती है किन्तु कहानी की एकलक्ष्यता बिलकुल सीधी और स्पष्ट होती है। अर्जुन के लक्ष्य की भाँति कहानीकार भी अपनी दृष्टि को केन्द्र से बाहर नहीं जाने देता; वह चिड़िया को नहीं चिड़िया के सिर को ही देखता है। कहानीकार सीधी राह से ही पाठक को लक्ष्य के पास ले जाता है किन्तु वह लक्ष्य ऐसा नहीं होता जो एक साथ दिखाई पड़ जाय। इसलिए सड़क में एक या दो मोड़ आजायँ तो अच्छा है किन्तु उसमें शाखाएँ न फूटनी चाहिएँ। कहानी के शीर्षक में उसकी झलक तो मिल जाती है लेकिन वह प्रायः अन्त में ही एक काव्यात्मक ढंग से पूर्णतया व्यक्त होती है। यह अन्तिम बात ही कहानी का तथ्य कहलाती है। इसके अतिरिक्त कहानी में घटना और भावों का सन्तुलन रहना चाहिए और साथ ही साथ उसमें कथोपकथन की सजीवता होना आवश्यक है। कहानियाँ सब सच्ची तो नहीं हो सकती है किन्तु उनको स्वाभाविक होना आवश्यक है। उनको स्वाभाविक होकर भी चमत्कार-पूर्ण होना वाञ्छनीय है। जो कहानीकार स्वाभाविकता और चमत्कार-प्रदर्शन को ठीक अनुपात में रख सकता है वही सफल होता है।

प्राचीन संस्कृत और प्राकृत साहित्य में कहानियों का बाहुल्य रहा है और कथासरित्सागर, हितोपदेश, पंचतंत्र, सिंहासनबत्तीसी आदि की कहानियों का कई भाषाओं में अनुवाद भी हुआ है। इनमें घटना-प्रधान और भाव-प्रधान दोनों ही प्रकार की कहानियाँ मिलती हैं। आजकल हिन्दी में जो छोटी कहानियाँ लिखी जाती हैं वे प्रायः बँगला द्वारा अंगरेजी साहित्य की देन हैं। मासिक पत्रिकाओं के कारण ऐसी कहानियों की आवश्यकता प्रतीत हुई। कहानी ही साहित्य का एक ऐसा अंग है जो साधारण पाठक के लिए रुचिकर हो सकता है। आजकल भी जिस पत्रिका में कहानी नहीं होती साधारण पाठक उसको उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। प्रयाग से निकलने वाली सरस्वती द्वारा ऐसी कहानियों का प्रचार बढ़ा। यद्यपि यह कहना तो कठिन है कि हिन्दी की पहली कहानी कब और किसने लिखी तथापि यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि इनको प्रचार देने में सरस्वती का बहुत बड़ा हाथ है। हिन्दी में कहानियों का लिखा जाना संवत् १९५७ से प्रारम्भ हुआ। हिन्दी कहानी के प्रारम्भिक लेखकों में श्री किशोरीलाल गोस्वामी, गिरिजा कुमार घोष (पार्वती नन्दन), 'बंग महिला', पंडित रामचन्द्र शुक्ल, मास्टर भगवान दास आदि हैं। इन लोगों की लिखी हुई कहानियों में कुछ तो मौलिक हैं और कुछ बँगला से अनुवादित। इसके पश्चात् स्वनामधन्य जयशंकर प्रसाद जी ने इस क्षेत्र में अवतरित होकर छोटी कहानियों में एक प्रकार से प्राण-प्रतिष्ठा कर दी। उनकी आकाश दीप, पुरस्कार, प्रतिध्वनि, चित्र-मंदिर आदि कहानियों ने एक नया युग उपस्थित कर दिया।

उनकी कहानियों में स्वर्णिल आभा से विभूषित प्राचीनता के वातावरण को उपस्थित करने के अतिरिक्त अच्छे मनोवैज्ञानिक चित्रण आये हैं। उनमें हमको बड़े सुन्दर अन्तर्द्वन्द्व भी दिखाई देते हैं। पुरस्कार नाम की कहानी में राजभक्ति और वैयक्तिक प्रेम का संघर्ष है। आत्म-बलिदान द्वारा मधूलिका इस द्वन्द्व का शमन कर देती है। इसके पश्चात् विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक कहानी के क्षेत्र में आये। इनकी कहानियाँ अधिकतर सामाजिक हैं। इनकी बहुत सी कहानियों में शहरी जीवन के अच्छे चित्र आये हैं। इनकी कहानियाँ वार्तालाप-प्रधान हैं। सुदर्शन जी का नाम भी कौशिक जी के साथ लिया जाता है। इनकी कहानियों के कुछ कथानक राजनीतिक आन्दोलनों से भी लिये गये हैं। इनकी न्याय-मंत्री नाम की कहानी ऐतिहासिक है। इसने बहुत लोक-प्रियता प्राप्त की है। सुदर्शन जी शहरी मध्यवर्ग के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। वास्तव में सुदर्शन जी कौशिक जी और प्रेमचन्द जी के साथ हिन्दी कहानी लेखकों की वृहत्-त्रयी में रक्खे जा सकते हैं। मुंशी प्रेमचन्द जी ने हिन्दी कहानियों में जान डाल दी है। उन्होंने अपनी कहानियों द्वारा साधारण मनुष्यों में भी उच्च मानवता के दर्शन कराये हैं। पंच परमेश्वर में पद का उत्तरदायित्व दिखलाया है। बड़े घर की बेटी बुरे अर्थ में भी बड़े घर की बेटी है और भले अर्थ में भी अपने नाम को सार्थक करती है। अपने पितृगृह का अभिमान उस में कूट-कूट कर भरा है। वह अपने ससुराल वालों को कुछ नहीं समझती। जो देवर और पति के बीच में लड़ाई का कारण बनती है वही

उनमें मेल करा कर अपने हृदय की मानवता का परिचय देती है। शतरंज के खिलाड़ी आदि कहानियाँ जीवन के अच्छे चित्र हैं। ईदगाह में गरीब मुस्लिम जीवन की झाँकी मिलती है। मुंशी जी की कहानियाँ अधिकांश में घटना-प्रधान हैं किन्तु उनमें भावुकता का भी पुट पर्याप्त मात्रा में मिलता है।

श्री चण्डीप्रसाद हृदयेश ने जो कहानियाँ लिखी हैं वे कहानी की अपेक्षा गद्य काव्य का नाम अधिक सार्थक करती हैं। उनकी कहानियों में भाषा का चमत्कार अधिक है।

प्रेमचन्द जी के बाद कहानी साहित्य में जैनेन्द्र जी का नाम आदर से लिया जाता है। आपकी कहानियों में युग की नयी भावनाओं के दर्शन मिलते हैं। आपकी खेल नाम की कहानी को पढ़कर कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने कहा था कि हिन्दी में रवि बाबू और शरद् बाबू हमको मिल गये और एक साथ मिले। जैनेन्द्र जी की कहानियों में कथानक का इतना महत्त्व नहीं जितना कि मनोवैज्ञानिक चित्रण का।

चन्द्रगुप्त जी विद्यालंकार ने भी बड़ी सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं। आपकी ताँगेवाला, क. ख. ग., चौबीस घंटे आदि कहानियों ने अधिक प्रसिद्धि पाई है। एक सप्ताह नाम की कहानी पत्रों में लिखी गई है।

अज्ञेय जी अब वात्स्यायन के नाम से ज्ञेय हो गये हैं। आपने कहानी कला में विशेष निपुणता प्राप्त की है। आपकी कहानियों में विप्लव और विस्फोट की सी भावना रहती है। आपकी अमर वल्लरी नाम की कहानी में एक विशेष काव्य-भावना

को लेकर पीपल वृक्ष का जीवन वृत्त आया है। यह एक प्रकार का शब्द चित्र है।

श्री अन्नपूर्णानन्द और श्री जी० पी० श्रीवास्तव ने विनोद-पूर्ण कहानियाँ लिखी हैं। श्री चतुरसेन शास्त्री ने कुछ ऐतिहासिक कहानियाँ अच्छी लिखी हैं। उनका भाषा-प्रवाह प्रशंसनीय है। वर्तमान कहानी-लेखकों में विनोदशङ्कर व्यास और बेचन शर्मा उग्र का भी नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पंत जी की पाँच कहानियों में पान वाले आदि के शब्द चित्र देखने को मिलते हैं।

हिन्दी की स्त्री लेखिकाओं में शिवरानी देवी, सुभद्रा कुमारी चौहान, कमला चौधरानी, उषा देवी मित्रा और होमवती ने विशेष ख्याति पाई है। श्रीमती होमवती देवी की कहानियों का संग्रह निसर्ग नाम से छपा है।

हमारे समाज में नयी सभ्यता के जो नये भाव आये हैं उनकी-छाप हमारे कहानी-साहित्य पर पड़ती जा रही है। हमारे कहानी-साहित्य का वर्णन क्षेत्र बहुत व्यापक होता जा रहा है। उसमें बैल-बकरों को भी मनुष्य के साथ-साथ रागात्मक सम्बन्ध में रक्खा जाता है। इसी के साथ-साथ भाव-विश्लेषण और मनोवैज्ञानिकता बढ़ती जा रही है। उसमें सभी प्रकार की कहानियों के दर्शन मिलते हैं। इस उन्नति को देखकर यह आशा की सकती है कि वह शीघ्र ही विश्व-साहित्य के उत्तम कहानी-साहित्य से टक्कर ले सकेगा।

---

३४. सामाजिक उन्नति में दृश्य काव्य तथा सिनेमा का स्थान

'लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति'

—नाट्यशास्त्र

काव्य के दो विभाग किये गये हैं—एक श्रव्य, दूसरा दृश्य। श्रव्य काव्य की अपेक्षा दृश्य काव्य की कुछ विशेषताएँ हैं। श्रव्य काव्य में शब्दों के माध्यम द्वारा समाज का चित्र उपस्थित किया जाता है। उसमें शब्द ही कल्पना को जाग्रत कर हमारे मानस-पटल पर चित्र अंकित करते हैं। ये चित्र कभी धुँधले और कभी स्पष्ट और कभी-कभी अतिरंजित भी हो जाते हैं। इन चित्रों की स्पष्टता तथा अस्पष्टता पाठक वा श्रोता के संस्कारों तथा सहानुभूति पर निर्भर रहती है। पाठक के थके हुए या व्यस्त होने के कारण कभी-कभी कल्पना के कुंठित हो जाने का भय रहता है। ऐसी अवस्था में श्रव्य काव्य अपने को आकर्षक नहीं बना सकता।

दृश्य काव्य में उपर्युक्त कठिनाइयाँ न्यूनातिन्यून रूप में रह जाती हैं। नाटक में तथा आजकल के उसके प्रतिनिधि सिनेमा में वास्तविकता का सजीव चित्र हमारे सामने आता है। हमारे सामने केवल शब्द ही नहीं आते वरन् उनके साथ उनके बोलने वालों की भावभंगी की टीका भी रहती है। नाटक में जीवन की प्रति-लिपि उतार ली जाती है। उस में सिनेमा की अपेक्षा भी अधिक वास्तविकता रहती है। क्योंकि भाव-व्यंजना के माध्यम केवल शब्द और चित्र न रहकर जीते-जागते मनुष्य होजाते हैं और कल्पना को अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता। हमारे मन का आकर्षण जितना वास्तविक घटना से होता है उतना ही नाटक या सिनेमा से। श्रव्य काव्य के लिए मन को एक साम्यावस्था में लाना पड़ता है। दृश्य काव्य उसे स्वयं इस अवस्था को प्राप्त करा देता है। इसी कारण भरत मुनि ने नाटक-रूपी पाँचवें वेद का निर्माण किया जिसमें कि शूद्रों तथा अशिक्षितों को भी अधिकार रहे। उनकी कल्पना को परिश्रम न करना पड़े तथा मनोरंजन के साथ शिक्षा भी हो जाय। मर्त्यलोक के दुःख ही को देखकर नाट्य-वेद की कल्पना की गई थी।

नाटक का प्रभाव हृदय पर स्थायी होता है। यदि हम किसी बच्चे के मोटर से दबकर मरने का वृत्तान्त पढ़ें तो हमारी सहानुभूति अवश्य जाग्रत होगी; किन्तु यदि इसी को हम रंगमंच पर घटित होते देखें तो उसका प्रभाव देर तक रहेगा। हम सत्य के लिए शहीदों के बलिदान की कथा पढ़ते हैं, किन्तु यदि हम प्रह्लाद को पहाड़ से गिरते हुए देखें, ईसा को सूली पर लटका देखें,

हकीकतराय का वध होते अवलोकन करें तो हम पर कुछ और ही प्रभाव पड़ेगा। नरोत्तमदास का सुदामा-चरित्र बड़ी सुन्दर कविता है; किन्तु यदि हमारे सामने विप्र सुदामा अपने फटे हाल में उपस्थित होजायँ और हम उस समय की राजनीति के सूत्रधार भगवान कृष्ण को उनके चरणों को धोते देखें तो उसका प्रभाव 'पानि परात को हाथ छुओ नहिं नैनन के जल सों पग धोये' से भी अधिक पड़ेगा। महाराणा प्रताप की कथा हम पढ़ते हैं, किन्तु यदि हम प्रताप को अपने सामने रंगमंच पर देखें तो धैर्य, सहन-शीलता और वीरता की त्रिवेणी हमारे सामने बहने लगेगी।

यदि हम अत्याचारियों का अत्याचार स्टेज पर घटित होते देख लें तो उनके प्रति घृणा और पीड़ित के प्रति सहानुभूति जाग्रत हो उठेगी। यूनान और रोम में रंगमंच ही बहुत अंश में राजनीतिक मंच का काम देता था। हमारे वहाँ बड़े-बड़े उत्सवों पर दर्शकों के मनोविनोद और उनकी शिक्षा के लिए नाटक खेले जाते थे।

नाटक में वीर चरित्रों के अभिनय से बालकों में वीरता के भावों का संचार होता है। युधिष्ठिर, राम और हरिश्चन्द्र जैसे सत्य-संध महात्माओं के अनुकरण से हमारे हृदय में सत्य की प्रतिष्ठा होती है। शिवि, दधीचि, बुद्ध और जीमूतवाहन आदि के चरित्रों के दर्शन से हममें त्याग की भावना जाग्रत होती है।

ऐतिहासिक नाटकों तथा सिनेमा फिल्मों में भूतकाल हमारे लिए

वर्तमान का रूप धारण कर लेता है और उसका चित्र हमारे मन पर स्थायी रूप से अंकित हो जाता है। फिर हमको इतिहास की शुष्क भाषा की तोता-रटंत की आवश्यकता नहीं रहती।

समाज-सुधार के संबंध में नाटकों ने बहुत काम किया है। बाल-विवाह तथा वृद्ध-विवाह के दुष्परिणाम, अछूतों की दयनीय दशा और दहेज प्रथा के कारण होने वाली दुर्घटनाओं को दिखा कर समाज के दृष्टिकोण को बदलने में नाटकों का बहुत कुछ भाग है। उपदेशक का उपदेश इस कान से आकर उस कान से निकल जाता है। वह हृदय पर प्रभाव नहीं डाल सकता। जब हम सामाजिक कुरीतियों का दुष्परिणाम अपनी आँखों के सामने प्रत्यक्ष रूप से घटित देखते हैं तभी हमारा नेत्रोन्मीलन होता है और सामाजिक-अत्याचार से पीड़ित लोगों के प्रति हमारी सहानुभूति उत्पन्न होती है और तभी उनके उद्धार के लिए हम बड़े मनोयोग के साथ यत्नवान हो जाते हैं।

श्रव्य-काव्य की शिक्षा साधारण शिक्षा की अपेक्षा मृदुलतर और अधिक प्रभावशाली होती है। राजा जयसिंह के दरबार में 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास इहि काल' वाले दोहे ने जो काम कर दिखाया वह बड़े-बड़े प्रकांड धर्मोपदेशकों का उपदेश नहीं कर सकता था। दृश्य-काव्य द्वारा जो उपदेश होता है वह इससे भी कहीं अधिक प्रभावशाली होता है। उत्तररामचरित में एक दूसरा रंगमंच उपस्थित कर सीता के निर्वासन के उपरान्त की कथा का उद्घाटन कर श्री रामचन्द्र के हृदय में सीता के प्रति सहानुभूति की भावना को और भी तीव्र किया गया था। नाटकों

के भीतर नाटक दिखलाने की प्रथा प्रत्यक्ष के प्रभाव को प्रमाणित करने के लिए ही थी।

जब मनुष्य अपनी शोचनीय अवस्था का अनुभव कर लेता है तभी वह सुधार की ओर प्रवृत्त होता है। अपनी शोचनीय अवस्था का ज्ञान कराने के लिए नाटक से उत्तम दूसरा कोई साधन नहीं। इसीलिए सभी सभ्य देशों में उसका मान है। इंगलैंड में सिनेमा का प्रचार हो जाने पर भी नाटकगृहों में हफ्तों पहले स्थान सुरक्षित कराना पड़ता है।

नाटकों से उपदेश के अतिरिक्त कला में भी उन्नति होती है। ऐसी कोई कला नहीं जिसका नाटक से सम्बन्ध नहीं। नाटक में चित्रकला, वास्तुकला, रंगों का मिश्रण, आदि सभी कलाएँ आ जाती हैं। देखिए—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥

—भरत मुनि

नाटक द्वारा इन कलाओं की उन्नति होकर जाति की समृद्धि होती है।

यद्यपि सिनेमा भी नाटक का प्रतिरूप है (वास्तव में वर्तमान सिनेमा हमारे यहाँ के छाया-नाटकों के, जिनमें चमड़े की पुतलियों की छाया पट पर डाली जाती थी, विकसित रूप हैं), तथापि सिनेमा आजकल के शीघ्रता-प्रिय संसार के लिए अधिक उपयुक्त है। उसमें भारी सीन-सीनरी के स्थानान्तरित करने का खटराग नहीं रहता, और उनके देखने में समय भी थोड़ा लगता है। इसलिए वे शिक्षा

के अच्छे साधन हैं। प्रत्येक गाँव में फिल्म दिखलाए जा सकते हैं। सिनेमा के द्वारा देश-विदेश के लोगों की रहन-सहन, उनकी क्रिया पद्धति और उनके रीति-रिवाज़ों का परिचय कराया जा सकता है। बड़े वीरों के साहसिक कार्यों से जनता में साहस की भावना जगाई जा सकती है। सिनेमा द्वारा खेती के नये-नये प्रयोग तथा शिल्प और व्यवसाय के नये चमत्कार और बहुत सी वस्तुओं की निर्माण-विधि भी सिखलाई जा सकती है। जहाँ तक यंत्र-संबंधी कार्य है वहाँ तक सिनेमा नाटक से विशेषता रखता है, किन्तु जहाँ तक कला का संबन्ध है, कोमल भावों की जाग्रति का प्रश्न है, वहाँ नाटक की ही प्रधानता है। सिनेमा के अभिनय में नाटक की सी उत्तरोत्तर उन्नति की गुंजाइश नहीं रहती। एक फिल्म जो बनी वह पत्थर की लकीर हो जाती है। उसमें वास्तविकता का चित्र पूरा नहीं उतरता। हम भूल नहीं सकते कि हम पट पर चित्र देख रहे हैं। सिनेमा का प्रचार होते हुए भी कोमल भावों की जाग्रति तथा समाज का पूर्ण सजीवता के साथ चित्र खींचने के लिए नाटक की चिरकाल तक आवश्यकता रहेगी। इस लिए कुछ लोग नाटक और सिनेमा के सहयोग की बात सोच रहे हैं। सीन-सीनरी का काम सिनेमा से लिया जाय और अभिनय का कार्य जीवित पात्र करें।

---

३५. भारतीय नाटकों में शोकान्त नाटक का अभाव

प्रत्येक देश के साहित्य पर उसकी मानसिक संस्कृति का प्रभाव पड़ता है। साहित्य जातीय-चरित्र की कुंजी है। जो साहित्य जिस देश में उत्पन्न होता है, उसमें उस देश के लोगों के जातीय विचारों की छाप रहती है। नाटक प्रायः सभी सभ्य देशों में लिखे गये; किन्तु सब में अपनी-अपनी जातीय विलक्षणता है। यूनानियों के नाटकों में शोकान्त नाटकों का महत्त्व है। भारतीय नाटकों में उनका नितान्त अभाव है; केवल उरुभंग नाटक इसका अपवाद है। यद्यपि यह बात ठीक है कि शोकान्त नाटकों से मन पर अच्छा प्रभाव पड़ता है, हमारी सहानुभूति जाग्रत होती है और मनुष्य जाति की सहनशीलता और उसके चरित्रबल के लिए आदरभाव उत्पन्न होता है, तथापि यह प्रश्न रह जाता है कि यदि सज्जनों का अन्त दुःखमय हो (दुर्जनों को दुःख में देखकर उन उत्तम भावों की जाग्रति नहीं होती) तो ईश्वरीय न्याय कहाँ रहता है। दर्शकों की आत्म-शुद्धि के लिए महापुरुषों का बलिदान क्यों किया जाय और ईश्वरीय न्याय में क्यों कलंक लगाया जाय? एक उभयतःपाश (Dilemma) उपस्थित हो जाता है, इधर कुआँ तो उधर खाई। सुखान्त नाटकों में वह गांभीर्य नहीं रहता, वह चित्त की शुद्धि और आत्मा का

विकास नहीं होता जो दुखान्त नाटक में होता है। दुखान्त नाटकों में भी इन बातों की जाग्रति के लिए सज्जनों और महापुरुषों को दुःख का शिकार बनाना पड़ता है। पाठकों और दर्शकों के हृदय पर दुःख का पुनीत प्रभाव तभी पड़ता है जब वे किसी महान आत्मा को संकट में देखते हैं। तभी उनकी सहानुभूति का स्रोत खुलता है। मामूली चोर-डकैत यदि अदालत में आवे तो उससे किसी विशेष भाव की जाग्रति नहीं होती, किन्तु यदि किसी संभ्रान्त व्यक्ति को अदालत में आते देखें तो एक साथ सहानुभूति का उद्रेक हो जाता है। दशरथ की मृत्यु पर हम आँसू बहाते हैं रावण की मृत्यु पर नहीं। लक्ष्मण की मूर्छा हम में एक विशेष कोमलता के भाव जाग्रत करती है मेघनाद की मृत्यु नहीं। यदि करती है तो सुलोचना के कारण। डेज़डीयोना की मृत्यु ही हम में सहानुभूति का उद्रेक करती है इयागो की नहीं। मामूली आदमी को यदि पिटते देखें तो कोई मानसिक आघात नहीं होता, चित्त में कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं होता। यदि होता है तो प्रसन्नता का। उस प्रसन्नता के लिए किसी को गर्व नहीं हो सकता। उसमें हलकापन है, गांभीर्य नहीं। इतना ही नहीं, वरन् वह परिवर्तन प्रतीकार की दुर्गन्ध से दूषित रहता है। बुरे आदमी के मरने से संतोष होता है, ईश्वरीय न्याय देखकर प्रसन्नता भी होती है, किन्तु उसमें जातीय प्रतीकार का भाव छिपा रहता है। 'अच्छा हुआ', खूब बदला मिला', 'अपने जाल में आप ही फँस गया', उसमें ऐसे भावों की जाग्रति होती है। इनसे शिक्षा अवश्य मिलती है, किन्तु उसके साथ घृणा बढ़ती है और सहानुभूति कम होती है। सहानु-

भूति बढ़ाने के लिए सज्जनों को कष्ट में दिखाना पड़ता है। यह बात अस्वाभाविक भी नहीं; सज्जन वास्तव में संसार में कष्ट झेलते भी हैं, किन्तु ऐसा दिखाने से ईश्वरीय न्याय में श्रद्धा नहीं रहती, सज्जन बनने के लिए कोई उत्तेजना नहीं होती। जो शिक्षा दुर्जन के दंड से मिलती है वह सज्जन के सुख और वैभव से भी मिलती है। उसमें एक प्रकार से पुरस्कार का प्रोत्साहन रहता है। समस्या यह होती है कि या तो नाटक को दुःखान्त बनाकर भावों की शुद्धि और सहानुभूति की जाग्रति कर लीजिए या ईश्वरीय न्याय की रक्षा कीजिये।

इस समस्या को हल करने के लिए भारतीय नाटकाचार्यों ने ईश्वरीय न्याय की रक्षा के लिए नाटक को सुखान्त बनाने का नियम बना दिया और भावों की शुद्धि और जाग्रति के लिए कहीं-कहीं उनको करुणात्मक बना दिया; जैसे उत्तररामचरित नाटक में। इसमें गांभीर्य और ईश्वरीय न्याय दोनों की रक्षा हो जाती है। हिन्दू लोग भाग्यवादी चाहे हों (उनका भाग्यवाद अन्धभाग्यवाद नहीं, उसमें भी कर्म के आधार पर ईश्वर का न्याय लगा हुआ है) किन्तु दुःखवादी नहीं। उनके लिए संसार दुःखमय नहीं। संसार में चाहे दुःख हों, आपत्तियाँ आवें, संकट उपस्थित हों, किन्तु उन सबका अन्त अच्छा है। संसार सुखान्त नाटक है। नाटकों को सुखान्त रखने में जातीय भावों का पता चलता है। भारतीय सुखान्त नाटक भी इस बात के प्रमाण हैं कि भारतीय नाटक दूसरों के अनुकरण नहीं। उनमें हिन्दुओं का जो ईश्वरीय न्याय में आग्रह और विश्वास है वह प्रतिबिंबित है। हिन्दुओं में हिंसा और प्रतीकार के भावों का यद्यपि अभाव तो नहीं

रहा, तथापि ये भाव उनके जातीय स्वभाव नहीं कहे जा सकते, उन का जातीय स्वभाव अहिंसात्मक है। वे लोग मनुष्यों को गाजर-मूली की भाँति नष्ट होते नहीं देख सकते। वे दर्शकों के चित्त को आघात नहीं पहुँचाना चाहते। इसलिए उन्होंने कविता में वास्तविक मरण का वर्णन करना श्लाघ्य नहीं माना और नाटकों में रंगमंच पर मृत्यु दिखाना निषिद्ध समझा।

नाटक का उदय भी मनुष्य जाति की प्रसन्नता के लिए हुआ है। वास्तविक संसार में दुःख काफी है, उसकी मात्रा को कम करने के लिए ही नाटकों का जन्म हुआ है। ओषधि कड़वी रहे, यहाँ तक तो कुछ हानि नहीं, किन्तु उसको विष न बनाना चाहिए। जिस दुःख की निवृत्ति अथवा कम करने के लिए नाटकों का जन्म हुआ, नाटकों द्वारा उस दुःख की वृद्धि न करना उचित नहीं। दुःख की जितनी मात्रा आवश्यक हो उसको रखकर अंत में सुख उत्पन्न कर देना ही नाटक का मुख्य ध्येय रक्खा गया है।

यह सब होते हुए भी भारतीय नाटकों में करुणा और शोक की मात्रा की कमी नहीं। 'उत्तररामचरित' तो साक्षात् करुण की शब्द-मूर्ति है। महाकवि भवभूति ने 'उत्तररामचरित' में करुण रस ही को प्रधानता दी है, और सब रसों को करुणरस का भेद माना है। जिस प्रकार बुदबुदे, भँवर और तरंग सब भिन्न-भिन्न नाम रखते हुए भी जल के ही रूप हैं, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न नाम रखते हुए भी सब रस करुणरस के ही रूप हैं—

एक करुणा ही मुख्य रस निमित भेद सों सोइ।
प्रथक प्रथक परिणाम में भापत बहु विधि होइ॥

बुदबुद भँवर तरंग जिमि होत प्रतीत अनेक।
पै यथारथ में सबनि को होत रूप जल एक॥

हिन्दू कविता का आरंभ ही करुणा-रस से हुआ है। महर्षि वाल्मीकि को क्रौंच पक्षियों के जोड़े में से बहेलिया द्वारा एक की मृत्यु देख कर जो शोक हुआ वही हिन्दू काव्य का उद्गम-स्थान बना।

शोकान्त नाटकों के अभाव से यह न समझना चाहिये कि हिन्दुओं के मानसिक संस्थान में शोकजन्य गांभीर्य के लिए स्थान ही नहीं है। यह बात संस्कृत नाटक उत्तररामचरित के अनुवाद के और हिन्दी के हरिश्चन्द्र नाटक के दो एक अवतरणों से स्पष्ट हो जायगी। शंबूकवध के लिए जनस्थान में दुबारा आये हुए श्री रामचन्द्र की तीव्र मानसिक वेदना पढ़ने योग्य है। देखिए—

कैधौं चिर-सन्तापज, अति तीव्र विष-रस
फैलि सब तन माहिं रोम रोम छायो है।
कैधौं घाय कितहूँ ते शल्य को सकल यह
वेग सों हृदय मधि सुदृढ़ समायो है।
कैधौं कोऊ पूरित मरम घाय खाय चोट
तिरकि भयंकर विमल हरिआयो है।
होइ न बिरह सोक, घनीभूत कोऊ दुख
करि जाने बिकल मो चेतहू भुलायो है।

महाराज रामचन्द्र जी को ऐसा दुःख! यह दुःख उनके सीता-निर्वासन के अपराध को धो देता है और दर्शकों के हृदय में सहानुभूति के भाव भर देता है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में करुणारस

साबित हो रहा है। कहाँ महाराज हरिश्चन्द्र और कहाँ चांडाल-वृत्ति ! कहाँ महारानी शैव्या और कहाँ दासी-धर्म ! कहाँ सूर्य-वंश का होनहार अंकुर रोहिताश्व और कहाँ उसके लिए कफन का अभाव ! नाटक को पढ़कर हृदय द्रवित हो जाता है। शैव्या का विलाप रोमांच उत्पन्न कर देता है। देखिए—

"हाय ! खेलते-खेलते आकर मेरे गले से कौन लिपट जायगा और माँ-माँ कहकर तनिक-तनिक-सी बातों पर कौन हठ करेगा ! हाय मैं अब किसको अपने आँचल से मुँह की धूल पोंछकर गले लगाऊँगी ? और किसके अभिमान से विपत्ति में भी फूली-फूली फिरूँगी ? हाय ! जिन हाथों से ठोंक-ठोंक कर रोज़ सुलाती थी, उन्हीं हाथों से आज चिता पर कैसे रक्खूँगी ! जिसको मुँह में छाला पड़ने के भय से कभी मैंने गरम दूध भी नहीं पिलाया उसे.............।'

देखिए, कैसे मर्मभेदी शब्द हैं। किन्तु यदि यहीं पर नाटक समाप्त हो जाता तो हरिश्चन्द्र की महत्ता तो प्रमाणित हो जाती किन्तु हृदय में एक कसक बनी रहती, सत्य के प्रति शायद श्रद्धा-भाव में भी धक्का लगता। नाटक के सुखान्त होने से जी हलका हो जाता है, धर्म में श्रद्धा बढ़ती है, और सत्य के लिए प्रोत्साहन मिलता है। कसम खाने के लिए भारतीय साहित्य में शोकान्त नाटक का नितान्त अभाव भी नहीं है। भास कवि का 'उरु-भंग' नाटक शोकान्त नाटक है। उसमें दुर्योधन की मृत्यु दिखाई गई है। दुष्ट की मृत्यु से ईश्वरीय न्याय की रक्षा तो हो जाती है किन्तु बदले के भाव की तो पुष्टि होती है। आधुनिक हिन्दी नाटकों

में यह नियम कुछ शिथिल हो गया है। मिलिंदजी का 'प्रताप-प्रतिज्ञा' नाटक इसका उदाहरण है। प्रातःस्मरणीय महाराणा प्रताप की प्रतिज्ञा अपूर्ण रह गई है। उनकी मृत्यु के साथ ही नाटक की समाप्ति होती है। यह ऐतिहासिक सत्य है। कवि ने महाराणा के मुँह से अंतिम शब्द कहलाए हैं—

"मैं क्या चाहता हूँ जानते हो सामंत? मैं चाहता हूँ कि इस पीड़ित भारत वसुन्धरा पर कभी कोई ऐसा माई का लाल पैदा हो जिसके हृदय-रक्त की अंतिम बूँदें इसके स्वाधीनता-यज्ञ में पूर्णाहुति दें, इसे सदा के लिए स्वाधीन कर दें; जिसके इंगित पर, बरसों के बिछुड़े हुए कोटि-कोटि भारतीय एक सूत्र में बँधकर सर्वस्व बलिदान करने मातृ-मंदिर की ओर दौड़ पड़ें। मेरी प्रतिज्ञा तो अधूरी रह गई सामंत! हृदय में अतृप्ति की एक आग छुपाये जा रहा हूँ! उफ़!"

इसमें समय की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। स्वाधीनता-संग्राम में एक महापुरुष की मृत्यु दिखाई गई है। आत्मबलिदान के भाव की खूब पुष्टि होती है, किन्तु इसमें भी न्याय के भाव में धक्का लगता है। अस्तु, भारतीय नाटककारों ने शोकांत नाटक का अभाव रख कर ईश्वरीय न्याय की रक्षा की है और नाटकों में करुणा का पुट देकर भावों की शुद्धि कर उनमें कोमलता उत्पन्न की है।

---

३६. हिन्दी के नाटक और रंगमंच

नाटक साहित्य के प्रधान अंगों में से है—'काव्येषु नाटकं रम्यम्'। संस्कृत-साहित्य में नाटकों का खूब विकास हुआ। योरोप वालों का ध्यान नाटकों द्वारा ही संस्कृत की ओर आकर्षित हुआ। जर्मन कवि गेटे (Goethe) ने भी शकुन्तला नाटक की भूरि-भूरि प्रशंसा की है, और वास्तव में वह है भी प्रशंसा-योग्य—'नाटकेषु च शकुन्तला'। कालिदास और भास की कला पर जितना विचार किया जाता है उतनी ही उनके प्रति श्रद्धा बढ़ती है। किंतु खेद है कि बहुत काल तक हिंदी ने इस अतुल संपत्ति का उपयोग नहीं किया। इसके कई कारण हो सकते हैं। जिस काल में हिंदी का उदय हुआ, उस काल में पहले तो मार-काट बहुत रही, जिसमें नाटक का विकास होना असंभव था। नाटक के समुचित विकास के लिए रंगमंच चाहिए और लड़ाई की भाग-दौड़ में रंगमंच की स्थापना और उन्नति की संभावना नहीं रहती। मुसलमानी राज्य में भी शांति का समय आया अवश्य, किंतु मुसलमानी सभ्यता में नाटक के लिए प्रोत्साहन न मिल सका। मुसलमान लोग मूर्तिपूजा के विरोधी होते हैं, इसलिए उनके यहाँ किसी प्रकार के अनुकरण श्लाघ्य दृष्टि से नहीं देखे जाते। मुसलमानी राज्यकाल में चित्रकला की

उन्नति अवश्य हुई, किंतु वह एक प्रकार का अपवाद था; उनकी जातीय संस्कृति के खिलाफ़ था। इतने बड़े ताजमहल की कारीगरी फूल-पत्तियों में ही संकुचित रही। फ़तहपुर सीकरी में हाथी इत्यादि जानवरों की मुखाकृत्तियों के अलंकरण अवश्य हैं किन्तु वे अकबर की उदारता के कारण हैं। अस्तु, जो कुछ भी कारण हो, नाटकों का मुसलमानी राज्य में एक प्रकार से अभाव ही रहा। 'यथा राजा तथा प्रजा:' में बहुत तथ्य है।

इसके अतिरिक्त नाटकों के लिए गद्य की आवश्यकता होती है और उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व हिन्दी गद्य का रूप भी प्रतिष्टित न था।

हिन्दी-नाटकों के वास्तविक जन्मदाता श्रीभारतेन्दु हरिश्चन्द्र हैं। इनसे पहले नाटक लिखे अवश्य गये थे, किंतु वे नाटक कहलाने योग्य न थे। देवजी का भी 'देवमाया प्रपंच' नाम का नाटक है, किंतु वह एक प्रकार की आध्यात्मिक कविता मात्र है। यह नाटक प्रसिद्ध देव कवि का नहीं बतलाया जाता। यही हाल ब्रजवासीदास-कृत 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक का है। 'प्रबोध चन्द्रोदय' का अनुवाद महाराजा जसवंतसिंह ने भी किया था। 'समय सार' नाम के इसी प्रकार के एक नाटक का बाबू हरिश्चन्द्र ने और उल्लेख किया है। इंगलैंड आदि देशों में नाटकों का आरम्भ धार्मिक नाटकों से हुआ था। इनको मिस्ट्री प्लेज़ (Mystry Plays) अर्थात् रहस्य-सम्बन्धी नाटक कहते थे। इनमें धैर्य, दया, पाप, पाखंड, ईर्ष्या आदि ही मूर्तिमान हो नाटकों के पात्र के रूप में आते थे। प्रबोध-चन्द्रोदय आदि नाटक भी इसी प्रकार के हैं। पूर्व-

हरिश्चन्द्र-काल के नाटकों में नेवाज-कृत 'शकुन्तला' नाटक और हृदयराम कृत 'हनुमन्नाटक' उल्लेखनीय हैं। महाराजा काशिराज की आज्ञा से 'प्रभावती' नाटक बना था और रीवाँ-नरेश की आज्ञा से 'आनंद रघुनंद' बना था, किंतु इनमें भी नाटक के सब नियमों का पालन नहीं हुआ था। इनमें छंद का प्राधान्य था। छंद में साधारण जीवन के अंगों का वर्णन नहीं हो सकता और उसी अंश में छंद-प्रधान ग्रंथ नाटक के परिभाषा से गिरे रहते हैं।

पात्रों के प्रवेश आदि नियमों का पालन करते हुए सबसे पहला नाटक भारतेन्दु जी के पूज्य पिता गिरधरदास जी ने 'नहुष' नामक लिखा था। उसमें इंद्र और नहुष की कथा है। पहले इंद्र को ब्रह्म-हत्या लगी, उसका स्थान नहुप को मिला, वह राज-मद को संयमित न रख सका, 'प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं', वह पद-च्युत हुआ, इन्द्र ने अपना पूर्व-पद प्राप्त किया।

समय के क्रम से रीत्यनुकूल नाटक-रचना में दूसरा नाम राजा लक्ष्मणसिंह का आता है। उनका शकुन्तला नाटक यद्यपि अनुवाद है, तथापि उसमें मूल का सा सौंदर्य है। उस अनुवाद ने शकुन्तला की कीर्ति को कायम रक्खा। इसके बाद बाबू हरिश्चन्द्र का नंबर आता है। उन्होंने एक प्रकार से नाट्य-कला को पुनर्जीवन दिया। कई संस्कृत नाटकों का अनुवाद किया और कई स्वतन्त्र नाटक लिखे। इनके लिखे हुए सोलह नाटक हैं, जिनमें कुछ प्रहसन भी हैं। इनमें सत्यहरिश्चन्द्र, मुद्राराक्षस, नीलदेवी, भारत-दुर्दशा, अंधेर-नगरी आदि प्रमुख हैं। इनके नाटक इनके समय में खेले भी गये। हरिश्चन्द्र के समय से लेखकों ने नाटकों को अपनाना शुरू

किया और पर्याप्त संख्या में लिखे गये। उस काल के नाटकों में बाबू तोताराम का 'केटो-कृतान्त' लाला श्रीनिवास दास का 'तप्तासंवरण' और 'रणधीर प्रेम मोहिनी', बाबू केशोराम भट्ट-कृत 'सज्जाद संबुल' और 'शमशाद सोसन', गदाधर भट्ट का 'मृच्छकटिक', बाबू बदरी नारायण चौधरी का 'वारांगना-रहस्य', अंबिकादत्त व्यास की 'ललिता' नाटिका, 'भारत सौभाग्य' और 'गोसंकट' नाटक और बाबू राधाकृष्णदास के 'दुखिनी बाला', 'पद्मावती' और 'महाराणा प्रताप' मुख्य हैं।

हिन्दी के प्रारम्भिक नाटक व्रज भाषा में लिखे गये थे। उन में पहले तो गद्य था ही नहीं और यदि थोड़ा बहुत था भी तो वह भी व्रजभाषा में। धीरे-धीरे गद्य खड़ी बोली में हो गया और पद्य व्रज-भाषा में ही रहा। भाषा के सम्बन्ध में नाटकों का यह हाल हरिश्चन्द्र युग के बाद में भी चलता रहा।

इन नाटकों के विकास में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक तो जैसे-जैसे समय आगे चलता गया, वैसे-वैसे, देवता, राक्षस, यक्ष, गंधर्व आदि दैवी पात्रों की कमी होती गई। दैवी चमत्कार और आद्भुत्य के स्थान में मनुष्य की बुद्धि का चमत्कार और उसके भावों का संघर्ष अधिक दिखाया जाने लगा। नाटक का मनुष्य-जीवन से विशेष संबंध हो गया। दूसरी बात यह है कि क्रमशः पद्य के स्थान में गद्य का प्रवेश होने लगा। पद्य साधारण जीवन की भाषा नहीं समझी जाती। मंत्री लोग गाकर मंत्र नहीं देते और न राजा लोग नाच कर यह कहते हैं 'क़ौम का राजा हूँ और इन्दर मेरा नाम'। नाटकों से पद्य का महत्त्व दूर करने में द्विजेन्द्र-

लाल राय के नाटकों के अनुवादों ने हिंदी नाटककारों पर अच्छा प्रभाव डाला। ये अनुवाद पं० रूपनारायण पांडेय ने सफलतापूर्वक किये हैं। श्री गोपालराम जी गहमरी ने रवीन्द्रबाबू की चित्राङ्गदा का अनुवाद किया था। वर्तमान युग में अथवा यों कहिए कि हरिश्चन्द्र-युग और वर्तमान युग के बीच में रायबहादुर लाला सीताराम जी उपनाम भूप ने बहुत से संस्कृत के नाटकों का अनुवाद कर हिन्दी का बहुत उपकार किया है। यह बड़ी लज्जा का विषय था कि संस्कृत के नाटकों का अंगरेज़ी में तो अनुवाद हो और हिन्दी इस गौरव से वंचित रहे। इस संबन्ध में स्वर्गीय लाला सीताराम जी ने भगीरथ का सा काम किया था। स्वर्गीय पं० सत्यनारायण कविरत्न ने महाकवि भवभूति-कृत 'उत्तर-रामचरित' और 'मालती-माधव' के बहुत ही सुन्दर और सरस अनुवाद किये हैं।

शेक्सपीयर के नाटकों का भी हिंदी में अनुवाद होगया है। बाबू गंगाप्रसाद एम. ए. ने बहुत से नाटकों का अनुवाद किया है। बाबू प्रेमचंदजी ने आधुनिक कवि गाल्सवर्दी के नाटकों का अनुवाद किया है किंतु उन में वह बात नहीं, जो उनके उपन्यासों में है। इन अनुवादों के अतिरिक्त बहुत से मौलिक नाटक भी लिखे गये हैं और वे रंगमंच पर खेले भी जाते हैं।

धार्मिक नाटककारों में कथावाचक पं० राधेश्याम और नारायण प्रसाद 'बेताब' के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। 'श्रीकृष्ण अवतार', 'रुक्मिणी मंगल' और 'वीर अभिमन्यु' पं० राधेश्याम के नाटकों में अच्छे गिने जाते हैं। बाबू नारायण प्रसाद के नाटकों

में 'रामायण' और 'महाभारत' प्रधान हैं। ये नाटक रंगमंच के तो बहुत उपयुक्त हैं, किंतु इनमें साहित्यिकता कम है, उर्दू का पुट है और हिंदी की नाटकीय भाषा का विकास नहीं दिखाई देता। हाँ, इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि इनके द्वारा हिंदी को रंगमंच पर स्थान मिल गया और उर्दू के नाटकों का बोलबाला न रहा। बाबू हरेकृष्ण जौहर के सामाजिक नाटक अच्छे हैं। कृष्णचंद के नाटकों में राज-नीतिक पुट है, किंतु इनमें उर्दूपन अधिक है। व्याकुल जी का बुद्धदेव नाटक रंगमंच की दृष्टि से बहुत अच्छा है।

साहित्यिक दृष्टि से बाबू जयशंकर 'प्रसाद' का कार्य बहुत सराहनीय है। 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नाग-यज्ञ', 'स्कन्दगुप्त', 'चंद्रगुप्त', 'विशाख' आदि उनके कई उच्चकोटि के नाटक हैं, जिन में उन्होंने अपनी गवेषणा शक्ति और सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है। उनके नाटक कलामय होते हुए भी अत्यन्त क्लिष्ट हैं और साधारण रंगमंच के योग्य नहीं रहते। उनमें ऐसे क्लिष्ट विषयों का प्रतिपादन किया गया है जो किसी विवेचना-पूर्ण ग्रन्थ के योग्य हो सकते हैं, किंतु साधारण रंगमंच के दर्शकों की गति से बाहर है। उनमें प्रसाद गुण की कमी है। उनके लिए विशेष रंगमंच, अभिनेताओं और सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत दर्शकों की आवश्यकता है। इस बात को स्वीकार करते हुए भी उनमें हमको प्राचीन सभ्यता की अच्छी झलक मिलती है। उन नाटकों के गीत और सूक्तियाँ साहित्य की एक विशेष निधि हैं। प्रसाद जी के अतिरिक्त पं० बदरीनाथ भट्ट, पं० माखनलाल चतुर्वेदी, श्रीयुत जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिंद', पं० गोविन्दवल्लभ पंत तथा श्रीयुत हरिकृष्ण 'प्रेमी'

आदि कई सज्जनों ने अच्छे-अच्छे नाटक लिखे हैं। भट्टजी के नाटकों में हास्यरस का पुट अधिक रहता है। पं० माखनलाल जी का 'कृष्णार्जुन युद्ध', मिलिंद जी का 'प्रताप-प्रतिज्ञा', पंत जी का 'वरमाला' और राजमुकुट और प्रेमी जी के 'रक्षा-बंधन', 'शिवा-साधना' और 'प्रतिशोध' आदि नाटक साहित्यिक दृष्टि से अत्युत्तम होने के साथ रंगमंच की आवश्यकताओं की भी पूर्त्ति करते हैं। हिन्दी जगत में इनका आदर हुआ है और साहित्य-समितियों द्वारा इन में से कई नाटक समय-समय पर खेले भी गये हैं। श्री जी० पी० श्रीवास्तव के नाटकों में हास्य की मात्रा अधिक है। पं० रामनरेश त्रिपाठी जी का 'जयन्त' और श्री सुमित्रा नंदन पंत का 'ज्योत्स्ना' नाटक साहित्यिक दृष्टि से उत्तम निकले हैं। हाल ही में पं० पृथ्वीनाथ शर्मा के 'दुविधा' और 'अपराधी' नामक सामाजिक नाटक प्रकाशित हुए हैं। वे यूरोपीय ढंग पर लिखे गये हैं, पद्य का इनमें बिलकुल अभाव है। रंगमंच पर खेलने के लिए वे बहुत उपयुक्त हैं। अब बिलकुल आधुनिक नाटक प्रायः वर्तमान समस्याओं से संबंध रखते हैं। वे आकार-प्रकार में भी छोटे से होते हैं। उनमें रंगमंच के संकेत भी विस्तृत होते हैं। ये उपन्यासों के वर्णन का स्थान लेते हैं।

पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'संन्यासी', 'राक्षस का मंदिर', 'राजयोग', 'सिंदूर की होली' आदि समस्यात्मक नाटक अच्छे हैं। उपेन्द्रनाथ अश्क का 'स्वर्ग की झलक', उदयशंकर भट्ट का 'कमला' नये ढंग के नाटकों के अच्छे उदाहरण हैं। भट्टजी ने पौराणिक नाटकों के अतिरिक्त गीत-नाट्य भी लिखे हैं। बाबू रामकुमार

वर्मा ने कुछ एकांकी नाटक भी लिखे हैं। 'पृथ्वीराज की आँखें' नाम के संग्रह में उनके एकांकी नाटक प्रकाशित हुए हैं। श्री भुवनेश्वर प्रसाद के एकांकी नाटकों का संग्रह कारवाँ के नाम से निकला है।

नाटक की अभिनय-योग्यता उसकी उत्तमता की कसौटियों में से है, क्योंकि उसमें जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का अनुकरण रहता है और नाटक का अर्थ ही नट से संबंध रखने वाला है। नाटककार की यही विशेषता है कि वह जीवन की नकल चलते-फिरते सजीव रूप में बोलते-चालते मनुष्यों द्वारा कराता है। नाटक की अभिनयात्मक सार्थकता रंगमंच पर ही हो सकती है। रंगमंच पर ही लेखक को भी पता चलता है कि वह जीवन की प्रति-लिपि उतारने में कहाँ तक सफल रहा, किंतु खेद की बात है कि रंगमंच के संबन्ध में जो कमी श्री बाबू हरिश्चन्द्र के समय में थी, वह प्रायः अब भी है। यथार्थ बात तो यह है कि रंगमंच की उससे भी अधिक शोचनीय अवस्था है। उस समय की साहित्य-समितियों द्वारा कई नाटक खेले अवश्य गये थे, किन्तु शिष्ट समाज में नाटक खेलने की प्रथा ने जड़ नहीं पकड़ी और अशिष्ट समाज से उन्नति की आशा नहीं की जा सकती। अशिक्षितों के हाथ में साहित्यिक नाटकों की साहित्यिकता जाती रहती है। हिन्दी-नाटकों का रंगमंच से विच्छेद रहा; इसका कारण यह भी है कि रंगमंच एक व्यवसाय का विषय हो गया है और जिस समय हिन्दी बोलने वाले प्रदेशों में रंगमंच का पुनर्जीवन हुआ उस समय उर्दू की तूती बोल रही थी, (इन्दर सभा अमानत उर्दू का पहला नाटक था)। नाटयशालाओं के केन्द्र कलकत्ता

और बंबई में थे। कलकत्ता में नाटक गृहों के होने के कारण १९०५ में ही एक बँगला नाटक खेला जा चुका था। बंबई में यह रोज़गार पारसियों के हाथ में था। उन्होंने उर्दू नाटकों को ही अपनाया। उस समय देश में जाग्रति कम थी; हास-विलास, नाच-रंग, चमकते-दमकते पट-पटांबर ही में जनता की रुचि थी। अब देश में जाग्रति हुई है। भाषा की शुद्धता और शक्ति की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ है। अभिनय में मनोविज्ञान के ज्ञान की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है।

प्राइवेट नाटक मंडलियाँ एक सीमित वृत्त में ही काम कर सकीं। वे जनता की रुचि आकर्षित करने में असमर्थ रहीं। पीछे से व्याकुल, बेताव, हश्र, राधेश्याम आदि महानुभावों के प्रभाव से हिंदी नाटकों को व्यावसायिक कंपनियों में स्थान मिला। सन १९१३ में बेताब का महाभारत नाटक खेला गया, वह बहुत लोक-प्रिय हुआ। हश्र के श्रवणकुमार, गंगावतरण आदि नाटकों ने विशेष ख्याति पाई।

हिन्दी नाटकों को रंगमंच पर स्थान मिला ही था कि सिनेमा का अविर्भाव हो गया और इस कला ने नाटक मंडलियों को बहुत आघात पहुँचाया। यद्यपि कला की दृष्टि से सिनेमा नाटक से पीछे है तथापि सिनेमा सुभीते के कारण अधिक लोकप्रिय हो रहा है। नाटक जीवन का अनुकरण है; सिनेमा अनुकरण का भी छाया-रूप है। वह वास्तविक से दो श्रेणी हटा हुआ है। किन्तु लोग इस बात को नहीं सोचते। इंगलिस्तान में नाटक अब भी लोक-प्रिय हैं। यहाँ पर जीवन के उल्लास की कमी के कारण अभिनय की

ओर रुचि अधिक नहीं। हिन्दी में भी रवि बाबू जैसे महानुभावों की आवश्यकता है जो अपनी कृतियों के अभिनय में भी योग दे सकें। हिन्दी-भाषा को ऐसे नाटककारों की आवश्यकता है जो समाज के सूक्ष्म निरीक्षक हों, जो मनोविज्ञान के पंडित हों, स्वयं अभिनय में कुशल हों, संगीतज्ञ हों, जो रंगमंच के मर्मज्ञ हों और उसके सब नियमों से अभिज्ञ हों, भाषा पर जिनका प्रभुत्व हो और जो साधारण गद्य में कविता के प्रभाव से साथ शक्ति, सुबोधता, और भाव-गांभीर्य ला सकें। अब नाटक की उत्तमता कथावस्तु (प्लाट) की पेचीदगी में नहीं रही, वरन् मानवी प्रकृति की मनोवैज्ञानिक और सामाजिक समस्याओं के उद्घाटन में है। हर्ष की बात है कि हमारे नाटककार इस ओर ध्यान दे रहे हैं।

---

३७. छायावाद और रहस्यवाद

उन्नीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक उन्नति ने संसार को चकाचौंध में डाल दिया था। वैज्ञानिक सत्य ही ध्रुव-सत्य समझा जाने लगा। इंद्रियगोचर होना ही वास्तविकता का मान-दंड बन गया। पश्चिमी वैज्ञानिकता का प्रभाव बेचारे बूढ़े भारत पर भी पड़ा। यहाँ भी चारों ओर वैज्ञानिकता की दुहाई दी जाने लगी। उपयोगितावाद की तूती बोलने लगी। सब चीज़ों का मूल्य रुपया आना पाई में आँका जाने लगा। संसार में भौतिकता का प्राधान्य होगा। वस्तु के बाहरी आकार-प्रकार के अतिरिक्त और कुछ न देखने की प्रवृत्ति शिक्षा और विदग्धता की कसौटी मानी जाने लगी। हिंदी-साहित्य के द्विवेदी युग में इसी इतिवृत्तात्मकता का बोलबाला था। किंतु मनुष्य का हृदय संकुचित वादों की अपेक्षा कुछ विशाल है। उसकी दृष्टि इन्द्रिय-गोचर जगत में सीमित नहीं रहती। हम इस संसार में विदेशी की भाँति नहीं हैं। हम उसकी भावानूकुल भाषा समझ सकते हैं। निर्झर में हमें संगीत सुनाई देता है, गुलाब के फूल में मानव-यौवन प्रतिभासित होता है। संध्या-सुंदरी चुप-चाप परी की भाँति

आकाश से उतरती दिखलाई देती है, प्राची की स्वर्ण-आभा आशा का संदेश लाती है। कलियाँ खिलकर प्रकृति के हृदयोल्लास का परिचय देती हैं। हिम-कण हमारे साथ रोते हुए दिखलाई पड़ते हैं। जमुना की लहरों में भावुक हृदय को अतीत की आकुल तान सुनाई पड़ती है । इस प्रकार कवि-हृदय प्रकृति के सुरम्य राग से स्पंदित हो उठता है। उसके लिए प्रकृति मनुष्य से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए आकुल दिखाई पड़ती है। आधुनिक कवि उपयोगितावाद से ऊब कर प्रकृति की कटी-छटी सीमाओं को पार कर प्रकृति में मानवता के दर्शन करने लगा है। वह इस बात का अनुभव करता है कि प्रकृति की सार्थकता उसके अस्तित्वमात्र में नहीं है। प्रकृति को गोचरता की सीमा में न बाँधकर उससे आत्मीयता स्थापन करने तथा किसी वस्तु को उपयोगिता मात्र के दृष्टि-कोण से न देखकर उसको भावुकता की कसौटी पर कसने की प्रवृत्ति को ही छायावाद कहते हैं। यह प्रवृत्ति विस्तारोन्मुखी है। यह प्रवृत्ति आत्मा के प्रकृति के बंधनों से मुक्त होने तथा आत्मा के राज्य-विस्तार की घोषणा है। इस प्रकार से छायावाद एक स्वातंत्र्य-भावनामयी शैली का नाम हो गया है।

मनुष्य का हृदय न केवल प्रकृति ही से सामंजस्य स्थापित करना चाहता है, वरन् वह प्रकृति और मनुष्य दोनों का ही एक इंद्रियातीत सत्ता में समन्वय करना चाहता है। वह फूल में अपने यौवन का ही प्रतिबिंब नहीं देखता वरन् वह बिंब और प्रतिबिंब के मूल स्रोत तक पहुँच कर उससे संबंध स्थापित करने की इच्छा करता है।

जिस प्रकार प्रकृति की गोचर सीमाओं को पार कर उसमें दृश्यमान इतिवृत्तात्मक भौतिकता की अपेक्षा एक अलौकिक अगोचर भावुकता के दर्शन करने की प्रवृत्ति को छायावाद कहते हैं उसी प्रकार दृश्य संबंधों के अतिरिक्त एक लोकोत्तर सत्ता के साथ संबंध-स्थापन की प्रवृत्ति को रहस्यवाद कहते हैं। छायावाद जिस प्रकार प्रकृति को मनुष्य के संबंध में लाता है, रहस्यवाद उसी प्रकार मनुष्य तथा मनुष्येतर जगत को उस से अतीत करने वाली श्रेष्ठतम सत्ता के साथ संबंधित करता है। वह ससीम और असीम का एक प्रकार से समन्वय कराता है। छायावाद और रहस्यवाद दोनों ही दृश्य की संकुचित सीमाओं को पार करने की ओर अग्रसर होते हैं। वर्तमान की अपूर्णता उसका अस्थायित्व, उसका सूनापन, मनुष्य को वर्तमान को अतीत करने वाली सत्ता की ओर ले जाता है। वह सत्ता चाहे अपने ही आध्यात्मिक आनंद में मिल जाय और चाहे वह अपने से पृथक् ईश्वर की हो। छायावाद में केवल भावुकता ही रहती है, रहस्यवाद भावुकता से कुछ ऊपर जाता है और उस में सान्त और अनन्त और नश्वर और शाश्वत का सम्मिलन रहता है।

रहस्यवाद का विषय बुद्धि और तर्क से परे एक अलौकिक अनुभव है। बुद्धि और तर्क दर्शन शास्त्र के घेरे से बाहर नहीं जाते। यह अनुभव गूँगे के गुड़ की भाँति अवर्णनीय होता है।

केते पारिख पचि मुए कीमत कही न जाय।
दादू सब हैरान हैं गूँगे का गुड़ खाय॥

यद्यपि 'रहस्यवाद' शब्द नया है, क्योंकि पुराने लोग वादों में नहीं पड़ते थे; तथापि प्रचीन लोगों ने ईश्वर और मनुष्य के सम्बन्ध

को रहस्य ही कहा है। गीता में भी यह ज्ञान परम गुह्य कहा गया है—

'इदं ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनुसूयवे।'

रहस्यवाद अंगरेज़ी शब्द मिस्टिसिज़्म का अनुवाद है। बंगाल में रहस्यवादियों को मर्मी कहते हैं, क्योंकि ये लोग तत्व या मर्म को जानने की कोशिश ही नहीं करते वरन् उसका अनुभव करते हैं। मुसलमानों में रहस्यवादी लोग 'सूफी' (अर्थात् सूफ वा मोटी ऊन पहनने वाले; यह नाम उनके सादे और त्यागमय जीवन के कारण पड़ा था) कहलाते थे। रहस्यवाद का इतिहास पुराना है। उपनिषदों से लेकर मध्यकालीन सन्तों में होती हुई आधुनिक काल तक यह धारा कभी अविरल रूप से और कभी-कभी कुंठित गति से बहती चली आई है। रहस्यवाद का वर्ण्य विषय यद्यपि भाषा का विषय नहीं (कुछ यूनानी मर्मी लोग तो मौन ही रहा करते थे), तथापि हृदय की बात बिना प्रकाश में आये नहीं रहती; आनन्द का सागर जब उमड़ता है तब उसका प्रभाव किसी न किसी भाषा में व्यक्त होता ही है। गूँगा भी सैना-बैना से काम लेता ही है। कभी-कभी उद्वेलित हृदय की भावनाएँ मीरा के से गीतों में प्रकाश पाने लगती हैं। यद्यपि वह सत्ता वाणी की पकड़ में नहीं आती 'एक कहूँ तो है नहीं दोय कहूँ तो गारि', तथापि बिना कहे हृदय की उमंग पूरी नहीं होती। कबीर ने उसे बोल और अबोल के बीच में कहा है 'बोल-अबोल मध्य है सोई। बात यह है कि 'बोलत बोलत तन्त नसाई' उसी के साथ यह भी है कि जिसका मन आनन्द से भर जाता है उस से बिना बोले रहा भी नहीं जाता—'बिन बोले क्यों होई बिचारा।'

प्रेम की पूर्ण व्यंजना तो नहीं होने पाती 'याही सों अधखिली रही यह प्रेम की कली है' तो भी कुछ न कुछ व्यंजना अवश्य होती है। भावाधिक्य के ही कारण रहस्यवाद की भावनाओं का प्रस्फुटन कविता में हुआ है और भाषा की अपूर्णता के ही कारण संकेतों का प्रयोग करना पड़ता है। नश्वर स्वर में अनश्वर के गीत गाना कठिन होता है; इसीलिए मनुष्य अपने नश्वर अनुभव की भाषा में अलौकिक भावों को व्यक्त करता है। सांकेतिक भाषा के दो उदाहरण देना पर्याप्त होगा। एक कबीर का, दूसरा सूरदास का।

काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी
तेरे हि नाल सरोवर पानी
जल में उत्पति जल में वास
जल में नलिनी तोर निवास।

यहाँ पर जल परमात्मा है, नलिनी जीव है। जल में रहकर भी नलिनी का दुखी होना आश्चर्य की बात है। यह उदाहरण कबीर की कविता से है। दूसरा उदाहरण सूरदास का है। इसमें भक्ति का प्राधान्य दिखलाई पड़ता है—

'चकई री ! चलि चरन-सरोवर जहाँ न प्रेम-वियोग।'

यह बिछुड़ी हुई आत्मा के परमात्मा के साथ शाश्वत मिलन का प्रकार है।

मनुष्य अपने प्रेम के अनुभव के आधार पर ही ईश्वरीय प्रेम का वर्णन करता है। तुलसीदास के शब्दों में ईश्वर और मनुष्य के अनेक नाते हैं, 'तोहि मोहि नाते अनेक'; किंतु अनुभव की तीव्रता के कारण अधिकतर लोगों ने दाम्पत्यभाव को प्रधानता दी है।'

इसीलिए रहस्यवाद में शृंगारिक भाषा का प्रयोग होता है और कभी-कभी प्रेम की मस्ती तथा शास्त्रीय कर्मकांड से परे होने की भावना को हाला का रूप दिया जाता है। कबीरदास जी राम की बहुरिया बनकर गौने जाने की बात करते हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र भी शृंगारिक भाषा में कहते हैं 'ऐकला आमि वाहिर होलेम तोमार अभिसारे'। जायसी सांकेतिक भाषा में प्रेमी से कहलाते हैं कि प्रेमिका का ही नाम हर जगह सुनाई पड़ता है। इसमें व्यक्तिगत प्रेम एकात्मवाद में परिणत होजाता है।

परगट गुपुत सकल महँ पूरि रहा सो गाँव।
जहँ देखौ तहँ ओही, दूसर नहिं जहँ जाँव॥

रहस्यवाद में मिलन के सुख और वियोग के दुख दोनों की ही अभिव्यंजना रहती है। यह मिलन दो प्रकार का होता है—एक पक्ष के लोग तो कबीर की भाँति बूँद और समुद्र का सा मिलन मानते हैं जिसमें व्यक्तित्व का नाश हो जाता है—'बूँद समानी समँद में सो कत हेरया जाइ' और भक्त लोग चन्द्र और चकोर का सा व्यक्तित्व-पूर्ण मिलन चाहते हैं—'रामचन्द्र तू चन्द्र चकोर मोहि कीजिए'।

वर्तमान काल के हिंदी साहित्य में कुछ कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रभाव से और कुछ स्वतन्त्र कारणों से रहस्यवाद की प्रवृत्ति है। यद्यपि आजकल के लोगों में मीरा और कबीर की साधना, त्याग-भावना, तन्मयता और अनुभूति नहीं है तथापि हमारे वर्तमान कवियों ने भी अपनी कल्पना के सहारे आध्यात्मिक मिलन और वियोग का अच्छा वर्णन किया है। इन वर्णनों में अनुभूति नहीं

तो अनुभूति का आभास अवश्य है। आजकल वियोग के दुःख का अधिक रूप से वर्णन किया जाता है। महादेवी जी तो वियोग को ही सुख मानती हैं—

युग युगान्तर की पथिक मैं छू कभी लूँ छाँह तेरी
ले फिरूँ सुधि दीप-सी, फिर राह में अपनी अँधेरी।

हम आजकल के कवियों में दोनों प्रकार के अर्थात् द्वैत मूलक व्यक्तित्वपूर्ण मिलन तथा व्यक्तित्व खोने वाले मिलन के वर्णन पाते हैं। व्यक्तित्व-पूर्ण मिलन का उदाहरण लीजिए—

आनन्द बन जाना हेय है
श्रेयस्कर आनन्द पाना है।

श्रीमती महादेवी वर्मा अपने को खो देने में ही अपने जीवन का चरम लक्ष्य समझती हैं—

क्या अमरों का लोक मिलेगा
तेरी करुणा का उपहार,
रहने दो हे देव! अरे
यह मेरा मिटने का अधिकार।

श्री सुमित्रानन्दन पंत के 'परिवर्तन' में हम प्रकृति संबन्धी रहस्यवाद की अच्छी झलक देखते हैं।

वर्तमान काल में रहस्यवाद और छायावाद का दुरुपयोग अवश्य हुआ है। रहस्यवाद की भाषा भी रुढ़ि-ग्रस्त हो गई है। सभी लोग हृदयतंत्री के टूटे तारों से अनन्त का राग अलापते हैं, किन्तु कुछ कवियों के काव्य में कवित्व के दर्शन अवश्य होते हैं। यदि रहस्यवाद में खराबी है तो इतनी ही है कि कुछ लोगों ने उसे कविता

का एक मात्र विषय बना लिया है और वर्तमान कविता जीवन से बहुत दूर हो गई है। पृथ्वी को छोड़ कर आकाश में उड़ना उचित नहीं है। वायुयान भी पहले धरातल पर चलकर फिर आकाश में उड़ान लेता है। जीवन के क्षेत्र काव्य के क्षेत्र के साथ अधिक विस्तृत हैं। काव्य को रहस्यवाद में ही संकुचित करना उसके साथ अन्याय करना है। हर्ष की बात है कि अब हमारे छायावादी कवि जीवन की ओर भी झुक रहे हैं। 'युगान्त', 'युग-वाणी' और 'ग्राम्या' में पंत जी का जीवन की ओर झुकाव अधिक है। वर्तमान रहस्यवाद अनुभूति-पूर्ण न होता हुआ भी निरीश्वरवाद और भौतिकवाद से अच्छा है, इसलिए हमको उसका तिरस्कार नहीं करना चाहिए।

---

३८. सत्यं शिवं सुन्दरम्

किसी वस्तु के प्रचार पा जाने पर लोग उसकी उत्पत्ति वा इतिहास के संबंध में प्रायः उदासीन हो जाते हैं। नवीनता ही कौतूहल उत्पन्न करती है। जिससे घनिष्ठता हो जाती है उसके कुल और जाति की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' आजकल कला और साहित्य के क्षेत्र में आदर्श-वाक्य सा बन गया है। सब लोग इसी की दुहाई देते हैं और इसको वेद-वाक्य नहीं तो उपनिषद्-वाक्य अवश्य समझते हैं; क्योंकि इसका प्रचार अधिकतर ब्रह्मसमाज से ही हुआ है। वास्तव में यह यूनानी दार्शनिक अफ्लातून के 'The True, The Good, The Beautiful' का अनुवाद है। अनुवाद इतना सुन्दर और फबता हुआ है कि यह वाक्य हमारे यहाँ की देशी भाषाओं में घुलमिल गया है। वास्तव में बात यह है कि विचार क्षेत्र में, देशी-विदेशी का झगड़ा नहीं रहता। उसमें विश्वात्मकता रहती है। भारतवर्ष के लिए यह विचार नितान्त नवीन भी नहीं है। सत्य और आनन्द का तो समन्वय सच्चिदानन्द में ही होता है। शिवं सुन्दरं का भाव हमको किरातार्जुनीय आदि काव्यों और नीति ग्रन्थों में मिलता है; 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः'। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी साहित्य में हित को प्राधान्य दिया है; देखिये—

'कीरति भणित भूति भलि सोई ।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई ॥

कुछ लोगों ने साहित्य की व्युत्पत्ति 'सहित का भाव' अर्थात् 'हित के साथ होने का भाव' की है और काव्य में जो रस या आनन्द का प्राधान्य है वह सुन्दर का रूपान्तर है। सत्य और सौंदर्य का समन्वय करते हुए कवींद्र रवींद्र 'दादू' नामक बँगला ग्रन्थ की भूमिका में कहते हैं—"सत्य की पूजा सौंदर्य में है। विष्णु की पूजा नारद की वीणा में है।" साहित्य और कला की अधिष्ठात्री देवी हंस-वाहिनी शारदा का शृंगार बिना वीणा के पूरा नहीं होता। नीर-क्षीर-विवेकी हंस सत्य का प्रतीक है। वीणा में सौन्दर्य-भावना की प्रतिष्ठा है। काव्य के उद्देश्यों में 'सद्यः परनिर्वृतये' (तुरन्त उत्कृष्ट आनन्द देना) के साथ 'शिवेतरक्षतये' (अमङ्गल का नाश) और 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' (प्रिया का सा मधुर उपदेश) में हित और सुन्दर दोनों ही बातें आ जाती हैं। 'सत्यं शिवं सुन्दरं' की उत्पत्ति चाहे जिस देश और काल में हुई हो उसमें हमें एकाएक सत्य के दर्शन होते हैं।

सत्यं शिवं सुन्दरं विज्ञान, धर्म और काव्य के परस्पर सम्बन्ध का सूत्र है। विज्ञान केवल सत्य की ओर जाता है। शिवं उसके लिए गौण है और सुन्दरं उसकी उपेक्षा की वस्तु है। विज्ञान में सत्य के आगे शिवं और सुन्दरं को दब जाना पड़ता है। वैज्ञानिक नग्न सत्य का, वह चाहे जितना भयावह क्यों न हो, एकान्त उपासक है। वह 'बावन तोले पाव रत्ती' सत्य चाहता है। उसके लिए बीभत्सता कुछ अर्थ नहीं रखती। उसने केवल सत्यं ब्रूयात पढ़ा है; प्रियं

ब्रूयात् को वह नहीं जानता। आलंकारिकता यदि सत्य के स्वरूप को रेखा मात्र भी बिगाड़ दे तो उसके लिए वह दोष हो जाती है। वह सत्य के रूप और प्राण दोनों की रक्षा करता है।

धार्मिक शिवं की ओर जाता है। शिवं ही उसके लिए सत्य की प्रतिष्ठा है। वह लक्ष्मी का मांगलिक घटों से अभिषेक कराता है; क्योंकि जल जीवन है, कृषि का प्राण है, मानव-मांगल्य का संकेत है। शिव कल्याण या हित करनेवाले के नाते ही महादेव कहलाते हैं। वेदों में 'शिवसंकल्पमस्तु' का पाठ पढ़ाया जाता है। धार्मिक कोरे सत्य का उपासक नहीं, उसके लिए सत्य मांगलिक रूप धारण करता है। धार्मिक इहलोक की ही रक्षा नहीं करता, वरन् परलोक की भी चिन्ता करता है। वह आत्मा को परम श्रेयस् की ओर ले जाता है।

साहित्यिक सत्यं शिवं सुन्दरं तीनों की उपासना करता हुआ सुन्दरं को प्राधान्य देता है। वह 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्' का पाठ पढ़ाता है। वह हित को मनोहर रूप देता है। सच्चिदानन्द के रूप में सत्, चित्, आनन्द तीनों का आदर करता हुआ रस वा आनन्द को अपना जीवन-प्राण समझता है। उसके हृदय में रसात्मक वाक्य का ही मान है।

साहित्यिक के लिए सत्यं शिवं सुन्दरं में एक-एक विचार को यथाक्रम महत्ता बढ़ती गई है। अब हमको यह देखना है कि वह इन विचारों की किस रूप से पूजा करता है। वह सत्यं को वैज्ञानिक की भाँति अपना धर्म नहीं मानता। वह सत्य के रूप की परवाह नहीं करता, वरन् सत्य की आत्मा की रक्षा करता है।

वह शाब्दिक सत्य नहीं चाहता, घटना के सत्य को अपनाना अवश्य चाहता है; किन्तु उसे सुन्दरं के शासन में रखना चाहता है। गोस्वामी तुलसीदास जी लक्ष्मण को शक्ति लगने पर मर्यादा पुरुषोत्तम राम से विलाप में कहलाते हैं 'तुम जननी के एक कुमारा', 'मिलहि न जगत सहोदर भ्राता', 'पिता वचन मनतौ नहिं ओहू'। इन में से कोई भी वाक्य ऐतिहासिक की कसौटी पर कसने से ठीक नहीं उतरता, किन्तु काव्य में इनका महत्त्व वास्तविक सत्य से भी अधिक है। इनके द्वारा श्रीरामजी के हृदय का भाव प्रगट होता है। राम का शोकावेग तथा उनके भाई के प्रति भाव और लक्ष्मण के महत्त्व की अभिव्यंजना करने के लिए इससे अच्छा साधन न था। इंगलैंड के अमर कवि शेक्सपीयर की 'डेज़डीमोना' मिथ्याभाषण में ही अपने हृदय के सत्य का उद्घाटन करती है। वह अपने भाई से यह कहकर कि मैंने स्वयं अपने को मार डाला है अपने दाम्पत्य प्रेम का परिचय देती है। कभी-कभी काव्य के लिए सत्य मिथ्या का रूप धारण कर 'सुन्दरं' का मान रखता है। जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास अपनी अनन्यता में 'तुलसी मस्तक तब नवै धनुष बाण लेहु हाथ' कहकर कृष्ण को राम के रूप में ही देखना चाहते थे, उसी प्रकार कवि 'सत्यं' को भी 'सुन्दरं' के रूप में देखना चाहता है। इसमें सत्य की अप्रतिष्ठा नहीं। वह सत्य की अवहेलना नहीं करता, वरन् उसको ग्राह्य रूप में देखना चाहता है। ग्राह्य रूप देने की प्रक्रिया में सत्य की यदि कुछ काट-छाँट होजाय तो वह अपने आदर्श की पूर्ति के अर्थ सत्य की उतनी हानि को शिरोधार्य समझेगा। कवि यद्यपि स्वतंत्र है, तथापि वह सत्य की नितान्त अवहेलना नहीं

कर सकता। उसकी कल्पना से रचे हुए महल चाहे हवाई किले कहलावें किन्तु उनकी आधार-शिला दृढ़ वास्तविकता में ही रहती है। वह सत्य को सुन्दरं का रूप देने में सीमा से बाहर नहीं जाता। मूल घटना का वह आदर करता है, किन्तु उसकी व्याख्या और कारणों में अन्तर करने की स्वतंत्रता रखता है। यह केवल इसलिए कि उसके द्वारा वह सैद्धान्तिक सत्य का उद्घाटन करना चाहता है। 'शकुन्तला' में अँगूठी और शाप की कथा कल्पना है। किन्तु उससे इस सत्य की रक्षा होती है कि दुष्यन्त का सा प्रेमी हृदय बिना किसी दैवी कारण के अपनी प्रियतमा की केवल राजनीतिक कारणों से अवहेलना नहीं कर सकता। कवि लोग मुँह में सोना डालकर नहीं बैठते। वे विश्वामित्र की सी नई सृष्टि रचने में भी संकोच नहीं करेंगे किन्तु वे संगति और सम्भाव्य का अवश्य ध्यान रक्खेंगे। वे कल्पना के घोड़े को असंभव क्षेत्र में नहीं दौड़ायेंगे पर वे उसका सदा संगति की लगाम से नियन्त्रण करते रहेंगे।

यद्यपि आजकल कलावाद (कला कला के लिए ही है) की झोंक में कुछ कविगण सत्यं और शिवं की अवहेलना कर कहते हैं कि काव्य का नीति से कोई संबंध नहीं, तथापि यह बात जनता को मान्य नहीं हुई। जनता सुन्दरं की उपासक है, किन्तु सुन्दरं को सत्यं और शिवं के अलंकारों से अलंकृत देखना चाहती है। यह बात ठीक है कि सुन्दरं किसी दूसरे के शासन में नहीं रह सकता और उसके लिए उसके ही नियम लागू होंगे, तथापि वह मनुष्य की मनोवृत्तियों में विद्रोह नहीं उत्पन्न करेगा। साम्य ही सुन्दरं का

मुख्य लक्षण है। सुन्दरं साम्य की उपेक्षा कर अपनी आत्महत्या न करेगा। नीति की रक्षा में सुन्दरं की भी रक्षा है। गंगा-जल की भाँति काव्य में पवित्रता और प्यास बुझाने तथा नीरोगता प्रदान करने का गुण एक साथ होना चाहिए।

सुन्दरं तो साहित्य का उपास्य और इष्ट-देव है। वह सत्य कहेगा किन्तु लट्ठ-मार सत्य न कहेगा। काव्य के उद्देश्यों में कहा गया है कि काव्य का उपदेश प्रिया के उपदेश का सा माधुर्य-मंडित होता है। कविवर विहारी यदि राजा को लट्ठमार उपदेश देते तो शायद वे उपदेश देने में असफल तो रहते ही, दरबार से भी अनादर के साथ निकाले जाते। किन्तु उनके "नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल" वाले दोहे ने जादू का काम किया। साहित्य सुन्दरं को इसीलिए प्राधान्य देता है कि कला में विचार के साथ प्रेषणीयता (Communicability) का भी भाव लगा रहता है। कवि अपने भाव को संसार तक पहुँचाना चाहता है। उसके पास लोगों के हृदय-द्वार खोलने के लिए सौंदर्य की ही कुंजी है। वह सौंदर्य का आवेशन चढ़ा कर कटु से कटु सत्य को ग्राह्य बना देता है। रवि बाबू की 'चित्रांगदा' की भाँति कवि की वाणी सौंदर्य के प्रभाव से मानव रूपी अर्जुन के हृदय में प्रवेश कर उसको अपने गुणों से मुग्ध कर लेती है। इसलिए कवि सौन्दर्य का उपासक है। सौंदर्य में साम्य और समन्वय की भावना निहित रहती है। सौंदर्य में सत्य और शिव दोनों का सन्निवेश है।

---

३९. भक्ति की रीति निराली है

भारतवर्ष में आदिकाल से ईश्वर-प्राप्ति के तीन मार्ग माने गये हैं, ज्ञान, कर्म और भक्ति। यद्यपि ज्ञान पंथ 'कृपाण की धारा' बतलाया गया है और कर्म की गहना गति कही गई है, तथापि वेदों और शास्त्रों ने इन दोनों मार्गों को निश्चित रूप दिया है। 'भक्ति' हृदय का विषय है, हृदय की गति स्वच्छन्द है, वह नियम और शासन से बाहर है। प्रेम का पाठ पढ़ाये से नहीं पढ़ा जाता। 'प्रेम न तो बाड़ी में उपजता है और न हाट में बिकता है।' 'प्रेम' का उदय हृदय में होता है। वेद उसका भेद नहीं जानते। योग उसके वियोग में संयोग उत्पन्न करने में असमर्थ रहता है—'ऊधो जोग जोग हम नाहिं'। सूत्र उसको बाँध नहीं सकते, धर्मशास्त्र उसको शासन में नहीं ला सकते, दर्शनशास्त्र भी उसके लिए कोई महत्त्व नहीं रखते—'नाँय कराय सकै षट दरसन दरसन मोहन तेरो। दिन दिन दूनो कौन बढ़ावै या हिय माँझ अँधेरो।' राज-विधान में उसके लिए स्थान नहीं। घर, बार, मान-मर्य्यादा, कुल की कानि, सब का प्रभाव विफल होता है—

> कित्ती न गोकुल कुल-बधू काहि न किहि सिख दीन।
> कौनै तजी न कुलगली ह्वै मुरली-सुर लीन॥

भक्त की यही दशा होती है। उसे जाति-पाँति का कुछ ख़याल नहीं रहता। 'हरि को भजे सो हरि को होई', न वह हिन्दू रहता है और न मुसलमान, न ईसाई, न जैन—'हाँ हम सब पंथन ते न्यारे, लीनो गहि अब प्रेम-पन्थ हम और पंथ तज प्यारे'। उसे तो अपनी ही धुन रहती है। मीरा की भाँति उसको धन-धान्य, राजपाट, ज्ञान और गौरव सब हेय हो जाते हैं—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।
सन्तन ढिग बैठि बैठि लोक-लाज खोई॥

भक्ति के प्रभाव से सब सांप्रदायिक विरोध नष्ट हो जाते हैं। हिन्दू-मुसलमान का भेद नहीं रहता। देखिए एक मुसलमान कवयित्री क्या कहती है—

नंद के कुमार कुरबान ताँड़ी सूरत पे
ताँड़ नाल प्यारे, हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी मैं।

जिस प्रकार उसके लिए जाति-पाँति का ध्यान नहीं रहता उसी प्रकार उसे अपना भी ध्यान नहीं रहता। उसे मुक्ति की भी चाह नहीं रहती, उसे तो केवल 'प्रेम' की चाह रहती है। वह यदि कुछ माँगता है तो संत तुलसीदास जी की तरह यही कहता है कि 'देहु भक्ति अनपायिनी'। उसको एक ही बल, एक ही भरोसा और एक ही आशा तथा विश्वास रहता है। वह यही चाहता है कि वह चकोर की भाँति अपने प्रियतम को देखता रहे। वह हानि-लाभ सुख-दुख को भी कुछ नहीं समझता। वह दुख को भी सुख मानता है, वह द्रौपदी की भाँति दुखों का स्वागत करता है; क्योंकि दुख में भगवान की याद आती है।

वह कठिनाइयों से विचलित नहीं होता, प्रेम का वदला भी नहीं चाहता, प्रेम करना ही उसका एक-मात्र लक्ष्य वन जाता है। वस उसकी चातक की सी गति हो जाती है—

उपल वरखि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक जलद तजि, कवहुँ आन की ओर॥

धन-वैभव घट जाने की उसको परवाह नहीं, भौतिक वल की उसे चिंन्ता नहीं। उसे यदि चिन्ता है तो केवल इस वात की कि उसका प्रेम न वटे—

स्रवन घटहु, अनि दृग घटहु, घटहु सकल वल देह।
इते वटे घटिहै कहा, जो न वटे हरि नेह॥

भक्त को भगवान के न मिलने पर दुख होता है। वह उस दुख की भी सराहना करता है। विरह का शाप उसको वरदान हो जाता है। कवीर की भाँति वह विरह-शून्य हृदय को मसान समझता है। विरह का काँटा उसके हृदय में खटकता है, किन्तु वह उसकी कसक को मधुर समझता है—

कहा निकासन आई उर ते काँटो, अरी हठीली।
चुभ्यौ रहन दै, लागति नीकी वाकी कसक चुभीली॥

यह तो भक्त का निरालापन है कि वह काँटे को भी नहीं निकालने देता; वह उपदेष्टा को उलटा उपदेश देता है। ऊधो गोपियों को समझाने आते हैं, उन्हें योग की शिक्षा देते हैं, वैराग्य का महत्त्व वतलाते हैं, प्रेम-दुःख से गोपियों को मुक्त करना चाहते हैं, लेकिन क्या उत्तर मिलता है!

श्याम गति, श्याम मति, श्याम ही हैं प्रानपति,
श्याम सुखदाई सों भलाई सोभाधाम हैं।
ऊधो तुम भये बौरे, पाती लैके आए दौरे,
योग कहाँ राखें यहाँ रोम-रोम श्याम हैं।

× × × ×

कान्ह भये प्रानमय प्रान भये कान्हमय,
हिय में न जान परै कान्ह हैं कि प्रान हैं।

योग के उपदेष्टा ऊधो भी इस उत्तर को सुनकर दंग रह जाते हैं। आत्म-विस्मृति उनको भी घेर लेती है—

लखि गोपिन को प्रेम, नेम ऊधो को भूल्यौ।
गावत गुन गोपाल फिरत कुंजन मैं फूल्यो॥
खिन गोपिन के पग धरै धन्य तुम्हारो नेम।
धाइ-धाइ द्रुम भेटही ऊधो छाके प्रेम॥

भक्त के लिए संसार की सभी बातें उलटी होती हैं। वह श्याम रंग में डूबने को उज्ज्वल होना समझता है—'ज्यों-ज्यों बूड़ै श्याम रंग, त्यों-त्यों उज्जलु होय'। उसके लिए सोना और जागना एक हो जाता है। मरण ही उसके लिए जीवन होता है।

पाने में मैं तुमको खोऊँ
खोने में समझूँ पाना;
यह चिर अतृप्ति हो जीवन
चिर तृष्णा हो मिट जाना!

क्या ही सुन्दर भाव है! संसार के सुख और ऐश्वर्य को पाने में प्रियतम को खोना है और संसार को खो देने में प्रियतम को

पाना है। अतृप्ति ही जीवन है। प्रेम-पिपासा मिटती नहीं, यदि उसको तृष्णा है तो बस मिट जाने की।

भक्त जन विरोधों के संघात बन जाते हैं। कभी तो दीन से भी दीन, कभी हठी से भी हठी दिखाई पड़ते हैं। कभी तो 'हौं सब पतितन को टीको'; 'मो सम कौन कुटिल खल कामी......, पापी कौन बड़ो है मोते सब पतितन में नामी, सूर पतित को ठौर कहाँ है, सुनिए श्रीपति स्वामी' ; 'सूरदास द्वारे ठाढो आँधरो भिखारी' कहते हैं और कभी अकड़ बैठते हैं और लड़ने को तैयार हो जाते हैं—

आज हौं एक-एक करि टरिहौं
कै हमहीं कै तुमहीं माधव, अपुन भरोसे लरिहौं।

भक्त के लिए कोई नियम नहीं, कोई शृंखला नहीं, कोई बंधन नहीं। वह स्वच्छन्द है, वह उन्मुक्त है, वह अपनी धुन का पूरा है। यदि उसकी कोई चीज़ स्थिर है तो उसकी लगन है, इसके सिवाय उसके मन की बात जानना कठिन है। वह कभी रोता है और कभी हँसता है, कभी रीझता और कभी खीझता है। वह इस संसार में नहीं रहता, उसकी मथुरा तीन लोक से न्यारी होती है। उसके हृदय का रहस्य वही जानता है। उसके भीतरी मर्म को—दर्द को—सांसारिक लोग नहीं समझ सकते। 'जाके पाँय न परी बिवाई, सो का जाने पीर पराई'। भक्ति की रीति भक्त ही जानता है। सांसारिक लोग तो बस इतना ही कह सकते हैं कि—

'प्रेम को पैंड़ो ही है न्यारो।'

---

४०. शिक्षा का ध्येय

इस संसार का प्रत्येक मनुष्य कुछ शक्तियों और प्रवृत्तियों को लेकर जन्म ग्रहण करता है। चाहे पूर्वजन्मार्जित संस्कारों के कारण, और चाहे वंशपरंपरागत संस्कारों के हेतु, ये शक्तियाँ और प्रवृत्तियाँ सब मनुष्यों में भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। इसी कारण सब मनुष्य एक से नहीं होते और जीवन व्यापार के अर्थ इनकी पूँजी भी एक दूसरे की अपेक्षा न्यूनाधिक होती है। इसी को 'गाँठ की अक़्ल' कहते हैं। जब किसी मनुष्य पर समझाने का असर नहीं होता तब पूछते हैं कि कुछ गाँठ की भी अकल रखते हो? गाँठ की पूँजी नये संस्कारों द्वारा बढ़ाई जाती है। इन्हीं नये संस्कारों को जिनके द्वारा मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों और शक्तियों को पूर्णरूप से विकसित कर मनुष्य को जीवन-संग्राम के योग्य बनाया जाता है, शिक्षा कहते हैं।

जिस प्रकार उत्तम बीज को सफल वृक्ष बनाने के लिए उपयुक्त जलवायु, अच्छे खाद और पर्याप्त सिंचन की आवश्यकता है, इसी प्रकार जीवन संग्राम में सफलता प्राप्त करने के लिए शिक्षा की आवश्यकता है। शिक्षा केवल स्कूलों में ही नहीं दी जाती, वरन् सारा जीवन ही एक बड़ा शिक्षालय है। यद्यपि यह बात बिलकुल

ठीक है, तथापि जो संस्कार बाल्यकाल में बन जाते हैं वे जीवनभर के सुख और दुःख का कारण होते हैं। इसीलिए बाल्यकाल की शिक्षा बड़ा महत्त्व रखती है।

यह शिक्षा पढ़ना-लिखना सिखाने में ही समाप्त नहीं होती, वरन् बालक को पूर्ण मनुष्य बनाना ही इसका मुख्य ध्येय है। पूर्ण मनुष्य किसे कहते हैं ? पूर्ण मनुष्य वह है जिसकी बौद्ध (अर्थात् बुद्धि संबंधिनी), भावात्मक और संकल्पात्मक (अर्थात् क्रियात्मक) मानसिक शक्तियाँ एवं शरीर की भौतिक शक्तियाँ पूर्णतया विकसित हों और जैसा उसका शरीर और मन बलवान हो वैसी ही उसकी आत्मा भी बलवान हो। मनुष्य अपनी बुद्धि द्वारा संसार को समझकर उसके नियमों से लाभ उठा सकता है। वह अपनी भावात्मक शक्तियों द्वारा मनुष्यों के साथ सद्व्यवहार कर उनके साथ प्रीति-पूर्वक रह सकता है। जिस के भाव और मनोयोग नियमित नहीं, जो अनुचित क्रोध करता है, जो समय पर अपने मनोगत भावों को प्रकाशित नहीं कर सकता, जो ईर्षा-द्वेष के जाल में फँसा रहता है, जो अपने अनुराग को संयमित नहीं रख सकता, वह जीवन में असफल रहता है। जिस प्रकार मनुष्य में सद्विचार आवश्यक है, उसी प्रकार दृढ़ संकल्प भी आवश्यक है। संकल्प के बिना क्रिया नहीं होती। विचार संकल्प और क्रिया के बिना पंगु हैं और विचार के बिना क्रिया अंधी है। बिना भाव के जीवन भी शुष्क और नीरस है। जिसके हृदय में प्रेम नहीं वह मनुष्य मनुष्य नहीं। सत्-शिक्षा विचार, भाव और संकल्प तीनों का सुखद साम्य स्थापित कराती है। वह मनुष्य को धर्म, अर्थ और काम तीनों

के उचित मात्रा में उपार्जन करने में सहायक होती है। वह मन को विकसित, शरीर को पुष्ट और आत्मा को उच्चाशय वाली बनाती है। हमारी शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे हमारे विचारों में मौलिकता आवे, हमारा ज्ञान जीते जागते पौधे की भाँति फूल-फल सके। वह हमारे मानसिक संस्थान का अंग बन जावे, मूल-रहित गुलदस्ते की भाँति न रहे, जो परीक्षा के बाद चार दिन में ही सूख जावे।

हमें वह शिक्षा चाहिए जिससे हमारी भाषा में शक्ति उत्पन्न हो, हमारे चरित्र में बल पैदा हो, हमारा शरीर हृष्ट-पुष्ट और सक्रिय रहे, हम सबसे प्रेम-पूर्वक व्यवहार कर सकें, साहित्य, संगीत और कला के अनुशीलन से अपना और अपने समाज का जीवन सुखद बना सकें और जिससे हम स्वतन्त्र आजीविका उपार्जन कर अच्छे नागरिक बन सकें। आजीविका का प्रश्न बड़ा जटिल होता जा रहा है। अब हमको हाथ-पैर से काम करके ही आजीविका कमानी होगी। ऐसा न करने से हम जीवन संग्राम में न डट सकेंगे। अब स्कूलों का रूप बदल जायगा। वे कारखानों का रूप धारण कर लेंगे।

जन-समाज के हित के लिए प्रत्येक मनुष्य का अच्छा नागरिक बनना उतना ही आवश्यक है जितना कि उसका मनुष्य होना; क्योंकि मनुष्य सामाजिक जीव है, उसका रहन-सहन, जीवन-मरण समाज में ही होता है। समाज के बिना मनुष्य ऐसा है जैसे तालाब के बिना कमल। जो शिक्षा मनुष्य को केवल मनुष्य बनाकर छोड़ देती है वह अपूर्ण है, क्योंकि मनुष्य की पूर्णता समाज में ही है। शिक्षा मनुष्य को नागरिक जीवन के लिए तैयार करती है। यह

तैयारी ऐसी होनी चाहिए जिससे कि मनुष्य समाज के विकास में रुकावट न बनकर उसका सहायक बने।

सारांश यह कि शिक्षा का ध्येय मनुष्य को उपाधियों से विभूषित करना नहीं, वरन् मनुष्य की शारीरिक, मानसिक, और आत्मिक उन्नति कर उसको पूर्ण मनुष्य तथा चरित्रवान बनाना और सामाजिक हित की दृष्टि से उसे आदर्श नागरिक बनाना है। ये अक्षर-ज्ञान की उपाधियाँ तो उस ध्येय की पूर्ति के लिए साधन-मात्र हैं। उपाधियाँ एक प्रकार से सरकारी नौकरियों के लिए प्रवेश-पत्र हैं। सब उपाधिधारी नौकरी भी नहीं पाते। नौकरी पा लेना ही जीवन की सफलता की कसौटी नहीं। नौकरी पा लेने पर भी जो मनुष्य जीवन-संग्राम में पूरा नहीं उतरता वह शिक्षित नहीं कहा जा सकता। राष्ट्र और समाज के प्रति जो व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों को निभा नहीं सकता वह शिक्षित नहीं कहा जा सकता।

---

४१. वर्तमान शिक्षा के गुण-दोष

अपने लक्ष्य को पूरा करना ही वस्तु का सबसे बड़ा गुण है, और उसको पूरा न करना सबसे बड़ा दोष। अमृत का मूल्य उसकी संजीवनी शक्ति में है और विष का मूल्य उसकी मारण शक्ति में।

शिक्षा के गुण-दोष उसके लक्ष्य को पूरा करने अथवा न करने पर निर्भर हैं। शिक्षा का लक्ष्य क्या है? मनुष्य की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों का पूर्ण विकास करके मनुष्य को समाज में अपना कर्त्तव्य-पालन एवं साम्यमय जीवन व्यतीत करने के योग्य बनाना। इस ध्येय को सम्मुख रखते हुए हमको देखना चाहिए कि वर्तमान शिक्षा-पद्धति ने कहाँ तक इस की पूर्ति की है?

वर्तमान शिक्षा ने विद्यार्थियों के मानसिक विकास की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया है। वर्तमान शिक्षा ने इस बात का उद्योग अवश्य किया है कि विद्यार्थियों का दृष्टिकोण व्यापक बनाया जावे। वे कूप-मंडूक की भाँति न रहें और वे मानव-समाज के ऊँचे मस्तिष्क के संपर्क में आ जावें। जो वैज्ञानिक ज्ञान आजकल के कालेज के विद्यार्थी को होता है वह शायद अरस्तू और सुकरात को भी प्राप्त न था। दूर देशों का कोई ऐसा नवीन सिद्धान्त नहीं, जिसको हमारे विद्यार्थी न जानते हों। संसार में जितनी उन्नति हुई है, उससे विद्यार्थीगण अनभिज्ञ नहीं रक्खे जाते। यह सब होते हुए भी वर्तमान शिक्षा विद्यार्थियों में मौलिकता उत्पन्न करने में असमर्थ

रही है। जब तक हम संसार से ज्ञानोपार्जन करके बदले में उसको कुछ न दें तब तक हमारा अध्ययन ऐसा ही है जैसा दिन भर चारपाई पर पड़े रहने वाले का भोजन करना।

मौलिकता के अभाव का कारण भारतीय विद्यार्थियों के मस्तिष्क की कमी नहीं, वरन् इसके लिए शिक्षा-पद्धति ही उत्तर-दायिनी है। गुरु का कार्य सोना बनाना नहीं वरन् अपना सा पारस बनाना है। विद्यार्थी स्वयं चाहे सोना बन जाय किंतु वह स्वयं आविष्कारक नहीं बनता। सर जगदीशचन्द्र बसु और आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय जैसे व्यक्ति खोजने से ही मिलते हैं। इसके दो मुख्य कारण हैं। एक तो मातृ-भाषा का हमारी शिक्षा का माध्यम न होना और दूसरा यह कि आजकल पाठ्य-विषय केवल मानसिक व्यायाम रहते हैं, उनमें न व्यावहारिकता लाई जाती है, और न उपयोगिता और न वे रुचिकर बनाये जाते हैं।

मातृ-भाषा माध्यम न होने के कारण कालेज की शिक्षा द्वारा अर्जित ज्ञान हमारे मानसिक संस्थान का अंग नहीं बनता। वह जीते-जागते पौधे की भाँति नहीं होता, वरन् गुलदस्ते के फूलों की भाँति अनुत्पादक रहता है। वह ज्ञान सफल नहीं हो सकता। मातृ-भाषा को शिक्षा का माध्यम न रखने के कारण विचारों और भाषा का अस्वाभाविक विच्छेद ही नहीं होजाता वरन् पढ़े और अनपढ़ों में भारी अन्तर होजाने के कारण ज्ञान और क्रिया में भी विच्छेद हो जाता है। दूसरी भाषा में होने के कारण ज्ञान के मोटे सिद्धान्त भी साधारण जनता के लिए अगम्य हो जाते हैं और विद्यार्थीगण भी उनको सर्वसाधारण के लिए बोध-गम्य बनाने की

सामर्थ्य नहीं रखते, क्योंकि वे अपनी भाषा में अपने विचार प्रकट करना नहीं जानते।

हमारे विद्यालयों में ज्ञान को व्यावहारिक और रुचिकर वनाने का ध्येय मात्र तो अवश्य है, किन्तु केवल मनोरथ से कार्यसिद्धि नहीं होती। कोर्स वड़ा होता है और समय थोड़ा, और उसी के साथ परीक्षा में पास होना आवश्यक होता है। इस कारण विद्योपार्जन तोते का काम वन जाता है। विद्यार्थीगण विद्या का भार वहन करते हैं किन्तु उसका आनंद नहीं लेते। वालकों की शिक्षा में पाठ्य-विषय को सरल वनाने का उद्योग अवश्य किया जाता है, किन्तु जव तक यह कार्य योग्य शिक्षकों के हाथ में न दिया जावे तव तक यह पर्याप्त रूप से सफल नहीं हो सकता। खेद का विषय है कि शिक्षा-शास्त्र के पारंगत शिक्षक भी अपने ज्ञान का उपयोग नहीं करते। वे पढ़ाने को केवल आजीविका का साधन समझते हैं वास्तविक रुचि नहीं रखते।

शारीरिक विकास का हाल भी मानसिक विकास का सा ही है। खेल-कूद के लिए कार्यक्रम में अवश्य स्थान है। उससे वालकों के शरीर में थोड़ी वहुत स्फूर्ति भी रहती है, व्यायाम भी हो जाता है; किंतु साधन ही ध्येय वन जाता है। स्कूल के खेल-कूद से वालकों में परिश्रम-शीलता नहीं वढ़ती। हाँ, वालचर संस्थाएँ इस ओर ध्यान दे रही हैं। किंतु साधारणतया वर्तमान शिक्षा से विद्यार्थी आलसी और अकर्मण्य होते जाते हैं। उन लोगों को हाथ से काम करने का गौरव यथोचित रूप से नहीं वतलाया जाता। कालेज और स्कूल के खेल-कूदों से इतना लाभ अवश्य है कि उनके द्वारा

सामाजिकता बढ़ती है। विद्यार्थीगण एक दूसरे से व्यवहार करना भी सीखते हैं किंतु उसी के साथ फैशन और फिजूलखर्ची बढ़ती है। यदि यही सामाजिकता सादगी के साथ बढ़ाई जावे तो बहुत ही उत्तम हो।

वर्तमान शिक्षापद्धति में आध्यात्मिकता की ओर बिलकुल ध्यान नहीं दिया जाता। ललित कलाओं का अनुशीलन अवश्य कराया जाता है किंतु उनके साथ कोमल भावों की जाग्रति नहीं की जाती। ललित कलाओं का अनुशीलन तब ही सफल हो सकता है जब जीवन में कुछ मृदुता आवे और साम्य-भाव की जाग्रति हो। कविता, संगीत और चित्रकला का सा साम्य जीवन में आ जाय।

वर्तमान शिक्षा ने स्वतन्त्रता के भावों को अवश्य जाग्रत किया है, किंतु उसके साथ आत्म-संयम में भी कमी आ गई है। सच्ची स्वतन्त्रता आत्म-संयम में है। जो लोग आत्म-संयम करने में असमर्थ रहते हैं वे स्वतंत्रता का सदुपयोग नहीं कर सकते। वर्तमान शिक्षा में धर्म से उदासीनता होती जाती है और उसी के साथ जातीय संस्कृति का भी ह्रास होता जाता है। जातीय संस्कृति को स्थापित रख कर ही मनुष्य जनता में काम कर सकता है और उसको अपनी विद्या से लाभ पहुँचा सकता है।

वर्तमान शिक्षा का सबसे बड़ा दोष उसका बहु-व्यय-साध्य होना है। हमारे विद्यार्थी होस्टलों में प्रायः पचास रुपया मासिक खर्च करते हैं, किंतु जब नौकरी की बात आती है तब तीस-पैंतीस रुपये को भी कोई नहीं पूछता। वर्तमान शिक्षा विद्यार्थी को नौकरी के सिवाय और किसी कार्य के योग्य नहीं रखती। शारीरिक परिश्रम

के कार्य उनकी शान और और शक्ति के बाहर की बात होजाती है। अब शिक्षा का दृष्टि-कोण बदलता जा रहा है। शिक्षालयों में उद्योग-धंदे सिखलाये जाने की योजनाएँ चल रही हैं। प्रांतीय सरकारें वर्धा की योजना को क्रियात्मक रूप देने का विचार कर रही हैं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि वर्तमान शिक्षा ने हमारे मानसिक क्षितिज को विस्तार देते हुए भी हम में गांभीर्य और मौलिकता नहीं उत्पन्न की। शारीरिक विकास की ओर ध्यान देते हुए भी विद्यार्थी को हाथ से काम करने का गौरव और आलस्य-परित्याग का सुख नहीं बतलाया और न उसने शिक्षितों को जनता के साथ मिलकर काम करना सिखाया है। वर्तमान शिक्षा का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसने रहन-सहन को तो ऊँचा कर दिया है, किंतु उसी के साथ धनोपार्जन करने की शक्ति उत्पन्न नहीं की। इस तरह यह केवल असंतोष का कारण बन रही है।

वर्तमान शिक्षा में गुण भी हैं, दोष भी हैं। 'अकरणात् मन्दकरणं श्रेयः' न करने से कुछ करना अच्छा है। संसार ही गुण-दोष-मय है, किंतु शिक्षा के दोषों का दुष्परिणाम बहुत दूर तक जाता है। शिक्षा का संबंध भविष्य से है। यदि हमारी शिक्षा अच्छी है तो हमारा भावी समाज अच्छा बनेगा और यदि हमारी शिक्षा खराब है तो हमारा भविष्य भी खराब होगा और उसका उत्तरदायित्व हम पर है। वर्तमान शिक्षा के जो दोष हैं वे ऐसे नहीं हैं जो दूर न हो सकें। सत्संकल्प और परिश्रम की आवश्यकता है। उससे सब कुछ साध्य है।

---

४२. क्या विज्ञान और कविता का पारस्परिक विरोध है ?

साधारण दृष्टि से विज्ञान और कविता में परस्पर विरोध दिखाई देता है, और यह बात बहुत अंश में ठीक भी है। विज्ञान और कविता के सत्य-सम्बन्धी सिद्धान्त में भेद है। विज्ञान सत्य, केवल सत्य चाहता है। वह सत्य को रोचक और प्रिय बनाने का उद्योग नहीं करता। विज्ञान केवल 'सत्यं' का उपासक है। कवि 'सत्यं' के साथ 'शिवम् और सुन्दरम्' का भी पाठ पढ़ाता है। कवि का ध्येय सत्य अवश्य है किन्तु कवि के सत्य और वैज्ञानिक के सत्य में कुछ अन्तर है। वैज्ञानिक ठोस बाह्य सत्य चाहता है। कवि हृदय की सत्यता देखता है।

वैज्ञानिक आदर्श की ओर नहीं जाता, उसके लिए जैसा है वैसा ही कह देना सत्य है—'जैसा का तैसा' चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ, प्रिय हो अथवा अप्रिय, इसकी वैज्ञानिक को चिन्ता नहीं। कवि 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्' का पक्षपाती है।

वैज्ञानिक बावन तोले पाव रत्ती वाली यथार्थता को अपना ध्येय बनाता है। कवि हृदय की ग्राहकता को अपना लक्ष्य मानता है। वैज्ञानिक विश्व-वैचित्र्य में अपनी बुद्धि द्वारा नियम और

शृंखला खोजकर उनके मानसिक बोध बनाता है। कवि उसी चित्र-विचित्र संसार को अपने भावों और मनोवेगों के राग में रँग कर उसे और भी चित्ताकर्षक बना देता है। एक का काम बुद्धि के बोध से है तो दूसरे का काम हृदय के भावों से है।

फिर क्या विज्ञान और कविता में नितान्त विरोध है ? नितान्त विरोध तो घोर से घोर विरोध में भी नहीं होता। सभी वस्तुओं में वस्तुत्व अथवा विचारविषयत्व की समानधर्मता तो रहती है, किन्तु विज्ञान और कविता में बहुत सी बातों की समता है। जो विरोध है वह इतना ही है जितना समान वस्तुओं में होना चाहिए। दोनों ही का वाङ्मय से सम्बन्ध है। दोनों ही मनुष्य के अनुभव की व्याख्या करते हैं। किन्तु दोनों का कार्यक्षेत्र विभाजित है और इस विभाजन के अनुकूल दोनों की पद्धति में अन्तर है। पद्धति का भेद होते हुए भी दोनों को कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। दोनों ही में आश्चर्य, चमत्कार, नवीनता, खोज-बीन, आनन्द और संलग्नता का कार्य रहता है। दोनों का ही अन्तिम लक्ष्य मनुष्य जाति का हित-साधन है। फिर विरोध कैसा ? जिस प्रकार कवि कल्पना के बिना नहीं चलता उसी प्रकार वैज्ञानिक भी कल्पना बिना पग नहीं रखता। बात-बात पर कल्पना का कार्य है। न्यूटन ने पेड़ से फल गिरते देखा। उसकी कल्पना उसको सौर-मंडल की ओर ले गई। उसने सोचा जिस प्रकार फल पृथ्वी की ओर आकर्षित हुआ उसी तरह सौर-मंडल के पिंड एक दूसरे की ओर गुरुत्व के परिमाण में आकर्षित होते हैं। वाट ने बटलोई की भाप के द्वारा ढक्कन के दृश्य से भाप की शक्ति की कल्पना पर स्टीम ऐंजिन का निर्माण किया। जब

वैज्ञानिक किसी घटना से आश्चर्य-चकित होता है, तभी वह व्याख्या के लिए कल्पना को दौड़ाता है । जब वह किसी एक सिद्धान्त की कल्पना कर लेता है तभी वह निरीक्षण और प्रयोग द्वारा उसकी पुष्टि के अर्थ सामग्री खोजता है। कवियों की कल्पनाएँ भी वैज्ञानिकों के नये-नये आविष्कारों में सहायक होती हैं । जो बात कल कल्पना-मात्र थी वह आज सत्य हो जाती है । उड़ने की इच्छा पहले कवियों के ही हृदय में जागरित हुई थी । उसको आज विज्ञान ने सफल कर दिया । यदि ये कल्पनाएँ न होतीं तो वायुयान भी न होते । कवि मेघदूत का निर्माण करता है तो वैज्ञानिक विद्युतदूत बना लेता है । कवि संसार की विचित्रता से चकित हो उसको मानव-हृदय देकर एक साम्य स्थापित करता है । वैज्ञानिक उस विचित्रता में व्यापक नियमों की खोज कर एक बौद्ध (बुद्धि सम्बन्धी) साम्य स्थापित करता है । दोनों सिंह और सपूत की भाँति पीटी हुई लकीर से हटकर नई राह खोजते हैं । नई राह खोजने में दोनों की प्रतिभा एक-सी होती है । भेद केवल विषय का होता है । दोनों ही के द्वारा मानव जाति का हित-साधन होता है, दोनों ही शक्ति के साधक हैं । यदि एक आध्यात्मिक बल देता है तो दूसरा भौतिक बल । दोनों ही प्रकृति देवी के उपासक हैं । यदि एक उसके सौन्दर्य-निरीक्षण में मग्न है तो दूसरा उसकी सेवा द्वारा मेवा पाने का यत्न करता है और प्राकृतिक नियमों को अपने लाभ का हेतु बनाता है । विज्ञान यद्यपि शुष्क है तथापि उसमें भी उतना ही आनन्द, उतनी ही संलग्नता आ जाती है जितनी कि काव्य में । गगन-मंडल के तारागणों की गति में वैज्ञानिक एक अनुपम लास्य देखता है,

उसी लास्य का लघुतम रूप परमाणुओं के विद्युताणुओं में पाता है। मनुष्य-कंकाल जो वैराग्य का उद्दीपक माना जाता है उसके लिए विकासवाद का रहस्य, जो उसके लिए मुगल-सम्राटों के रंग-महलों के रहस्य से भी अधिक रुचिकर होता है, उद्घाटन करता है। वह वीर विजेता की भाँति अंबर-चुंबित हिमाचल के उन्नतम शिखिर तक जाने में वीर रस के स्थायी उत्साह का पूर्ण परिचय देता है। जो सौन्दर्य कवि को फूलों में मिलता है उसी सौन्दर्य को वह फूलों की जड़ों में भी देखकर परमात्मा की वुद्धिमत्ता की सराहना करता है।

वैज्ञानिक और कवि दोनों ही आश्चर्य-चकित वालक की भाँति सृष्टि का रहस्य जानने की चेष्टा करते हैं। दोनों एक लक्ष्य की ओर जा रहे हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न मार्ग से। दोनों ही सरस्वती के लाड़ले पुत्र हैं; दोनों ही से मनुष्य-जाति उपकृत है। एक ने हृदय की तुष्टि की है तो दूसरे ने मस्तिष्क की। यदि एक ने मनुष्य को मानसिक सुख दिया है तो दूसरे ने भौतिक सुख का संपादन किया है। यदि एक ने प्राकृतिक शक्तियों को मनुष्य का हृदय प्रदान कर मनुष्य का सहचर बनाया है तो दूसरे ने उन शक्तियों का वुद्धि द्वारा नियंत्रण कर उनको मनुष्य का अनुचर बनाया है। दोनों में कोई छोटा-वड़ा नहीं है। दोनों में विभिन्नता होते हुए भी समानता है, दोनों की वृषभानुजा और हलधर के वीर की सी जोड़ी है।

---

४३. वर्तमान वैज्ञानिक आविष्कारों का महत्त्व

अन्य शास्त्रों की भाँति विज्ञान का भी इतिहास बहुत प्राचीन है, किंतु वैज्ञानिक उन्नति की बाढ़ जैसी हम आजकल देखते हैं, वैसी उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से ही प्रारंभ होती है।

विज्ञान की कई शाखाएँ हैं। प्रत्येक में भिन्न-भिन्न आविष्कारों द्वारा उन्नति हुई है। यद्यपि सभी विद्याएँ मनुष्य के लाभार्थ हैं, तथापि कुछ वैज्ञानिक आविष्कार ऐसे हैं जिनका मनुष्य जाति के हित से सीधा संबंध है और कुछ ऐसे हैं जिनकी क्रियात्मक उपयोगिता कम है, परन्तु जिन्होंने मनुष्य के ज्ञान में हलचल मचा दी है और जिनका मनुष्य जाति की क्रियाओं पर बहुत कुछ प्रभाव है।

हम पहले प्रकार के आविष्कारों का पहले वर्णन करेंगे। वाष्प-संबंधी कलें, वेतार का तार, वायुयान, विद्युत् का प्रकाश, दूरवीक्षण यंत्र, ऐक्स-रे, और रेडियम पहले प्रकार के आविष्कारों में है। इन आविष्कारों के सहारे मनुष्य ने देश और काल पर विजय पा ली है। महीनों और वर्षों का सफर घंटों और दिनों में तय हो जाता है, और वात की वात में संसार के इस छोर से उस छोर तक मनुष्य की पहुँच हो जाती है। ऐक्स-रे और रेडियम की किरणें स्थूल पदार्थों में भी प्रवेश कर जाती हैं और वक्स के भीतर की वस्तु हस्ता-

मलकवत् स्पष्ट प्रतीत होने लगती है। ऐक्स-रे और रेडियम (जिसकी प्राप्ति का श्रेय मैडम क्यूरी नाम्नी एक फ्रांसीसी महिला को है) द्वारा चिकित्सा-शास्त्र में बहुत कुछ वांछनीय परिवर्तन हो गया है। मनुष्य को अपने शरीर के भीतर की बात जानने के लिए अनुमान का सहारा नहीं लेना पड़ता। अब तो 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्' की बात हो गई है। शल्य-चिकित्सा (Operation) अब अंधे की टटोल नहीं रही, वरन् बावन तोले पाव रत्ती की सी निश्चित बात हो गई है। रेडियम नासूरों की चिकित्सा में बहुत कुछ उपयोगी सिद्ध हुआ है।

विद्युत्-शक्ति ने तो एक प्रकार का कल्पवृक्ष स्वर्ग से लाकर मर्त्य-लोग में उपस्थित कर दिया है। एक बटन दबाया नहीं कि सारा नगर विद्युत् की विशुद्ध निर्मल ज्योत्स्ना में निमग्न हो गया। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की प्रार्थना कम से कम भौतिक रूप में तुरन्त ही स्वीकृत हो जाती है। इतना ही नहीं विद्युत्-शक्ति आप की चाकरनी बनकर आपके घर को परिष्कृत करती है। बटन दबाते ही हुक्म की तामील होने लगती है। जाड़े में गरम वायु और गरमियों में शीतल वायु का सेवन कर लीजिए। पवनदेव भी आप के इच्छानुवर्ती बन जाते हैं। पंख लगाकर उड़ने का चिरसंचित स्वप्न भी आज चरितार्थ होगया है। मनुष्य के पर लग गये हैं। जल, थल और आकाश में मनुष्य की समान गति हो गई है।

यह विद्युत् की ही शक्ति है जो आपकी बात को एक क्षण में दूर देश में पहुँचाकर 'मनोजवं मारुततुल्यं' वेगवाली उक्ति को चरितार्थ कर देती है। बेतार के तार और वायुयान का आविष्कार

प्रायः साथ ही साथ हुआ। हम गगन-विहारी होकर भी वायरलेस (Wireless) द्वारा भूतल से संबंध बनाये रखते हैं। घर के कमरे में बैठकर लंडन और पेरिस के गानों को सुन सकते हैं। केवल आमोद-प्रमोद ही नहीं वरन् राजनीतिक भाषण और विदेश के बाजार-भाव भी घर बैठे सुनने को मिल जाते हैं। समय आएगा कि हम दूर देशों के शब्द के अतिरिक्त दूरदेशस्थ वक्ताओं के चित्र भी देख सकेंगे। दूर-दर्शन (Television) अब स्वप्न की बात नहीं रही।

विद्युत् की अनन्त संभावनाएँ हैं और धीरे-धीरे ये संभावनाएँ वास्तविक होती जारही हैं। चल-चित्रों ने मनुष्य के आमोद-प्रमोद और सामाजिक जीवन में बहुत सहायता दी है। चित्रों में बोल डालने की कसर रह जाती थी, वह भी सवाक् चित्रों ने पूरी कर दी। चित्रपट आमोद-प्रमोद का ही साधन नहीं है, वरन् शिक्षा का भी साधन बन गया है। किन्तु खेद इतना ही है कि भारतवर्ष में इसका शिक्षा-संबंधी उपयोग बहुत कम किया जाता है।

दूरवीक्षण और अनुवीक्षण यंत्रों ने मनुष्य के हित-संपादन में बहुत कुछ योग दिया है। दूरवीक्षण यंत्र समुद्र-यात्राओं में बड़ा सहायक होता है। अनुवीक्षण यंत्र ने 'अणो अणीयान्' को 'महतो महीयान्' करके बतला दिया है और नाना प्रकार के कीटाणुओं को आलोक में लाकर चिकित्सा-शास्त्र में हलचल मचा दी है। मलेरिया-संबंधी कीटाणुओं के ज्ञान से ज्वर का रोग बहुत कुछ शासन में आगया है। इन कीटाणुओं द्वारा रोग के निदान में भी बहुत कुछ सुगमता हो गई है।

वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा केवल मनुष्य के सुख का ही संपादन नहीं हुआ है वरन् इन्होंने मनुष्य जाति के संगठन में भी बहुत कुछ योग दिया है। रेल और जहाज द्वारा देशी और प्रांतीय सीमाएँ विलीन हो गई हैं। व्यापार के लिए अनन्त सुविधाएँ उपस्थित हो रही हैं। मनुष्यमात्र की एक जाति बनने के स्वप्न देखे जा रहे हैं। डाक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की विश्व-भारती संसार के विद्वानों की ज्ञानसंबंधी सहकारिता का उद्योग करने में संलग्न है। आज भारतवर्ष में प्रांतीयता का भेद अपेक्षाकृत कम दिखाई देता है। हमारे विचार-क्षेत्र का विस्तार बढ़ गया है। हम अन्तर्जातीय समस्याओं में रुचि रखने लगे हैं। भौतिक सामग्री के विनिमय के साथ विचारों के विनिमय का भी अधिक सुयोग हो गया है। हमारे विद्यार्थी दूर देशों में विद्यार्जन कर अपने देश को उन्नत बनाने के प्रयत्न में हैं।

ये सब आविष्कार एक दार्शनिक महत्त्व भी रखते हैं। इन अविष्कारों से यह सिद्ध होता है कि संसार में नियम और शृंखला है। विज्ञान-संबंधी हमारी भविष्यवाणियाँ इसका प्रत्यक्ष-प्रमाण हैं। जैसा हम सोचते हैं वैसा ही प्रभाव में भी सिद्ध होता है। नियम हमारे लाभ के साधन बनाये जा सकते हैं। वे संसार में बुद्धि का विस्तार करते हैं और इस बात का भी संकेत देते हैं कि इस भौतिक संसार के पीछे एक चेतन नियंत्रण है, यदि ऐसा न होता तो इसमें हमारी बुद्धि की गति न होती। विज्ञान संसार को बुद्धि-गम्य प्रमाणित कर ईश्वर की सत्ता स्थापित करने में सहायक होता है।

यह संसार सुख-दुःखमय है। इसमें पाप-पुण्यों का द्वन्द्व है। प्रत्येक भलाई के साथ बुराई लगी हुई है। जो विज्ञान मनुष्य जाति के सुख का संपादक है वही मनुष्य जाति की हत्या में भी सहायक होता है। वायुयान के कारण अब दुर्ग भी दुर्गम नहीं रहे। जिन वायुयानों में बैठकर हम देवताओं की भाँति व्योम-विहार करते हैं वे ही ऊपर से पुष्पों के स्थान में गोले बरसा कर मनुष्य जाति के निरंकुश घात के साधन बनते हैं। जहाँ विज्ञान की शक्ति 'रक्षणाय' न रह कर 'परेषां परिपीडणाय' हो जाती है वहीं मनुष्य देवत्व को छोड़ कर राक्षस का रूप धारण कर लेता है। नाना प्रकार की विषैली गैसें ईजाद की जा रही हैं। जो दूरवीक्षण यन्त्र हम को आकाश के तारागणों की सैर कराकर विश्व की अनंतता का भाव अनुभूत कराते हैं वे ही घातक तोपों के सहकारी बनते हैं।

नवीन अविष्कारों ने मनुष्यों में आलस्य की मात्रा को भी बढ़ाया है और उसकी शारीरिक शक्ति को कम किया है, किन्तु यह सब विज्ञान का दुरुपयोग है। इसके लिए मनुष्य उत्तरदायी है, विज्ञान नहीं। जिस अग्नि से भोजन पकाया जाता है वही अग्नि मनुष्य के घर-बार को भस्म भी कर देती है। इससे अग्नि की उपयोगिता कम नहीं होती। यही हाल वैज्ञानिक आविष्कारों का है।

दूसरे प्रकार के आविष्कारों में विकासवाद और विद्युत्-अणु सम्बन्धी ज्ञान मुख्य है। इनको वास्तव में आविष्कार न कहकर खोज (Discovery) कहना अधिक सत्य होगा। विकासवाद जैसा बतलाया जाता है वैसा ठीक हो या न हो, परन्तु उसने ज्ञान

का दृष्टिकोण वदल दिया है। सव शास्त्रों में क्रमोन्नति देखी जाने लगी है। जानवरों का जाति-विधान विकास के सिद्धान्तों पर ही अवलंवित है। समाज और साहित्य सव ही में विकास-वाद के नियम लगाये जाते हैं। विशेषीकरण (Specialization) के साथ एकीकरण का सिद्धान्त सव कार्यक्षेत्रों में व्याप्त हो रहा है। विकास-वाद के सिद्धान्त हमको भेद में अभेद दिखलाते हैं। भेद में अभेद देखने को ही श्रीमद्भगवद्गीता में सात्विक ज्ञान कहा है। सारे विश्व में एक नियम और शृंखला की व्याप्ति घटाई जाती है। यह केवल विकासवाद का ही फल नहीं है वरन् सारे विज्ञान ने ज्ञान की एकाकारिता स्थापित करने में सहायता दी है। विद्युत्-अणुओं ने भौतिकवाद को भी वहुत धक्का पहुँचाया है। अव संसार भौतिक अणुओं से वना हुआ नहीं माना जाता, वरन् शक्ति के केन्द्रों का घात-प्रतिघात माना गया है। वीसवीं शताब्दी का विज्ञान हमको आध्यात्मिकता की ओर लेता जा रहा है। सर ओलीवर लॉज प्रभृति की प्रेतवाद संवन्धी गवेषणाएँ भी इस में वहुत सहायक हो रही हैं। आइनस्टाइन का सापेक्षवाद (relativity संवंधी सिद्धांत) विज्ञान में हलचल मचा रहा है। विज्ञान के ध्रुव निश्चय चल हो रहे हैं। ये सव वातें हमको वतला रही हैं कि संसार कोई भौतिक दृढ़ पदार्थ नहीं है। सारा संसार ज्ञान और शक्ति का ही विस्तार है।

समय आवेगा जव धर्म और विज्ञान में विरोध न रहेगा। विज्ञान के संपर्क से धर्म अपना अन्धविश्वास छोड़ देगा और कुछ अन्ध-विश्वास विज्ञान द्वारा सिद्ध भी हो जावेंगे, उसके फल-स्वरूप विज्ञान धर्म का आदर करेगा।

४४. प्रतिभा के क्षेत्र

चमत्कारपूर्ण बुद्धि को प्रतिभा कहते हैं। जहाँ पर बुद्धि पीटी हुई लकीर से हटकर किसी नवीन ओर जाती है वहीं प्रतिभा का चमत्कार दिखाई पड़ने लगता है। पागल भी पीटी हुई लकीर से बाहर जाता है, इसीलिए कवि और पागल की कल्पना को एक-सा कहा है। किन्तु पागल जो लकीर से हटता है, वह सिलसिला तोड़ कर हटता है, उसके पागलपन में नियम और क्रम नहीं रहता। कवि के पागलपन में चाहे संसार के नियमों का उल्लंघन हो, किन्तु उसमें अपने आन्तरिक नियम रहते हैं। पागल की उच्छृङ्खलता में संगति नहीं रहती, उसको बुद्धि का चमत्कार नहीं कह सकते। इसलिए पागल की प्रतिभावानों में गणना नहीं है। प्रतिभा में नवीनता होती है, किन्तु उसमें नियम, क्रम और प्रयोजन रहता है। जहाँ जहाँ बुद्धि का प्रयोग हो सकता है वहाँ वहाँ प्रतिभा के क्षेत्र हैं।

कविता

यद्यपि लोग कविता को हृदय का विषय बतलाते हैं तथापि उसमें बुद्धि का बहिष्कार नहीं है। कविता की प्रेरणा हृदय से होती है, उसी से उसे शक्ति मिलती है। कल्पना से वह बढ़ती है और बुद्धि द्वारा उस में नियम और शृंखला आती है। बुद्धि कल्पना को केवल संयमित ही नहीं रखती वरन् उसको दीप्त कर उसे कार्य-कारिणी बना देती है। कवि लोग सदा विचारकों और राजनीतिज्ञों के सहायक रहे हैं। उनकी वाणी में आकर्षण रहता है। वह शीघ्र ही जनता के हृदय में स्थान पा जाती है। कहा जाता है कि कविता का युग हो चुका। यह बात इसी अंश में ठीक है कि कविता से काम नहीं चल सकता। आज कल हम को जीवित रहने के लिए काव्य-गगन से उतर कर दृढ़ भूमि पर चलने की आवश्यकता रहती है। यह सब होते हुए भी सत्कवि की प्रतिभा के लिए अब भी गुंजाइश है। संसार को अपनी प्रतिभा से चकित करने तथा भारत का मस्तक गौरव से ऊँचा करने वाले महाकवि रवीन्द्रनाथ आजकल के ही कवि हैं। अब कविता का क्षेत्र भी विस्तृत हो गया है। अब केवल राजा-रानियों के सौंदर्य का ही वर्णन नहीं होता, वरन् भिक्षुकों और दलितों का सौंदर्य भी कवि-हृदय को आकर्षित करता है। प्रतिभा को काव्य-क्षेत्र में भव्य भवन बनाने के लिए और भी ज़मीन मिल गई है। किन्तु अब उसको सुदृढ़ बनाने की आवश्यकता है, जिससे कि वह आलोचना के झंझावात में गिर न पड़े।

कवि को लोगों की रुचि और प्रसन्नता का ध्यान रखते हुए लोकोपकारक बनना चाहिए। वह लट्ठमार बात न कहे। उसकी

उक्ति सत्य हो, सुन्दर हो और कल्याणमयी हो। इस प्रकार की वाणी द्वारा वह समाज का नेतृत्व भी कर सकता है।

विज्ञान

इस विषय में प्रतिभा की बड़ी आवश्यकता है। इस उन्नति के समय में प्रतिभा का कार्य जितना सुगम है उतना ही कठिन है। नये पथों पर जाने के साधन बढ़ गए हैं। इतिहास हमारा पथ-प्रदर्शक है। अपनी सूझ को कार्यरूप में परिणत करने के भी साधन बढ़ गए हैं, किन्तु उसी के साथ नये मार्गों की काफी खोज हो चुकी है। जो कुछ हम सोचते हैं पहले लोग सोच चुके हैं। यह सब होते हुए भी नवीन आविष्कारों के लिए गुंजाइश है, क्योंकि मनुष्य की आवश्यकताओं का अन्त नहीं और ज्ञान का भी अन्त नहीं। मालूम नहीं, भविष्य के गर्भ में कितने वैज्ञानिक चमत्कार छिपे हैं।

भारतवर्ष के लिए यह बड़ी लज्जा की बात है कि विज्ञान में वह पश्चिमीय देशों का बहुत ऋणी है। उसने लिया बहुत है, पर दिया नहीं के बराबर है। यद्यपि वैज्ञानिक गवेषणा के लिए भारत-वासियों के पास वे साधन नहीं जो यूरोप वालों के पास हैं, तथापि दृढ़ संकल्प और संलग्नता के आगे कोई भी द्वार बंद नहीं रहता।

यद्यपि ज्ञान का मूल्य है और प्रत्येक ज्ञान क्रियाशील है, तथापि वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए ऐसे आविष्कारों की आवश्यकता है जिनकी व्यावसायिक उपयोगिता हो और जिनसे देश की दरिद्रता और बेकारी दूर होने की संभावना हो। कृषि की अपेक्षा व्यवसाय की अधिकता आवश्यकता है। विज्ञान के साथ व्यापार और

व्यवसाय में भी प्रतिभा की आवश्यकता है। व्यापार और व्यवसाय में धन की पूँजी के साथ अकल की पूँजी भी चाहिए।

ज्ञान कोई अनुपयोगी नहीं। यद्यपि काव्य और दर्शनशास्त्र पेट नहीं भरते, तथापि इनका मनुष्य की क्रियाओं पर प्रभाव पड़ता है। जैसे हमारे विचार, ध्येय और लक्ष्य होते हैं, वैसी ही हमारी क्रियाएँ होती हैं। इसलिए दर्शनशास्त्र में भी प्रतिभा की आवश्यकता है। अपने पूर्वजों के विचारों के मनन, विवेचन, अध्ययन और अध्यापन द्वारा प्राचीन संस्कृति को जीवित रखना आवश्यक है

दर्शन शास्त्र

यद्यपि इतिहास में नवीनता की गुंजाइश नहीं, तथापि इतिहास में प्राचीन बातों को स्पष्टता देने, उनको आलोक में लाने, उनकी खोज करने और खोज में मिट्टी और धातु को और भूसा और अनाज को अलग करने के लिए एवं सांसारिक घटनाओं में कार्य-कारण-शृंखला स्थापित करने के लिए नवीन पद्धतियों की आवश्यकता है। प्रतिभावान के लिए इतिहास में भी बहुत कुछ काम है। यही हाल अर्थशास्त्र और राजनीति का है। इन शास्त्रों की केवल ज्ञान-वृद्धि ही की आवश्यकता नहीं, वरन् इनके ज्ञान को व्यवहार-योग्य और क्रियात्मक बनाने में प्रतिभा की बड़ी आवश्यकता है।

इतिहास

जिस प्रकार ज्ञान के लिए प्रतिभा आवश्यक है, उसी प्रकार क्रिया के लिए भी प्रतिभा आवश्यक है। क्रिया के जितने क्षेत्र हैं वे सब प्रतिभा के भी क्षेत्र हैं। खेल-कूद, व्यापार, दान, मान, खान, पान, रहन, सहन, बोलचाल, कचहरी, दफ्तर सभी में प्रतिभा की

आवश्यकता है। प्रतिभावान के सभी कार्य अलग चमकने लगते हैं; सभी में उसकी बुद्धि की झलक मिलती है। जिस काम को प्रतिभावान हाथ में लेता है उसे वह अलंकृत कर देता है। वह सब आगा-पीछा बिजली के से आलोक में एक साथ देख लेता है। प्रतिभावान के कार्यों में झंझट नहीं होती, उसकी प्रतिभा भूल-भुलैयों में एक नया मार्ग निकाल लेती है। प्रतिभावान की रहन-सहन और जीवन-चर्या भार-स्वरूप नहीं होती। बोल-चाल, खान-पान, रहन-सहन सभी में सुधार और अपनापन लाने की आवश्यकता है। इसीलिए वे प्रतिभा के क्षेत्र हैं।

प्रतिभा के क्षेत्र बहुत हैं, किन्तु उनमें प्रतिभा को लगाना और प्रतिभा के प्रकाश द्वारा उनको प्रदीप्त करना हमारा काम है। हमारी प्रतिभा हमारे अलस्य के कारण सुप्त है। आलस्य त्याग कर उसे जाग्रत करना हमारा परम कर्त्तव्य है।

---

४५. नागरिक के कर्त्तव्य

नगर में रहने वाले को नागरिक कहते हैं। नगर में रहने के कारण नागरिक पर कुछ उत्तरदायित्व आ जाता है, क्योंकि मनुष्य नगर में रहने के कारण एक जनसमुदाय के संबंध में आजाता है। यदि मनुष्य अकेला रहे तो सिवाय पेट भर लेने के उसका कोई कर्त्तव्य न होगा अथवा वह अपना समय ईश-भजन या प्रकृति के निरीक्षण में व्यतीत करेगा। परंतु समाज में रहने के साथ कर्त्तव्य बढ़ जाता है। जिस समाज में मनुष्य उत्पन्न हुआ है, उसकी उन्नति करना उसका परम कर्त्तव्य है।

मनुष्य की उत्पत्ति समाज से हुई है। समाज से भरण, पोषण, शिक्षा, आदि प्राप्त कर वह पुष्ट हुआ है। समाज ही में उसकी आजीविका है। अतः समाज की उन्नति में बाधक होना घोर कृतघ्नता ही नहीं वरन् आत्महत्या है। समाज की उन्नति के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं।

१. सफ़ाई और स्वास्थ्य
२. शिक्षा
३. सामाजिक संगठन और धर्म
४. आर्थिक उन्नति
५. रक्षा और शांति
६. राजनीतिक उन्नति

शरीर-रक्षा को शास्त्रों में पहला धर्म-साधन बतलाया है—
"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्"; यदि शरीर

सफ़ाई और स्वास्थ्य ही नहीं तो धर्म कहाँ ? मनुष्य-शरीर
धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का साधन माना

गया है। यदि वह स्वस्थ नहीं है तो सब साधन विफल हो जाते हैं। इसीलिए कहा गया है कि 'तन्दुरुस्ती हजार नियामत'। मनुष्य को स्वयं स्वस्थ रहना चाहिए और दूसरों के स्वस्थ रहने में सहायक होना चाहिए। यदि हमारे पड़ोसी स्वस्थ नहीं हैं और यदि हमारा जलवायु शुद्ध नहीं, तो हमारे स्वास्थ्य को भी आघात पहुँचता है। हमारे बिगड़ने से समाज बिगड़ता है और समाज के बिगड़ने से हम बिगड़ते हैं। इस प्रकार क्रिया-प्रतिक्रिया रूप से बिगाड़ का रोग बढ़ता रहता है और मनुष्य की हानि होती है। इसलिए मनुष्य सब से पहले अपने आप स्वस्थ रहने का उद्योग करे।

स्वस्थ रहने के लिए अपने शरीर, अपने वस्त्र और अपने घर की सफाई अत्यन्त आवश्यक है। अधिकतर रोग सफाई के अभाव से होते हैं। सफ़ाई रखने से केवल शरीर ही स्वस्थ नहीं रहता मन भी प्रसन्न रहता है, और आत्म-गौरव बढ़ता है। स्वयं अपने को

स्वच्छ कर अपने मुहल्ले तथा सारे नगर को स्वच्छ और आलोकित रखने में सहायक होना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है। जो लोग म्युनिसिपैलिटी के मेंबर नहीं हैं, वे मेंबरों पर ज़ोर डाल कर इस कार्य में सहायक हो सकते हैं। चुनाव में वे लोग व्यक्तिगत संबन्ध, आकर्षणों और प्रलोभनों को छोड़कर सच्चे कार्यकर्त्ताओं को ही अपना मत (Vote) दें। अस्पतालों के सुचारु-रूप से चलाने और गरीबों को यथावत् दवाई पहुँचाने में सहायक होना भी परम वांछनीय है।

शिक्षा

शिक्षा के लिए जितना लिखा जावे उतना ही थोड़ा है। शिक्षा से मनुष्य मनुष्य बनता है। प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह इस बात को देखे कि उसके बालकों, और नगर वा मुहल्ले के अन्य बालक-बालिकाओं की ठीक-ठीक शिक्षा होती है या नहीं। यदि नहीं होती, तो किस कारण ? यदि पाठशालाओं में सुधार की आवश्यकता हो तो उस सुधार के लिए यत्न करे और यदि लोगों की शिक्षा में अरुचि हो तो उनको शिक्षा के लाभ बतलाने और उनके बालकों के लिए शिक्षा सुलभ करवाने का प्रयत्न करे।

सामाजिक संगठन और धर्म

सामाजिक उन्नति सहकारिता और संगठन पर निर्भर है। प्रत्येक नागरिक को चाहिए कि वह स्वयं अपने सद्व्यवहार से लोगों में प्रेम का व्यवहार बढ़ावे, और दूसरों से घृणा-भाव को कम करे। लोग वर्णाश्रम-धर्म का पालन करें, किन्तु उनका धर्म दूसरों को अपमानित न करे, कोई अपमानित होकर समाज में नहीं रहना

चाहता। धर्म को सेवा का साधन बनाकर उसके द्वारा परस्पर प्रीति-भाव और भ्रातृ-भाव बढ़ाना चाहिए। नागरिक को चाहिए कि वह सांप्रदायिकता और मत-भेद से उठने वाले झगड़ों को कम कर समाज को अंग-भंग होने से बचावे। स्वयं दूसरों के मत का आदर कर लोगों में उदारता के भावों की उत्पत्ति करे। परस्पर उदारता और आदान-प्रदान से ही सामाजिक संगठन पुष्ट होता है।

आर्थिक उन्नति

जिस प्रकार व्यक्ति का धन-हीन जीवन निरर्थक है वैसे ही समाज का। जो नागरिक सम्यक् आजीविका द्वारा धनोपार्जन नहीं करता वह समाज का घातक है। नागरिक को चाहिए कि स्वयं बेकार न हो और दूसरों को बेकारी से बचावे। जो बेकार हों उनके लिए बेकारी दूर करने के साधन उपस्थित करे। नगर में उद्योग-धंधों की वृद्धि में सहायता दे। जो लोग विद्या या अनुभव के अभाव से अपना व्यवसाय या व्यापार नहीं बढ़ा सकते उनको अपनी विद्या और अनुभव से सहायता करे।

रक्षा और शान्ति

यद्यपि रक्षा और शान्ति पुलिस और मैजिस्ट्रेटों का कार्य है, तथापि उसमें नागरिकों का सहयोग आवश्यक है। प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह वास्तविक अपराधियों का पता लगाने में सहायता दे और इसी प्रकार बेगुनाहों को पुलिस के अत्याचार से बचाने का उद्योग करे। न्याय में व्यक्तिगत संबन्धों और प्रलोभनों को स्थान न दे। देश की रक्षा के लिए फौजी स्वयं-सेवकों अथवा सेवा-समितियों में काम करे। जो कुछ काम करे—चाहे मेंबरी हो, चाहे आनरेरी

मैजिस्ट्रेटी हो और चाहे कलक्टरी हो—सब सेवा-भाव से करे, केवल आत्म-गौरव बढ़ाने के लिए नहीं। नागरिक को चाहिए कि समाज को केवल चोर डाकुओं से ही रक्षित न रक्खे, लेकिन उन लोगों से भी रक्षित रक्खे जो सभ्यता के आवरण में लोगों को ठगते हैं। नागरिक को यह भी चाहिए कि आपस के लड़ाई-झगड़े के कारणों को उपस्थित न होने दे। यदि नगर में शान्ति-भंग होती है तो दुर्जन तो आपस में लड़ते हैं और सज्जनों की हानि होती है। जो व्यक्ति लड़ाई के कारण उपस्थित होते हुए देख कर उपेक्षा-भाव से मौन रहता है, वह उस लड़ाई में सहायक होता है। हाँ, विरोध के शमन के लिए भी यह ध्यान रखना चाहिए कि उसके लिए ऐसे उपाय काम में न लाये जावें, जिनसे विरोध बढ़े, वरन् शान्ति और प्रेम के साथ शान्ति स्थापित करनी चाहिए।

राजनीतिक उन्नति

राजनीति के सम्बन्ध में बड़ी सावधानी और धैर्य की आवश्यकता है। प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य नहीं है कि वह नेता बने। जहाँ बहुत से नेता होते हैं वहाँ विनाश के साधन उपस्थित हो जाते हैं। धैर्य, दृढ़ता और निश्चय के साथ किया हुआ कार्य सफल होता है। सत्य का अवलंब ले कर निर्भयता से कार्य करना चाहिए। जहाँ पर मताधिकार का प्रश्न हो, जहाँ उसकी राय ली जावे, वह स्वतंत्रता-पूर्वक दे, उसमें किसी का पक्षपात न करे। धन और मान के प्रलोभनों से विचलित न हो। न बन्धुत्व, जाति और साम्प्रदायिकता का खयाल करे। राजनीतिक उन्नति के लिए वह इस बात का ध्यान रक्खे कि वही राजनीतिक व्यवस्था उत्तम है जिसमें समाज में शान्ति और

साम्य स्थापित रहे; सब को समान अधिकार रहें; कोई अपनी जाति वा मत के कारण समाज के किसी लाभ से वंचित न रहे; सब को समान अवसर मिलें; उचित कार्य करने में किसी की स्वतंत्रता में बाधा न आवे; सबका—चाहे, वह पदाधिकारी हो और चाहे साधारण पुरुष—मान और गौरव रहे; लोग भूखे न मरें, किसानों का भार हलका हो; बेकारों की बेकारी कम हो; संपत्ति की रक्षा हो, धर्म के शान्ति-पूर्वक आचरण में बाधा न पड़े; देशवासी देश की उन्नति के साधनों का स्वयं निर्णय कर सकें; और देश के सुचारु रूप से शासन का और उसकी रक्षा का स्वयं अपने ऊपर भार लेने की योग्यता प्राप्त कर सकें।

४६. ग्राम-सुधार

गावों और ग्रामीणों की सेवा का कार्य
परम पिता परमात्मा का कार्य है।

—महामना मालवीय जी

भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है। इस देश के प्राय: पचहत्तर प्रतिशत निवासियों का जीवन खेती पर अवलंबित है। ये लोग तो गावों में रहते ही हैं; इनके अतिरिक्त इनके दैनिक जीवन में सहायता देने वाले बढ़ई, लुहार, चमार आदि मज़दूरी पेशा लोग तथा इन पर शासन करने वाले ज़िमींदार और कुछ बनिये तथा ब्राह्मण भी इन्हीं गावों की जन-संख्या को बढ़ाते हैं। गाँव शहरों से प्राचीन-तर हैं। कृषि-कार्य-निपुण आर्यों के प्रथम उपनिवेश ग्राम ही बने होंगे। कृषि की प्राण-स्वरूपा वर्षा से सम्बन्ध रखने के कारण ही इन्द्रदेव सुरराज कहलाए होंगे। ग्रामों से ही भारतीय सभ्यता का उदय हुआ है। भारत-माता के गौरव-गान में जो 'शस्य-श्यामला' तथा 'देश-विदेशे बितरिछो अन्न' कहा जाता है, वह ग्रामों की ही बदौलत है। ग्राम-निवासी ही हमारे अन्नदाता हैं।

झोंपड़ियों में रहकर महलों के स्वप्न देखने वाली बात चाहे हास्यास्पद समझी जाय, परन्तु यह ध्रुव सत्य है कि अलकापुरी की

स्पर्धा करने वाले मणि-माणिक्य-मंडित महलों की महिमा और गरिमा झोंपड़ियों की ही आधार-शिला पर स्थित है। धूप, मेह और शीतोष्ण की परवाह न करने वाले किसानों के श्रम-विन्दुओं से ही वैभव की दीवारें बनती हैं। ग्राम-महोदधि के दैनिक मंथन से ही भगवती लक्ष्मी का जन्म होता है, जिसको शासक-वर्ग वरण कर अपना राजकोष अलंकृत करते हैं। ग्राम ही सच्चे देव-मन्दिर है, क्योंकि कवि-सम्राट् रवि बाबू के शब्दों में हम कह सकते हैं कि "यदि तुझे ईश्वर के दर्शन करने हैं तो वहाँ चल, जहाँ किसान जेठ की दोपहरी में हल जोतकर चोटी का पसीना एड़ी तक वहा रहा है।"

ग्रामों की गौरव-महिमा के चाहे जितने गीत गाये जायँ, ग्राम-वासी हमारे पालक-पोषक होने के नाते चाहे विष्णु-पद पर ही क्यों न प्रतिष्ठित कर दिये जाँय, किन्तु उनकी दशा ऐसी नहीं जिसकी कि कोई भी स्पर्धा करने की इच्छा रक्खे। ग्रामवासी दरिद्रता-दानव के चंगुल में पड़कर अस्थिपंजरावशेष होते जा रहे हैं। जिस अन्न का वे कठिन परिश्रम के साथ उत्पादन करते हैं उसका अधि-कांश भाग कर और कर्ज चुकाने में उठ जाता है। वे सदा अति-वृष्टि, अनावृष्टि तथा शलभ-शुक-मूषकादि ईतियों के भय से पनपने नहीं पाते। उनके लिए सदा एक न एक आपत्ति मुँह वाये खड़ी रहती है। गाँव कीचड़ और गंदगी के केन्द्र वने रहते हैं और उसके फलस्वरूप उनके निवासी रोग और मृत्यु के शिकार होते हैं। भारतवर्ष में और देशों की अपेक्षा आयु की औसत बहुत कम है। यहाँ पर पुरुषों की आयु की औसत २६·५६ वर्ष और

स्त्रियों की आयु की औसत २३·३१ वर्ष है। इसके विपरीत इंगलिस्तान के पुरुषों की आयु की औसत ४६·०४ वर्ष और स्त्रियों की आयु औसत ५०·०२ वर्ष है। गाँव में रोग चाहे अधिक न हों किंतु उपचार का उचित प्रबंध न होने के कारण रोग भयंकर रूप धारण कर लेते हैं।

बेचारा किसान आपादमस्तक ऋण-मग्न रहने के कारण अपने घर के घी-दूध का भी पूरा लाभ नहीं उठा पाता। गोचर-भूमि की न्यूनता के कारण बेचारा अधिक जानवर नहीं रख सकता, और जो दो एक रखता भी है, पैसे की चाह में उनका सारा दूध साइकलों पर लद कर शहरों में पहुँच जाता है। जब शरीर निर्बल होता है तब उसमें रोग का मुकाबिला करने की शक्ति नहीं रहती। उस का पुरुषार्थ भी घट जाता है। किसान अविद्या-ग्रस्त होने के कारण न तो अपना हिसाब ही ठीक रख सकता है और न पटवारी और ज़िमीदारों की चाल को समझ सकता है। भोला किसान चाहे जिस कागज़ पर अँगूठा लगा देता है। सोते-जागते दिन-दूने रात-चौगुने बढ़ने वाले व्याज से पुष्ट होकर ऋण उसकी सारी संपत्ति का शोषण कर लेता है। बीज के लिए अन्न घर में न रहने से बीज उधार लेना पड़ता है। वह अपने अज्ञान के कारण सहकारी-समितियों और तक़ावी का भी पूरा लाभ नहीं उठाने पाता। यदि महाजन से बचता है तो छोटे-छोटे पदाधिकारियों के लालच का शिकार बनता है। भेड़ जहाँ जाती है वहीं मुँडती है। दूसरों का अन्नदाता स्वयं भूखों मरता है। इससे बढ़कर और क्या विधि की विडंबना हो सकती है!

ग्रामों का ऋण स्वीकार करते हुए सरकार तथा लोक-सेवी देश-भक्तों का ध्यान ग्रामों की दशा सुधारने की ओर गया है। कृषि-संबंधी शाही कमीशन तथा कृषि-विभाग इस बात के द्योतक हैं कि सरकार ने कृषकों की दशा सुधारना अपना कर्तव्य समझा है। प्राचीन काल में भी राजा जनक आदि प्रजा-हितैषी शासक स्वयं हल लेकर खेत में जाते थे। ये उपाख्यान किसान और प्रजा के घनिष्ट संबंध के परिचायक हैं।

प्रत्येक प्रांत में किसी न किसी रूप में ग्रामोत्थान का कार्य सरकार की ओर से और कहीं-कहीं जनता के उद्योग से जारी है। पंजाब में गुड़गाँवाँ के डिप्टी कमिश्नर मिस्टर ब्रेन का नाम कृतज्ञता से लिया जाता है। उन्होंने सन् १६२०-२८ तक सरकार की सारी शक्तियों को केन्द्रस्थ कर ग्राम-सुधार का कार्य-क्रम जारी रक्खा। उन्होंने अपने समय में छः फुट गहरे चालीस हज़ार खाद के गढ़े खुदवाये। जिलों में कम्युनिटी कौंसिलें और सूबे में कम्युनिटी बोर्ड कायम हुआ। ग्राम-सुधार शिक्षा-केन्द्र भी स्थापित हुए। संयुक्त-प्रांत में भी ग्रामोत्थानसमिति है। इसके द्वारा बहुत कुछ लाभदायक प्रकाशन का कार्य हुआ है। मेजिक लालटेनों, सिनेमा और रेडियो द्वारा स्वास्थ्यप्रद जीवन तथा देश के उद्योग-धन्धों और कृषि संबंधी उन्नति के साधनों पर प्रकाश डाला जाता है। काँग्रेसी मंत्रिमंडलों ने इस कार्य को बड़े जोरों से आरंभ किया था। अब भी जिले-जिले में ऑरगेनाइज़र्स द्वारा यह काम किया जा रहा है। इन ऑरगेनाइज़र्स के भिन्न-भिन्न कमिश्नरियों में शिक्षा-कैंप भी खोले जाते हैं। जिले-जिले में ग्रामसुधार कमेटियाँ बनी हैं जिनमें सरकारी और गैर सरकारी सहयोग से बहुत

उपयोगी कार्य हो रहा है। ब्रिटिशभारत तथा हैदराबाद, ट्रावनकोर, ग्वालियर, जयपुर आदि रियासतों में भी यह कार्य हो रहा है। बंगाल में सरकारी उद्योग के अतिरिक्त शांति-निकेतन द्वारा भी ग्रामोत्थान कार्य हो रहा है । युक्त-प्रांत के बहुत से स्कूलों और कालेजों ने भी यह काम हाथ में लिया है।

ग्रामोत्थान कार्य में जनता और सरकार दोनों के ही सहयोग की आवश्यकता है। ग्रामोत्थान का कार्य, चाहे सरकार द्वारा हो और चाहे प्राइवेट उद्योग से हो, तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है।

(१) सफाई और स्वास्थ्य संबंधी ।

(२) अर्थिक, जिसमें कृषि और पशुओं की उन्नति, घरेलू उद्योग-धंधे और ऋणभार हलका करने के कार्य सम्मिलित हैं।

(३) शिक्षा-संबंधी ।

अब तीनों प्रकार के कार्यों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जाता है।

(१) सफाई और स्वास्थ्य—यद्यपि धनाभाव के कारण गाँव में शहर की सी सफाई नहीं रक्खी जा सकती तथापि उद्योग से बहुत कुछ कार्य किया जा सकता है। घरों के पास के गढ़े मिट्टी से भरे जा सकते हैं तालाबों और पोखरों पर मिट्टी का तेल डालकर मच्छड़ों का पैदा हो होना या बढ़ना बंद करने में विशेष कठिनाई न होगी। मैले के दबाने के लिए खाइयाँ खुदवाई जा सकती हैं। गोबर और कूड़ा भी गढ़ों में दबाया जा सकता है । संयुक्तप्रांत की गोरखपुर कमिश्नरी में छः महीने में ७६७ गढ़े भरवाये गये; २००० से ऊपर खाद के गढ़े खुदवाये गये, ६००० से अधिक घूरे साफ़ किए गये ।

गाँव की सफाई के लिए ऐसे कार्य बड़े उपयोगी हैं। कुओं का पानी पोटाशियम परमैंगनेट यानी लाल दवा से शुद्ध कराया जा सकता है। मकान अधिक हवादार बनाये जा सकते हैं। ऐसे बहुत से काम हैं, जिनके करने से थोड़े पैसे में बहुत-कुछ लाभ होने की संभावना रहती है। गाँव के लोगों को चेचक और कालरा के टीकों के लिए तैयार कराना, मलेरिया के दिनों में कुनीन का बाँटना आदि ऐसे काम हैं जिनमें जनता सरकार का हाथ बँटा सकती है। यथा-संभव प्रत्येक तीन या चार गाँव के वर्ग के लिए एक छोटा अस्पताल खुलवाना चाहिए और आवश्यक दवाइयाँ तो प्रत्येक गाँव के ज़िमीदार या पटवारी के पास रक्खी जाना वांछनीय है। गाँव की दाइयों को प्रसूति काम में शिक्षा दिलाना एक आवश्यक कार्य है। गाँव वालों को शरीर और कपड़ों की सफाई के संबंध में मेजिक-लैंटर्न वा साधारण व्याख्यानों द्वारा शिक्षा देना बहुत लाभ-प्रद सिद्ध होगा।

(२) आर्थिक—यह समस्या बहुत बड़ी है। परंतु सदुद्योग के आगे कोई कठिनाई नहीं रह जाती। कृषि-सुधार के लिए बहुत सी वस्तुएँ आवश्यक हैं। उन में से कुछ इस प्रकार हैं। उत्तम-भूमि, क़िसान को उस भूमि से वेदखल होने का भय न रहना, उत्तम खाद, उत्तम बीज और सिंचाई का सुभीता। इन बातों में कुछ का सरकार से प्रबंध कराकर और कुछ के लिए अच्छी सलाह देकर किसानों को कृषि-कार्य में द्विगुणित उत्साह के साथ प्रवृत्त किया जा सकता है। इस के अतिरिक्त प्रत्येक लोक-सेवी का भी यह कर्तव्य है कि वह

किसान को अपनी उपज उपयुक्त बाज़ार में अच्छे भाव से बेचने में सहायता दे।

पशुधन की उन्नति के लिए सरकार को गोचर भूमियों का प्रबन्ध करना चाहिए। इसके अतिरिक्त अच्छी नसल के साँडों का भी प्रबंध होना आवश्यक है। जहाँ तक हो पशु-धन बाहर न जाने दिया जाय। पशुओं को बीमारियों से सुरक्षित रख कर उनको मरने से बचाया जाय। ग्राम-वासियों को बतलाया जाय कि पशु-सेवा एक धर्म है।

यद्यपि किसान लोग बड़े मेहनती होते हैं तथापि वे सारे वर्ष कृषि-कार्य में नहीं लगे रहते। किसान को साल में छः महीने फ़ुरसत रहती है। यदि वह अपनी फ़ुरसत के समय का सदुपयोग करे तो उसकी आर्थिक समस्या बहुत कुछ हल हो जाय। बहुत से ऐसे धंधे हैं जो बिना अधिक पूँजी लगाये सफलता-पूर्वक किये जा सकते हैं। रस्सी बटना, डलिया बनाना, शहद पैदा करना, रुई ओटना, चरखा कातना, कपड़ा बुनना, लाख पैदा करना, गुड़ बनाना, साबुन बनाना, ईंटें पाथना, इत्यादि कामों को करके किसान अपनी फ़ुरसत के समय का सदुपयोग कर सकता है।

कर्ज़ की समस्या सहयोग समितियों द्वारा बहुत-कुछ हल की जा सकती है। किंतु सहयोग समितियों से लाभ उठाना सहज कार्य नहीं। उसके लिए भी शिक्षा की आवश्यकता है। सहयोग-समितियों में भी बहुत कुछ कागज़ी घोड़ों का काम रहता है। भेंट-पूजा भी चलती है। सुधारकों का काम है कि वे किसान को इन से पूरा-पूरा लाभ उठाने में सहायता दें और यदि किसान का हिसाब बनिये से हो तो वे देखें कि बनिया किसान को लूटता तो नहीं है।

ग्रामीणों का बहुत सा धन मुकदमे-बाजी में भी व्यर्थ नष्ट होता है। इस के लिए ग्राम-पंचायतों को खुलवाना तथा उनको सफल चलवाने का उद्योग करना ग्राम-सुधार का आवश्यक अंग है।

(३) शिक्षा संबंधी—शिक्षा का प्रश्न बड़े महत्त्व का है। ग्रामीण लोगों को उच्च शिक्षा की आवश्यकता नहीं; परंतु उन के लिए प्रारंभिक शिक्षा का होना विशेष लाभदायक होगा। ऐसे स्कूल खोले जाने चाहिए जिनमें कि बच्चों को दिन में तथा प्रौढों को रात में शिक्षा दी जाय। प्रौढों की शिक्षा का समय ऐसा रहे कि उनके दैनिक कार्य में बाधा न पड़े। यह शिक्षा बहुत कुछ व्यावहारिक बनाई जा सकती है, इसमें मैजिक-लालटेन और सिनेमा से भी काम लिया जा सकता है। साधारण हिसाब किताब के अतिरिक्त ग्रामवासियों को उनके नित्य के व्यवहार की वस्तुओं के संबंध में शिक्षा देना अधिक श्रेयस्कर होगा। उनके लिए जो कुछ लिखा जाय सरल भाषा में लिखा जाय। गाँवों में पुस्तकालयों और वाचनालयों के खुलवाने से भी जनता की जानकारी बढ़ सकती है।

ग्रामीण लोगों के सामने सबसे बड़ा प्रश्न यह रहता है कि यदि वे अपने बच्चों को शिक्षा प्राप्त कराएँ तो उनकी मज़दूरी और खेती-बाड़ी में हानि न हो। वर्धा की शिक्षा-संबंधी योजना में इस ओर ध्यान दिया गया है। शिक्षा और उदर-पूर्ति का साथ-साथ होना कठिन समस्या है, किंतु हमको इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि उनकी शिक्षा ऐसी हो जिससे उनकी उदर-पूर्ति में सहायता मिले। खेती के साथ उनको कुछ ऐसे उपयोगी

धंधे सिखाये जायँ जिन से वे अपने अवकाश के समय में कुछ धन उपार्जन कर सकें । किसान का सारा समय उसकी खेती-बाड़ी में नहीं जाता। थोड़े बहुत अन्तर के साथ उसको प्राय छः महीने का अवकाश मिलता है। इस समय को वह किसी उपयोगी काम में लगा सकता है। संक्षेप में ग्रामीणों की शिक्षा में विदग्धता की अपेक्षा उपयोगिता का अधिक ध्यान रखना चाहिए।

---

४७. बेकारी

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका-विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहै एक एकन सों "कहाँ जाइ का करी?"

समाज की जो दशा कवि-कुल-चूड़ामणि तुलसीदास जी के समय थी, आजकल उससे भी गई-बीती है। यद्यपि बेकारी की व्याधि शिक्षित-अशिक्षित दोनों में ही फैली हुई है, तथापि शिक्षितों की बेकारी बड़ा भयंकर रूप धारण कर रही है। इसके दो कारण हैं; एक तो वे मिथ्या गौरव-वश छोटे-मोटे काम करने को तैयार नहीं होते, दूसरे उन में कष्ट-सहिष्णुता भी कम है। शिक्षितों ने नौकरी को ही शिक्षा का चरम लक्ष्य मान रक्खा है। यदि कुछ अधिक स्वतन्त्रता की ओर प्रवृत्ति हुई तो वकालत की ओर दौड़े। वकालत का पेशा भारतीय रेल के तीसरे दर्जे की भाँति आवश्यकता से अधिक भरा रहता है। वकील अवकाश कम प्राप्त करते हैं और नये वकीलों की फसल सैकड़ों की संख्या में तैयार होती है। उनके लिए न्यायालयों के विस्तृत प्रांगणों में विच्छिन्न-छाया-शील वृक्षा-वली के नीचे गप्पें लड़ाने या अखबार पढ़ने के अतिरिक्त और कोई काम नहीं रह जाता और जब वे अर्थाभाव के कारण वकालत की टीप-टाप कायम रखने में असमर्थ हो जाते हैं, तब वे नौकरी खोजने वालों के दल की वृद्धि करने लगते हैं अथवा किसी बीमा कंपनी के

एजेंट बन जाते हैं। नौकरियों के संबंध में एक अनार सौ बीमार की लोकोक्ति चरितार्थ हो रही है। साधारण सी जगह खाली होते ही सैकड़ों नहीं हज़ारों की संख्या में अर्जियाँ पहुँचती हैं। इनमें कुछ अवश्य ऐसे लोगों की होती हैं जो नौकर होते हुए भी अच्छी जगह पाने की इच्छा से अर्जी भेजते हैं; किंतु अधिकांश बेरोजगार लोगों की होती हैं। पोस्ट विभाग का अवश्य भला होता है, किन्तु चुनाव करनेवालों की जान सिफारिशें सुनते-सुनते आफत में आ जाती है और एक भाग्यवान को छोड़कर शेष सब लोगों के हृदय में निराशा का अंधकार निविड़तर हो जाता है। बहुत से दफ्तरों में बेकारों को दूर से भगा देने के लिए 'नो वेकेंसी' अर्थात् 'कोई जगह खाली नहीं' की हृदय-विदारक सूचना टँगी रहती है।

शिक्षितों में शिक्षा का खर्च धन-कुवेरों के परिमाण से चलता है। विद्यार्थीगण बड़ी-बड़ी आशा लेकर जीवन-क्षेत्र में प्रवेश करते हैं, पर वहाँ पहुँच कर उनको नैराश्य का सामना करना पड़ता है; 'चाहिए अमी जुरै न छाछी' की बात हो जाती है। बड़े वेतन की नौकरी इने-गिने शैल-शिखर की सी उच्चतम योग्यता रखने वालों के लिए सुरक्षित रहती है और छोटे वेतन की नौकरियाँ यदि दर-दर भटकने के पश्चात् मिलती भी हैं तो वे हमारे फैशन के पुजारी बाबू लोगों को पसंद नहीं आतीं। फल यह होता है कि नौकरियों की मृगतृष्णा-जल-पूरित सरिता में नैराश्य-रूपी मकर के दर्शन होते हैं, वह तुलसीदास जी के शब्दों में 'बदनहीन ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं'।

अशिक्षितों में भी बेकारी की दशा कुछ कम भयंकर नहीं है।

अन्तर केवल इतना ही है कि उन में सहनशीलता कुछ अधिक है। वे लोग भिक्षावृत्ति धारण करने में भी लज्जित नहीं होते। कल-कारखानों के बढ़ जाने से ऐसे लोगों को तो काम मिल जाता है, जो घर-वार छोड़कर काम करने के लिए अपने गाँव या शहर के बाहर जा सकते हैं; किंतु जो लोग किसी कारणवश घर या ग्राम से बाहर नहीं जा सकते उनके लिए हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने के सिवाय और कुछ नहीं रह जाता। बेचारे किसान को भी साल में प्राय: छ: महीना बेकार ही रहना पड़ता है; और यदि फसल खराब हो जाय तो उसकी बेकारी भी बढ़ती है और आमदनी घटती है। बेकारी के कारण ही चोरी, डकैती और ठग-विद्या बढ़ गई है। बहुत से लोग ऐसे अनुत्पादक कार्य करने लगते हैं जिनसे मनोरंजन के अतिरिक्त समाज का कोई लाभ नहीं।

इन सब बातों में सरकार का ही दोष नहीं है। भारतीयों की सामाजिक व्यवस्था तथा साहस-शून्य मनोवृत्ति भी बेकारी के लिए उत्तरदायिनी है। हमारी वर्ण-व्यवस्था हमारे हर प्रकार के पेशे स्वीकार करने में बाधक होती है। ठाकुर का लड़का न तो फौज में भरती होकर स्वधर्मोचित काम करेगा और न बनिये की दुकान ही करेगा। कायस्थ लोग नौकरी ही करेंगे, लुहार या बढ़ई का काम नहीं। सम्मिलित कुटुंब की प्रथा बेकारी को उग्र रूप धारण करने से बचाये अवश्य रखती है, किन्तु वह बेकारी को उत्तेजना भी बहुत देती है और परिवार के मुखिया की मृत्यु के पश्चात् शेष लोगों की बुरी अवस्था हो जाती है। भारत का अनियमित दान-पुण्य भी अधिकांश लोगों को उत्पादक कार्यों की ओर जाने से रोकता है।

इसके अतिरिक्त हमारे विद्यार्थियों में मेहनत, मज़दूरी और हाथ से काम करने की गौरव-भावना नहीं आई है। लोग भूखों मरना पसंद करते हैं, दूसरों पर निर्भर रहना भी बुरा नहीं समझते, किन्तु मिथ्या गौरववश हाथ से काम नहीं करते। बहुत से लोग कौटुंबिक बंधनों के कारण घर से बाहर नहीं जाते।

ऐसी दयनीय अवस्था का क्या कारण है ? कुछ कारण तो राजनीतिक और अर्थ-शास्त्र-मूलक हैं और कुछ कारण लोगों की आलस्य-पूर्ण मनोवृत्ति से सम्बन्ध रखते हैं। राजनीतिक और अर्थशास्त्रमूलक कारणों में दैवाधीन कृषि पर अधिक निर्भरता, किसानों की बढ़ती हुई कर्ज़दारी, व्यवसायों की कमी और केन्द्रीय नियंत्रण के अभाव के कारण उनमें अव्यवस्था (कहीं कोई व्यवसाय आवश्यकता से अधिक बढ़ा हुआ है और कहीं अत्यन्त हीन दशा में है), गरीबी के कारण उपयोगी वस्तुओं को खरीदने की शक्ति का अभाव, गाँवों में बीमारियों के प्रकोप होते हुए भी शहर के बहुत से डाक्टरों का बेकार बैठा रहना, उचित शिक्षा का न होना, आदि हैं।

हमारी शिक्षा अधिक साहित्यिक और निरुद्देश्य होती है। विशेष प्रकार की शिक्षा पाये हुए लोग, जैसे टाइपराइटिंग जानने वाले, शार्टहैंड जानने वाले, ट्रेनिंग प्राप्त शिक्षक, इंजीनियर, कृषि-विद्या के ग्रेज्यूएट, एकाउंटेंसी में प्रवीण, मोटर शिल्पी, रेडियो आदि के सुधारने वाले कम बेकार रहते हैं। असली खराबी है कोरे मैट्रिक और कोरे ग्रेज्यूएटों की। उन की संख्या भी असंख्य है। औद्योगिक शिक्षा के होते हुए भी देश में पर्याप्त औद्योगिक